जीवन का तट

उत्तर भारत की नदियाँ एवं निषाद जीवन

सम्पादक
रमाशंकर सिंह

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान
राष्ट्रपति निवास, शिमला

© भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला
© Indian Institute of Advanced Study, Shimla

प्रथम संस्करण, 2025
First Edition, 2025

सर्वाधिकार सुरक्षित।
प्रकाशक की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में या माध्यम से पुस्तक का कोई भी भाग पुनः प्रस्तुत या प्रसारित नहीं किया जा सकता है।
All rights reserved.
No part of book may be reproduced or transmitted, in any form or by any means, without the written permission of the publisher.

ISBN: 978-81-978281-9-5

आवरण चित्र : राहुल सिंह

मूल्य | Price : 550/-

सचिव
भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान
राष्ट्रपति निवास, शिमला–171005 द्वारा प्रकाशित

Published by
The Secretary
Indian Institute of Advanced Study
Rashtrapati Nivas, Shimla-171005

मुद्रक : एक्सेल प्रिंटिंग यूनिवर्स, नई दिल्ली
Printed at Excel Printing Universe, New Delhi

टाइपसेट : ऊषा कश्यप, नई दिल्ली
Typeset by : Usha Kashyap, New Delhi

आभार

दिनांक 22 से 24 जुलाई 2019 के बीच भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में एक राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया था। इसका शीर्षक था : ''समाज, संस्कृति एवं जीविका की निर्मिति : उत्तर भारत में नदियों और निषादों का सहजीवी सम्बन्ध (Society, Culture and the Making of Livelihood : The Symbiosis of Rivers and Nishads in Northern India)।'' यह किताब उसी संगोष्ठी में प्रस्तुत किए गये परचों पर आधारित है।

मैं भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला का आभारी हूँ जिसने इस संगोष्ठी की मेज़बानी की। मैं संस्थान के शासी परिषद के तत्कालीन अध्यक्ष प्रो. कपिल कपूर और निदेशक प्रो. मकरंद परांजपे का विशेष तौर पर आभारी हूँ। संस्थान के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री प्रेमचंद और उनके सहयोगियों का धन्यवाद। संस्थान के तत्कालीन सचिव कर्नल विजय तिवारी और अकादमिक संसाधन अधिकारी सुश्री रितिका शर्मा का धन्यवाद।

जुलाई 2019 में संस्थान में उपस्थित उन सभी विद्वानों का विशेष आभार जिन्होंने अपनी व्यस्त दिनचर्या से समय निकालकर तीन दिन लगातार इस संगोष्ठी के विभिन्न सत्रों की अध्यक्षता की, उसमें प्रतिभाग किया और अपने बौद्धिक हस्तक्षेप से इसे समृद्ध किया। खुशबू का धन्यवाद। इस किताब के मुखपृष्ठ पर हिंदी के प्रतिष्ठित आलोचक राहुल सिंह द्वारा ली गई तस्वीर का प्रयोग किया गया है, इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। इस किताब को आने में देरी हुई, उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

–रमाशंकर सिंह

अनुक्रमणिका

आभार

1. नदी, समुदाय एवं संस्कृति –रमाशंकर सिंह 7

खंड एक : नदी, स्मृति और सार्वजनिक दायरा

2. निषाद समुदाय का स्मृतिलोक और नदी–बद्री नारायण 29

3. नदी स्त्रीत्व और उत्सवधर्मिता का अंत:सम्बन्ध : कुम्भ मेले में स्त्रियों का दैनंदिन जीवन –अर्चना सिंह 38

खंड दो : नदी और देश

4. पवित्र नदी, प्रदूषित नदी : कुछ विचार गंगा नदी के सन्दर्भ में –अवधेन्द्र शरण 49

5. नदी, राष्ट्र और इतिहास : भारतीय नदियाँ और आधुनिक भारत का निर्माण –शुभनीत कौशिक 58

6. गंगा घाटी में मानव–सभ्यताएँ –राकेश तिवारी 76

7. शास्त्रों में गंगापरक वर्णनों के पारिस्थितिकीय निहितार्थ –बलराम शुक्ल 85

8. सरयू नदी की धार्मिक एवं सांस्कृतिक पारिस्थितिकी –महेन्द्र पाठक 98

खंड तीन : समुदाय के जीवन में नदी

9. निषाद समुदाय और प्राकृतिक संसाधनों पर हकदारी : प्रतिरोधी चेतना के स्वर –जितेंद्र सिंह 109

10. निषाद समुदाय की सामाजिक भौगोलिकी का अध्ययनः आजीविका और संस्कृति के सन्दर्भ में –नेहा राय एवं सीमा यादव 125

11. उत्तर बिहार की नदियाँ और मल्लाहों का जीवन –पुष्यमित्र 141

12. नदी के दावेदार : वाराणसी के निषाद –हरिश्चन्द्र बिंद 150

13. नदी, निषाद और उनका जीवन : सरयू नदी और उसके किनारे बसे एक गाँव का सन्दर्भ –गोविंद निषाद 159

14. नदी, मेला और हाशिये के समुदाय : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन –गुंजन राजवंशी 173

खंड चार : सिनेमा, साहित्य ओर लोक का मनोजगत

15. नदियों का लोक एवं लोक की नदियाँ : अवधी और भोजपुरी लोकगीतों में गंगा, यमुना और सरयू नदी –खुशबू सिंह 189

16. हिंदी सिनेमा में नदियों से जुड़े समुदाय : प्रस्तुति और एब्सेंसिया का सवाल –अंकित पाठक 201

17. पूर्व औपनिवेशिक भारत में नदी, निषाद और परिधीय समुदाय की चेतनाः भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य का सन्दर्भ –जगन्नाथ दुबे 218

18. लोक संस्कृति में जलस्रोत –धीरेंद्र प्रताप सिंह 230

19. सन्दर्भ ग्रंथ सूची 242

20. लेखक परिचय 253

नदी, समुदाय एवं संस्कृति

रमाशंकर सिंह

नदी अपने आप में जीवन रूप है। किसी जगह से उसका फूट पड़ना, बहना, किसी दूसरी नदी में या समुद्र में मिल जाना भी इसी सच को प्रकट करता है। नदी के अंदर की जैविकी यानी विभिन्न जीवन रूप और उसके किनारे पनप रहा जीवन एक खास किस्म की दुनिया की रचना करता है। वह जगह जहाँ 'नदी' का पानी समाप्त होता है, भूमि शुरू होती है, वह कोई भौगोलिक परिघटना भर नहीं है बल्कि वह सांस्कृतिक शुरुआत भी है। नदी का पानी जहाँ तक जाता है, वहाँ तक वह अपना पड़ोस रचता है। नदी के पड़ोस का मतलब वह इलाका है जहाँ तक नदी का पानी फैलता है, जहाँ तक नदी किन्हीं समुदायों की ज़िंदगी में सीधे तौर पर शामिल होती है। इस नितांत भाववाचक श्रेणी को परिभाषित करना मुश्किल है तब भी इसे नदी की धारा से लगभग छह-सात किलोमीटर तक तो माना जा सकता है। इसके बाद नदी का पड़ोस समाप्त हो जाता है और उसका भावलोक शुरू होता है। जैसे प्रयागराज में गंगा नदी के किनारे बसे झूसी, छतनाग या अरैल के किसी निवासी के लिए गंगा की उपस्थिति उसके रोजमर्रा की चीज हो सकती है। गंगा उसके पड़ोस में हो सकती है लेकिन वही गंगा कर्नाटक या राजस्थान के किसी निवासी के भावलोक में हो सकती है। और यह बात केवल गंगा के लिए नहीं है। भारत की हर छोटी-बड़ी नदी इसी प्रकार अपना पड़ोस और भावलोक रचती है। उसके किनारे बसे लोग, उससे दूर बसे लोग नदी से एक आत्मिक रिश्ता विकसित करते हैं। उनके अंदर एक स्वाभाविक अनुराग, प्रेम, श्रद्धा और भय पनपता है। यह सब मिलकर एक भाषा का निर्माण करते हैं। वास्तव में, सभ्यताएँ न केवल नदियों के किनारे बहुत तेजी से पनपती हैं बल्कि उनका शब्द सामर्थ्य और भंडार भी नदियाँ निर्धारित करती हैं। जितनी

अविरल और प्राकृतिक नदी होगी, उतनी ही ज्यादा वह जैविक रूप से समृद्ध होगी। और इससे भाषा समृद्ध होगी, उसका भंडार बड़ा होगा, उसके रचनाकारों की कल्पनाशीलता उतनी ही उर्वर होगी। 'भाषा और नदी' का क्षेत्र 2019 की उस संगोष्ठी में शामिल नहीं था, इसलिए इस विषय पर यहाँ बात नहीं हो पा रही है लेकिन भविष्य में इस पर ज़रूर बात की जायेगी। यह कोई रहस्य की बात नहीं है कि नदी के किनारे और नदी के बीच में जीवनरूपों की एक अक्षुण्ण धारा बहती रहती है जिसमें मछली, कछुआ, विभिन्न किस्म के साँप, पक्षी, नाना प्रकार के जानवर, वनस्पतियों और फूलों की अंतहीन श्रृंखला और सबसे बढ़कर मनुष्य उपस्थित होता है। दुनिया की सभी नदियों के लोक में यह तत्त्व थोड़े-बहुत अंतर के साथ पाए जाते हैं और वे एक धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक दुनिया का निर्माण करते हैं। भारत के नदियों की कहानी भी इससे कोई जुदा नहीं है। उसकी हर नदी का एक आख्यान है- उसके पैदा होने, किसी नदी में मिल जाने, रेगिस्तान में गुम हो जाने अथवा सागर में समाहित होने की कोई न कोई कहानी है।

इस किताब के अलग-अलग अध्यायों में मुख्यरूप में गंगा नदी की बात की गई है। उसके साथ यमुना और सरयू नदियों के किनारे के जीवन के बारे में भी चर्चा की गई है। यह अध्याय अलग-अलग लेकिन एक जटिल कहानी को पेश करते हैं जिसमें नदियों के किनारे बसे समुदाय हैं, मछुआरे, शिकारी, घुमंतू, पशुपालक, नदी में कपड़े धोने वाले, संत और पुजारी, राजा-रानी-सामान्य जन हैं। उनकी नदी से अनुक्रिया की बात की गई है। इस किताब में प्रस्तुत लेख नदी के जल और उसके जीवन, विचार-विश्वास और भविष्य को रेखांकित करना चाहते हैं। इस किताब में नदी के किनारे विकसित विभिन्न समाज व्यवस्थाओं में से एक सबसे महत्त्वपूर्ण समाज व्यवस्था यानी निषाद समुदाय को खास तौर पर रेखांकित किया गया है। मेरा मानना है कि समुदाय और प्राकृतिक भूदृश्य आपस में अंतर्क्रिया करते हैं। भारत के सामाजिक इतिहास, विशेषकर आरंभिक भारत के सामाजिक इतिहास को लिखते समय इस पक्ष पर ध्यान देने की आवश्यकता है। इस किताब के कई लेखों में इस पर विशेष ध्यान दिया गया है कि भारतीय समाज में जाति की गतिकी को समझते समय प्राकृतिक संसाधनों से उनके आंगिक रिश्ते और सामाजिक-आर्थिक अनुक्रिया को भी समझा जाय। इस किताब के विभिन्न लेखों को पढ़ते हुए आप पाएँगे कि यह नदी और मनुष्य

के आपसी सम्बन्ध का इतिहास भी है। नदी मनुष्य के इतिहास को जानने समझने के लिए एक टेक्स्ट के रूप में परिवर्तित हो जाती है। यहाँ यह भी कहना जरूरी है कि इधर हाल ही के दशकों में नदियों की सामाजिकी पर जो शोध कार्य हुए भी हैं, वे आधुनिक समय में उसकी उपयोगिता, नदियों पर बाँध निर्माण, आधुनिक राष्ट्र राज्य के विकास के साथ नदी–घाटी बेसिन के विकास से जुड़े रहे हैं। नदियों पर बाँध बनाने से उपजे विस्थापनों ने इस ओर ध्यान दिलाया है कि नदी और समुदाय का रोजमर्रा एवं दीर्घकालीन रिश्ता अविभाज्य है लेकिन यह अध्ययन अपनी प्रकृति में बहुत ही तात्कालिक हैं और उनकी चिंता के केंद्र में आधुनिक राज्य निर्देशित विकास से उपजी हिंसा और बेदखली है। इन अध्ययनों की चिंता का केंद्र बिंदु भारत की बीसवीं शताब्दी है जिसमें हुए वैज्ञानिक और तकनीकी विकास ने नदियों के बहाव को अविरल नहीं रहने दिया और वे धीरे–धीरे दुनिया की सबसे प्रदूषित जल–निकायों में बदल गयीं। इस प्रकार से नदी और समुदाय के उस सहजीवी सम्बन्ध पर कोई बहस आगे न बढ़ सकी जो इस बात की ऐतिहासिक और समकालीन समय में पड़ताल करती कि कोई समुदाय प्राकृतिक भू–दृश्य से किस प्रकार अपने आप को जोड़ता है एवं भू–दृश्य स्वयं किसी समुदाय विशेष को दैनिक और ऐतिहासिक रूप से कैसे रचता है। पूर्व औपनिवेशिक भारत के लिए तो इस विषय को उपेक्षित ही कर दिया गया है। वर्ष 2022 में प्रकाशित 'नदी पुत्र' में मैंने अपना ध्यान कुछ सवालों पर केंद्रित करने का प्रयास किया था। वे सवाल अब मुझको पहले से ज्यादा चुनौतीपूर्ण लगने लगे हैं जिनका एक व्यापक उत्तर दिया जाना शेष है। वे शोध प्रश्न इस प्रकार थे : पूर्व औपनिवेशिक भारत में विभिन्न जातियों का प्राकृतिक संसाधनों से किस प्रकार का सम्बन्ध रहा है? निषाद समुदाय के जीवन, संस्कृति और जीविका के क्षेत्र में नदी–पारिस्थितिकी की क्या भूमिका निभाती रही है? उनके जीवनबोध और संस्कृति को नदियाँ किस प्रकार निर्धारित करती हैं और आधुनिक समय में निषादों की जीविका के सवालों को राज्य और स्वयं निषाद किस प्रकार देख रहे हैं?[1] इन सवालों की झलक प्रस्तुत किताब के विभिन्न लेखों में आपको दिखेगी ही, इसके अतिरिक्त नदी और समुदाय के बारे में बहुत सी बातों का विश्लेषण विद्वानों ने अपने तरीके से किया है। यह सभी लेख मिलकर नदी और समुदाय के बारे में एक अंतर्विषयक परिदृश्य प्रस्तुत करते हैं।

यह एक मानी हुई बात है कि संस्कृतियाँ अर्थों (मीनिंग्स) की एक गझिन प्रणाली

से निर्मित होती हैं। विभिन्न स्थानों, विचारों, अवधारणाओं और मनुष्यों के विभिन्न समुदायों के बीच अर्थ अलग-अलग भूमिका निभाते हैं लेकिन उनका केंद्रीय चरित्र नहीं बदलता है। पानी को लेकर, खासकर किसी नदी के पानी को लेकर अलग-अलग समुदाय अलग-अलग तरीके से सोच सकते हैं लेकिन वे इस बात पर एकमत होते हैं कि पानी जीवनदायी है, उसका सम्मान करना चाहिए। इसी कारण गंगा, गंडक, सरयू या गोदावरी के किनारे बसे शहरियों, व्यापरियों, पशुपालकों, नाविकों, घुमंतुओं और संन्यासियों के दृष्टिकोण में आपको अंतर दिखाई पड़ सकता है लेकिन उनका उस नदी के साथ एक आंगिक रिश्ता भी मिलेगा। इन रिश्तों को बनाए रखने में जल से जुड़े विभिन्न अर्थ भूमिका निभाते हैं। और यह केवल जल का ही मामला नहीं है। विद्वानों ने पर्वतों और भूमि से इस प्रकार के रिश्तों को चित्रित किया है जहाँ पर किसी स्थान, ऋतुओं, वनस्पतियों, दलदलों या जीव जगत का ज्ञान उनकी ज्ञानात्मक संवेदनाओं में कूटबद्ध कर दिया जाता है।[2] समाज अध्ययन में इसे समझने के लिए एक संवेदनशील नज़रिये की आवश्यकता है। प्रस्तुत किताब उस दिशा में एक छोटा सा प्रयास है।

नदी और समुदाय की सहजीविता

नदी मनुष्य की और मनुष्य नदियों की नियति को निर्धारित करते हैं। इसी तरह नदियाँ जानवरों की और जानवर भी नदियों के भविष्य, उनके स्वास्थ्य को निर्धारित करते हैं। यलोस्टोन नेशनल पार्क के एक नियंत्रित दायरे में भेड़ियों की बढ़ती संख्या ने उस समय नदी की सेहत को सुधार दिया जब भेड़ियों के कारण जंगल में हिरणों द्वारा अत्यधिक चराई को हल्का सा विराम मिला, छोटे जानवर बढ़े, पक्षियों की संख्या बड़ी और नदी जीवंत हो उठी, उसमें उदबिलाव और मछलियों की संख्या बढ़ी।[3] एक ने दूसरे के जीवन के संतुलित और समृद्ध किया लेकिन ऐसा हर जगह नहीं होता है। इसके विपरीत, गंगा नदी में पिछली एक शताब्दी में मानवीय गतिविधियाँ इतनी ज्यादा बढ़ गईं कि सूंस (डाल्फिन) की संख्या लगातार घटती गई है। सूंस की घटती संख्या हमें यह भी बताती है कि नदी की सेहत अच्छी नहीं है। इसे हम कहलगाँव के उदाहरण से समझ सकते हैं।

कहलगाँव गंगा नदी के दाहिने तट पर बसा एक छोटा सा कस्बा है। भागलपुर जिले के इस कस्बे में मारवाड़ी, ब्राह्मण, यादव, कहार, कोयरी, धानुक, खरवार और बड़ी संख्या में निषाद समुदाय के लोग रहते हैं। कस्बे में दलित समुदायों की एक ठीक-ठाक संख्या है। कस्बे के जीवन को नदी ने रूप दिया है। कहलगाँव में गंगा के ठीक बीचो-बीच एक छोटी-सी पहाड़ी है जो गंगा को एक भव्य रूप देती है। यहाँ पहुँचकर गंगा का पाट बहुत चौड़ा हो जाता है और जब अगस्त-सितम्बर में नदी एक भव्य रूप ग्रहण करती है तो उसी समय मछलियों से भरा हुआ गंगा का पानी आसपास की छोटी-छोटी जल-वीथिकाओं में भर जाता है। इन्हें कोल-ढाब कहते हैं। जब पानी कम होने लगता है तो उसे जाल लगाकर रोक दिया जाता है। मछलियाँ वहाँ रुक जाती हैं। इसके बाद उनकी संख्या तेजी से बढ़ती है। 1980 के दशक में गंगा के इस इलाक़े में कई बातें एक साथ हुईं। लौटती हुई मछलियों पर दबंग समूहों द्वारा कब्ज़ा जमाना और गंगा में सदियों से चली आ रही जल ठेकेदारी का विरोध।

वर्ष 1982 में यहाँ अपने किस्म का एक अनूठा आंदोलन शुरू हुआ जो रुक-रुककर अब तक चल रहा है। 1990 में जारी एक पुस्तिका के अनुसार सुल्तानगंज से पीरपैंती के लगभग अस्सी किलोमीटर के दायरे में मुशर्रफ़ हुसैन प्रामाणिक और महेश घोष ने गंगा नदी पर जमींदारी कायम कर रखी थी। गंगा मुक्ति आंदोलन ने इसे न केवल समाप्त करवाया बल्कि निषादों सहित गंगा के किनारे बसे अन्य समुदायों की समस्या को भी उठाया। ''1908 से 1930 के बीच गंगा के इलाके में उथलपुथल मचा रहा। जागरण व संघर्ष की चेतना पूरे इलाके में फैली। जलकर जमींदार इलाके में फैली इस जागृति से भयभीत हो गये और 1930 के आसपास ट्रस्ट बनाकर जलकर जमींदारी को देवी-देवताओं के नाम कर दिया। जलकर जमींदारी खत्म करने के लिए 1961 में एक कोशिश हुई। भागलपुर के तत्कालीन डिप्टी समाहर्ता ने इस जमींदारी को खत्म कर मछली के बंदोबस्ती की जवाबदेही सरकार पर डाल दी। मई' 61 में जमींदारों ने पटना उच्च न्यायालय में इस कार्रवाई के खिलाफ अपील की, अगस्त' 61 में जमींदारों को 'स्टे आर्डर' मिल गया। 1964 में उच्च न्यायालय ने जमींदारों के पक्ष में फैसला सुनाया। इस फैसले में उच्च न्यायालय ने दो प्रमुख तर्क दिए- (1) जलकर की जमींदारी यानी फिशरी राइट मुगल बादशाह ने दी थी और यह पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही है। (2) जलकर के अधिकार का

प्रश्न जमीन के अधिकार के प्रश्न से अलग है, क्योंकि जमीन की तरह यह अचल संपत्ति नहीं है। इस कारण यह बिहार भूमि सुधार कानून के अन्तर्गत नहीं आता। बिहार सरकार ने उच्च न्यायालय के फैसले के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में 1972 में अपील दायर की। सर्वोच्च न्यायालय में इस अपील में दो जमींदारी में से सिर्फ़ एक मुशर्रफ हुसैन प्रामाणिक को ही पार्टी बनाया गया, जबकि गंगा के बड़े जमींदार महाशय महेश घोष को छोड़ दिया गया। जलकर जमींदारी चलाने के पीछे भी एक मजबूत तंत्र रहा है। जमींदार अपनी जमींदारी का ठेका लगाते हैं। ठेकेदार जमींदारी ठेके पर खरीदता है और वह मछुआरों को मछली मारने के लिए पट्टा देता है। सालभर के पट्टे के लिए प्रत्येक मछुआरे से वह औसतन 700 रुपये से 2000 रुपये तक वसूलते रहे हैं। यह वसूली लठैतों के सहारे होती है। बंदूक, रिवाल्वर व लाठी–लठैतों के हथियार होते हैं। वैसे मछली मारने के पट्टे की कोई खास दर निश्चित नहीं है। मछली मारने के विभिन्न प्रकार की नावों और जालों के लिए अलग–अलग दरें हैं। गोद्देल जाल के लिए 700 रुपया सालाना, फंसला जाल के लिए 600 रुपये, चारा लगाने वाले के लिए 350 रुपये सालाना है। इसी प्रकार बहुआ छिपान, लहकान, छिपान और लहकान के लिए अलग–अलग दरें हैं। मछली मारने की अवधि केवल नौ महीने की होती है।''[4] इस सबके विरोध में कहलगाँव और आसपास के निषाद जनों के साथ बिहार की सिविल सोसाइटी के लोग इकट्ठे हुए और लगातार विरोध–प्रदर्शन किया, अर्जी और आंदोलन का सहारा लिया। 1990 तक आते–आते बिहार सरकार ने गंगा पर जमींदारी व्यवस्था समाप्त कर दी। यह गंगा मुक्ति आंदोलन की एक बड़ी सफलता थी। खास बात यह थी कि इस लड़ाई को लड़ने वाले लोग सजग रूप से जानते थे कि वे क्या कर रहे हैं। 23 जुलाई 1990 को उन्होंने गाय घाट पटना में विजय जुलूस मनाया।[5] कहलगाँव में गंगा अभी भी वैसे ही बह रही हैं लेकिन गंगा मुक्ति आंदोलन का एक समग्र इतिहास लिखा जाना बाकी है।

2022 में इन पंक्तियों के लेखक को कहलगाँव जाने का मौका मिला। गंगा मुक्ति आंदोलन के 'शानदार' दिनों की याद अभी भी भागलपुर के नागरिक समाज, जयप्रकाश नारायण के अनुयायियों और निषाद समुदाय के बीच ताजा है। इस आंदोलन की उपलब्धियाँ बहुत ही मानीखेज और राजनीतिक रही हैं।

इसने निषाद बुद्धिजीवियों की एक पीढ़ी तो तैयार की ही, इसने निषाद समुदाय की लड़ाई को एक व्यापक सामाजिक–सांस्कृतिक पहलकदमी में भी बदला। इस आंदोलन से छात्रों और नौजवानों की एक पीढ़ी का भी जुड़ाव हुआ है जिसका जीवन गंगा नदी से जुड़ा है और उन्होंने अपनी बात कहने के लिए एक राजनीतिक भाषा ईज़ाद की है। कागज़ी टोला जहाँ से यह आंदोलन शुरू हुआ था, वहाँ पर ठीक गंगा नदी के पानी से मात्र दस मीटर की दूरी पर एक बेंच लगी है जिसे एनटीपीसी कहलगाँव ने लगाया है। वहाँ मैं रामपूजन जी के साथ गया था जो 1980 के दशक से ही गंगा मुक्ति आंदोलन की शुरुआत से इससे जुड़े हैं। रामपूजन ने वहाँ पहुँचकर बताया कि उस समय हमें लगता था कि ''हम कामयाब होंगे गंगा और आज के कहलगाँव को देखकर हम कह सकते हैं कि हमने कोई आधारहीन सपना नहीं पाला था।'' वास्तव में गंगा मुक्ति आंदोलन धीमे–धीमे चलता रहा है। उसकी माँगों में सातत्य और परिवर्तन के चिन्ह दिखाई पड़ते हैं। उनकी कुछ माँगे चार दशक पुरानी हैं तो उसमें कुछ नई माँगें भी जुड़ी हैं। उनका कहना है मछुआरों को पानी में डूबी हुई सरकारी जमीन बाँटी जाये; मुख्य रूप से गंगा से जुड़े कोल–ढाब की अवैध बन्दोबस्ती बंद की जाये, पारम्परिक मछुआरों की सुरक्षा की गारंटी दी जाये और 1991 में मछुआरों के लिए आए बिहार गजट को पूर्णत: लागू किया जाये। घेराबाड़ी, घन्नी जाल, मसहरी जाल पर रोक लगे; गंगा और अन्य सहायक नदियों पर बने बाँध–बैराज खत्म हो और मछुआरों की सुरक्षा के लिए गंगा में मोटर बोट द्वारा पुलिस पेट्रोलिंग शुरू की जाये।[6] वे अब मछुआरों के पक्ष में सरकारी आदेशों को लागू करवाने के लिए भी आंदोलनरत रहते हैं। बिहार सरकार का आदेश है कि गंगा से जुड़े कोल ढाब, नदी और नाले में घेराबंदी नहीं की जायेगी। घेराबंदी से छोटी–छोटी मछलियाँ गंगा में नहीं आ पाती हैं।[7]

इसी तरह, एक लंबे समय तक गंगा नदी के किनारे और 2022–24 में यमुना नदी के किनारे फील्डवर्क करते समय मैंने यह पाया है कि मछलियों के द्वारा नदियों के किनारे विशिष्ट जगहों पर अंडे देने की स्वाभाविक जैविक घटना को नुकसान पहुँचा है। इस बात को हरियाणा, दिल्ली, आगरा, कानपुर, कौशाम्बी, प्रयागराज, वाराणसी और चंदौली में निषाद समुदाय के वृद्ध और सयाने लोगों ने बार–बार रेखांकित किया कि मछलियों के जीवन को बेहतर बनाने वाली दशा पर संकट आया है। उनकी संख्या कम हुई है। उनकी किस्में कम हुई हैं।

नदियों के किनारे विभिन्न प्रकार की गतिविधियों जैसे बालू निकालने वाली मशीनों का लगातार बढ़ते जाना, नदियों के किनारे वनस्पति जगत का क्षरण और मानवीय अतिक्रमण ने उन्हें एक गम्भीर पारिस्थितिकीय संकट में डाल दिया है। इसी के साथ 'गैर सामुदायिक' हस्तक्षेप ने भी नदियों और उनके किनारे बसने वाले समुदायों को संकट में डाला है। अत्यधिक प्रदूषण ने नदियों की वह क्षमता छीन ली है अथवा बहुत कम कर दी है जिसके कारण वे अपनी सेहत को एक निश्चित मौसम चक्र में सुधार लेती थीं। और यह कोई एक दो दशक पुरानी बात नहीं है। आज़ादी के तुरंत बाद इसके संकेत मिलने शुरू हो गये थे कि नदियों में बढ़ता प्रदूषण कितना खतरनाक हो सकता है। वर्ष 1968 में मुंगेर में गंगा नदी में प्रदूषण के कारण आग लग गई।[8] यहाँ पर 1982 में जारी द स्टेट ऑफ़ इंडिया'ज़ एनवायरेनमेंट : द फर्स्ट सिटीजंस रिपोर्ट का एक हवाला देना उचित होगा। यह रिपोर्ट कहती हैं : ''उत्तर प्रदेश, बिहार और पश्चिम बंगाल में गंगा के प्रत्येक किलोमीटर के किनारे लोग और फैक्ट्रियाँ कूड़ा-करकट, मल-मूत्र और गंदगी इसमें डाल रहे हैं, जिससे धीरे-धीरे यह नदी एक नाले में बदलती जा रही है। केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड की एक जाँच में पाया गया कि गंगा के किनारे स्थित किसी भी बड़े शहर में सीवेज शोधन संयंत्र नहीं है, हालाँकि अधिकांश शहरों में आंशिक सीवेज सुविधाधाएँ हैं। कुल मिलाकर, 48 प्रथम श्रेणी के शहर और 66 द्वितीय श्रेणी के कस्बे प्रतिदिन बड़ी मात्रा में अवशोधित मल को गंगा में डालते हैं। इसके अलावा, स्नान, कपड़े धोने और अस्थियों या अधजली लाशों के विसर्जन जैसी अन्य मानवीय गतिविधियों का बोझ भी इस नदी पर पड़ता है। औद्योगिक इकाइयाँ भी गंगा के प्रदूषण में रासायनिक अपशिष्टों का योगदान देती हैं। डीडीटी फैक्ट्रियाँ, टेनरियाँ, कागज और लुगदी मिलें, पेट्रोकेमिकल और उर्वरक संयंत्र, रबर फैक्ट्रियाँ और अन्य कई उद्योग इस नदी का उपयोग अपने अपशिष्टों से छुटकारा पाने के लिए करते हैं। ...यह स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि ऋषिकेश, हरिद्वार और वाराणसी जैसे पवित्र शहर गंगा के पानी की गुणवत्ता को विशेष रूप से पीने के लिए गंभीर रूप से प्रभावित करते हैं। इलाहाबाद संभवतः यमुना के बड़े प्रवाह के कारण श्रद्धालुओं के प्रभाव से बचा रहता है, जबकि न कम पवित्र कानपुर ने औद्योगिक अपशिष्टों के साथ-साथ सीवेज को भी जोड़ने का विशेष दर्जा प्राप्त किया है, जिससे मछलियों की उच्च मृत्यु दर होती है।[9] इस लंबे उद्धरण को पढ़ने के बाद यदि आप आज की स्थितियों पर विचार करें तो पाएँगे कि गंगा के किनारे

जल शोधन संयंत्र लगे हैं और पहले की अपेक्षा लोग पर्यावरण और समुदायों की चिंता करने लगे हैं। लेकिन नदियों की स्थिति बहुत ज्यादा सुधरी नहीं है। पिछले चार दशकों में भारत की नदियों को कुछ नवीन और घातक समस्याओं का सामना करना पड़ा है। बालू खनन और मानवजनित अशोधित कूड़े की डम्पिंग ने बहुत सारी छोटी नदियों को समाप्त कर दिया है और बड़ी नदियों को संकट में डाल रखा है। नेशनल ग्रीन ट्रिब्युनल में दायर किए जा रहे मुकदमों को सरसरी नज़र से देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है।

नदी, मेला और मनुष्य

1880 से 1920 के बीच प्रकाशित हुए विभिन्न ज़िला गज़ेटियर उन जिलों में लगने वाले मेलों की सूचना देते हैं। इनमें से अधिकांश मेले नदियों के किनारे लगते थे और एक दिन से लेकर महीनों तक चलने वाले इन मेलों में विभिन्न समुदाय एकत्र होते थे। सभ्यता को निर्मित करने वाले सभी कारक यानी राजनीति, धर्म, समाज और अर्थव्यस्था यहाँ आकर आपस में मिल जाते थे। किसी भी मेले में आप इनमें से कम से कम तीन और अधिकांश मामलों में चारों कारकों को लक्षित कर सकते हैं। गंगा नदी के किनारे लगने वाले मेले भारत की कहानी कहने के लिए पर्याप्त हैं। इसके किनारे सैकड़ों तीर्थ स्थल विकसित हुए। यही कहानी हर छोटी–बड़ी नदी की है। यह मेले और तीर्थस्थल सुगम और दुर्गम दोनों स्थानों पर थे एक जगह की जनता को दूसरे जगह की जनता से जोड़ देते थे। इस प्रकार वे देशदर्शन के सबसे प्रभावकारी साधन थे। महात्मा गाँधी ने हिंद स्वराज में लिखा है कि 'जब बहुत तेजी से आनेजाने वाले साधन नहीं थे, सारे खतरों का की परवाह न करते हुए व्यापारी और उपदेशक देश के एक हिस्से से दूसरे हिस्से में पैदल ही चले जाते थे। और यह लोग कोई आनंद और आमोद–प्रमोद के लिए नहीं जाते थे बल्कि मानवता की भलाई के लिए जाते थे। बनारस और ऐसे ही प्रसिद्ध तीर्थ स्थल उस समय के ऐसे ही शहर थे जो आज बिलकुल हेय और उपेक्षित हैं।'[10] ऐसी ही बात करते हुए वासुदेव शरण अग्रवाल ने भी रेखांकित किया है कि तीर्थ कला के सार्वजनिक संग्रहालय थे जहाँ प्रतिवर्ष दर्शकों का ताँता लगा रहता था। पैदल यात्रा में देश की तिल–तिल धरती के साथ परिचित होने का अवसर मिलता था। रेल की सुख सुविधाओं से पहले अत्यंत कष्ट सहकर जनता देश भ्रमण की अपनी साध पूरी करती थी।[11]

भारत में ब्रिटिश उपनिवेश की स्थापना ने इस प्रणाली को भंग कर दिया। भारतीय समाज और भूदृश्य को पाबंद किया गया। तीर्थस्थलों, तीर्थयात्रियों, मेलों, मेलों में आने वाली जनता, दुकानदारों, शिल्पकारों और कला-संस्कृति से जुड़े कलावंतों, जादूगरों, नर्तकों और गायकों के जीवन को कानून के अधीन ले आया गया। सार्वजनिक स्थानों, सरायों, बागों, कस्बों, बड़े शहरों से लेकर नदियों के किनारों को ब्रिटिश प्रभुसत्ता ने अपने नियन्त्रण में ले लिया।[12] नदियों की गहराई नापी गई। नॉर्दर्न इंडिया फेरी'ज एक्ट, 1878 लाया गया जिसके द्वारा नदी में नाव चलाने की गतिविधि को नियंत्रित किया गया। यह भी निर्धारित किया गया कि नदी में चलने वाली नावों का आकार क्या होगा और उसमें कितनी सवारियाँ बैठेंगी।[13] इस व्यवस्था में दूरी और इलाकों को भी ब्रिटिश शासन द्वारा पाबंद किया गया।[14] भारत में ब्रिटिश शासन वास्तव में समय और दायरे का उपनिवेशीकरण था। पूर्व औपनिवेशिक भारत में जमीन और जल अलग-अलग नहीं थे, जहाँ जमीन वाला का इलाक़ा ख़त्म होता था, वहाँ जल यानी नदी का इलाक़ा आरंभ हो जाता था। यह उस प्रकार की अस्पष्टता थी जैसी किसी नदी के शुरू होने के सौ-पचास मीटर के गीले क्षेत्र में पायी जाती है जहाँ मिट्टी और पानी आपस में घुले होते हैं। उपनिवेश ने इसे अलग-अलग कर दिया। मुख्य जमीन पर अलग से कानून और नदी में अलग से कानून। इसी क्रम में प्रयाग में गंगा एवं यमुना के संगम पर स्थित मेला क्षेत्र को परिभाषित करने के लिए मेला क्षेत्र का मानचित्रण किया गया।[15] नक्शानवीसों ने कुम्भ मेले को प्रशासन की सुविधा के लिए विभिन्न उपक्षेत्रों (ज़ोन) में विभाजित कर दिया।[16] 1857 के तुरंत बाद ही, 1859 में अकबर के किले के बाहर की जमीन को ब्रिटिश शासन ने अधिगृहीत कर लिया।[17] वर्तमान समय में इस क्षेत्र को कुम्भ और माघ मेले के दौरान व्यवसायिक गतिविधियों के लिए इस्तेमाल किया जाता है। इसी प्रकार 1921 में गंगा नदी के दाहिने किनारे पर अरैल में भूमि का अधिग्रहण किया गया जिससे मेला क्षेत्र का विस्तार किया जा सके। यह अधिग्रहण 1894 के भूमि अधिग्रहण अधिनियम के प्रावधानों के तहत किया गया था।[18] औपनिवेशिक काल में ही मेला क्षेत्र के विस्तार, उसके अंदर विभिन्न समूहों, साधुओं-संन्यासियों, श्रद्धालुओं और व्यवसायिक उदेश्य के लिए जमीन का आवंटन और उसकी मात्रा, तीर्थ यात्रियों के आने-जाने के मार्गों का प्रबंध एवं नियंत्रण, मेले मे आने

वाले लोगों पर स्थानीय कर संग्रहण को एक निश्चित रूप दिया गया। इस कर संग्रह को स्थानीय शहरी प्रशासन से जोड़ा गया और संगम क्षेत्र मे लगने वाला ब्रिटिश शासन के लिए 'लाभ का मेला' बन गया जिसमें शासन को प्रतिवर्ष वित्तीय लाभ होता था और वह भारतीय प्रजा पर अपने प्राधिकार का सार्वजनिक प्रदर्शन भी करता था।

आज़ाद भारत में मेले की बाहरी दुनिया बदल गई है लेकिन उसकी अंतर्वस्तु सुरक्षित कही जा सकती है। लोग अब भी उन्हीं अर्थों की खोज में मेले में आते हैं जिनके लिए वे सदियों से आते रहे हैं। मेला विभिन्न प्रकार के समुदायों के लिए सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक अवसर लेकर आता है। विभिन्न प्रकार के पुरुष, स्त्रियाँ, थर्ड जेंडर के लोग, साधु-संन्यासी, बालक-बालिकायें और किशोर-किशोरियाँ मेले को दुनिया का एक प्रतिरूप बना देते हैं। इस दुनिया में वह सब कुछ चला आता है जिसने समकालीन भारतीय मनुष्य को घेर रखा है। इस किताब में इलाहाबाद (इसे अब प्रयागराज कहा जाता है) के कुम्भ मेले पर प्राथमिक शोध के साथ कुछ परचे शामिल किए गये हैं जिनसे आपको इस दायरे की मनोभूमि का अंदाज़ा लगाना आसान होगा।

प्रस्तुत किताब के बारे में

इस किताब में शामिल बद्री नारायण का लेख 'निषाद समुदाय का स्मृतिलोक और नदी' नवीन सांस्कृतिक दायरों को उद्‌घाटित करता है। यह लेख वास्तव में 2019 की संगोष्ठी में दिया गया उनका उद्‌घाटन भाषण है जिसमें वे हमारा ध्यान उस सांस्कृतिक कल्पनालोक की तरफ़ ले जाते हैं कि पृथ्वी पर कमला नदी को दुलरा दयाल जैसे वीर लाते हैं। गंगा नदी के अवतरण को लेकर महाकाव्यों से लेकर आधुनिक भारतीय साहित्य में एक बहुत ही समृद्ध परंपरा मौजूद है। इसके विपरीत लोक की कल्पना में, वह भी हाशिये के समाजों में नदी एक दूसरा रूप धर कर हमारे सामने आती है। बद्री नारायण का लेख इसी दिशा की ओर संकेत करता है। इसके साथ यह भी ध्यान देने वाली बात है कि भारतीय समाज और इतिहास को लिखने एवं समझने के लिए वैकल्पिक स्रोतों पर उचित ध्यान नहीं दिया गया है। वास्तव में नदियों को समझने के लिए उसके आस-पास बसने वाली लोक-संस्कृति को समझना जरूरी है क्योंकि नदी लोक से बनती है और लोक उस नदी से सृजित होता है। एक सामाजिक दस्तावेज़

के रूप में लोकगाथाएँ नदियों को दर्ज़ करती चलती हैं। हर नदी का अपना दुलरा दयाल, विश्वामित्र, भगीरथ होते हैं जिनका नदी से अपना–अलग रिश्ता होता है। इसे समझने की आवश्यकता है। एक दूसरे छोर पर, अवधेन्द्र शरण ने 'पवित्र नदी, प्रदूषित नदी : कुछ विचार गंगा नदी के सन्दर्भ में' विषय पर अपने लेख में ब्रिटिश अधिकारियों, म्यूनिसिपल बोर्ड और सफाई विभाग से जुड़े आयुक्तों की रिपोर्टों को आधार बनाकर औपनिवेशिक अधिकारियों की भारतीय नदियों की प्रदूषण सम्बन्धी चिंताओं, आशंकाओं और उनके मतभेदों को सामने रखा है। साथ ही इस लेख में उन्होंने प्रदूषण से जुड़े विमर्श की सीमाओं को भी रेखांकित किया है। ये सीमाएँ तत्कालीन इंग्लैंड में नदियों की सफ़ाई से जुड़े प्रावधानों को दृष्टिगत रखने पर और स्पष्ट हो जाती हैं। अवधेन्द्र शरण ने उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से लेकर बीसवीं सदी के दूसरे दशक तक ब्रिटिश भारत में गंगा सरीखी भारतीय नदियों की पवित्रता की धारणा, उनकी सफ़ाई के प्रयासों, नदी पर निर्भर समुदायों पर इसके दूरगामी प्रभाव और इसके राजनीतिक–सामाजिक निहितार्थों का भी आकलन किया है। वे इस विमर्श में भारत की आज़ादी लड़ाई और उसमें समाहित नदियों के स्वच्छता के विचार को अंग्रेज़ी अधिकारियों, उस समय तक उपजे 'प्रदूषण सम्बन्धी ज्ञान' के बरक्स रखकर बताते हैं कि नदियों की सफ़ाई का विचार जोर मारता था लेकिन एक समय के बाद वह दम तोड़ देता था। यहाँ तक कि "1920 के मध्य में गाँधी ने भारत की नदियों के बारे में कई लेख लिखे। स्वास्थ्य की बात तो थी ही, पर यह नदियों की सफाई और सबसे बढ़कर धर्म और नैतिकता की भी बात थी। यंग इंडिया के 31 अक्टूबर 1929 के अंक में हरिद्वार के बारे में उन्होंने लिखा : "जहाँ एक तरफ़ गंगा की निर्मल धारा और हिमालय के पवित्र पर्वतशिखरों ने मुझे मोह लिया, वहाँ दूसरी ओर इस पवित्र स्थान पर लोगों के काम से मेरे हृदय को कुछ भी प्रेरणा नहीं मिली। मैंने हरिद्वार में देखा कि वहाँ नैतिक तथा शारीरिक दोनों तरह की मलिनता है और यह स्थिति देखकर मुझे अत्यंत दु:ख हुआ। हाल की यात्रा में भी मैंने हरिद्वार की इस दशा में कोई ज्यादा सुधार नहीं पाया। पहले की भाँति आज भी धर्म के नाम पर गंगा की भव्य धारा दूषित की जाती है। विवेकशून्य स्त्री–पुरुष गंगा तट पर, जहाँ पर ध्यान लगाकर बैठना चाहिए, वहाँ पाखाना–पेशाब करते हैं। इन लोगों का ऐसा करना प्रकृति, आरोग्य तथा धर्म के नियमों के ख़िलाफ़ है।""[19] शुभनीत कौशिक ने अपने परचे 'नदी, राष्ट्र और इतिहास : भारतीय नदियाँ और आधुनिक भारत का निर्माण' में

आधुनिक भारत में नदियों के प्रति बदलते दृष्टिकोणों को रेखांकित किया है। अनुपम मिश्र के हवाले से उन्होंने दिखाया है कि समाज के 'तरल दर्पण' के रूप में नदियों को देखने वाली समझ पर धीरे-धीरे किस तरह औपनिवेशिक भारत में नदियों की उपयोगितावादी सोच हावी होती चली गई। नदी का सामाजिक-सांस्कृतिक महत्त्व अब भी बचा था, अनेक अवसरों पर राष्ट्रीय नेतृत्व ने भारतीयों द्वारा नदियों के धार्मिक-सांस्कृतिक इस्तेमाल में बाधा डालने पर औपनिवेशिक राज्य को चुनौती भी दी। लेकिन आज़ादी के बाद राष्ट्रीय नेतृत्व का ध्यान नदियों के बहुद्देशीय प्रयोग और नदी घाटी परियोजनाओं पर केन्द्रित हो चला था। शुभनीत के अनुसार औपनिवेशिक काल में अकाल, सूखे और बाढ़ के प्रत्यक्षदर्शी रहे जवाहरलाल नेहरू और डॉ. भीमराव आंबेडकर सरीखे नेताओं ने नदी घाटी परियोजनाओं को इन समस्याओं के समाधान के रूप में देखा। एक हद तक ये परियोजनाएँ अपने उद्देश्य में और राष्ट्रीय नेतृत्व की अपेक्षाओं को पूरा करने सफल भी रहीं। लेकिन जैसा कि आज़ादी के बाद के दशकों में देखने को मिला, इन परियोजनाओं की अपनी सीमाएँ थीं। इस सन्दर्भ में, शुभनीत ने 1921 के मूलशी पेटा सत्याग्रह की भी चर्चा की है, जहाँ मावला समुदाय के किसानों ने टाटा की बाँध बनाने की परियोजना का विरोध किया था, और इसके ऐतिहासिक महत्त्व को समझने पर ज़ोर दिया। सुचन्द्र घोष ने अपना व्याख्यान 'सिचुएटिंग नौ-व्यवहारजीविन एंड कैवर्त्तास इन द रूरल सेटलमेंट ऑफ़ अर्ली मेडिवल आसाम' अंग्रेज़ी में प्रस्तुत किया था जिसे यहाँ प्रस्तुत नहीं किया गया है। उस व्याख्यान में उन्होंने मध्यकालीन आसाम के आर्थिक और सांस्कृतिक परिदृश्य में न केवल नदी बल्कि तालाब, झील, कुल्याओं की भूमिका को रेखांकित किया था। उन्होंने इस तरफ सबका विशेष ध्यान आकर्षित किया कि यह सभी जल-संरचनायें नौ-व्यवहारजीवियों और मछुआरों (कैवर्त्त) की जीविका का स्रोत थीं।

राकेश तिवारी 'गंगा घाटी में मानव-सभ्यताएँ' नामक अपने परचे में ध्यान दिलाते हैं कि 'लम्बी अवधि में न केवल नदी-मार्गों से होनेवाले यात्रा, व्यापार, खनिज पदार्थों की ढुलाई के लिए अथवा अन्यान्य कारणों से नदियों में नाव से होनेवाले परिवहन बल्कि स्थलीय महापथों और सामान्य पथों पर पड़नेवाली नदियों से पार उतारने के लिए भी अनिवार्य रूप से नाविकों पर निर्भर रहना पड़ता था। यदि यह कहा जाय कि इन समस्त नदियों पर लगभग चार हजार

वर्ष तक नाविकों, मल्लाहों, माझियों, धीवरों और निषादों का अखंड दावा रहा है, तो यह बात सर्वथा उपयुक्त होगी'। राकेश जी पेशे से पुरातत्त्ववेत्ता हैं और पुरातत्त्ववेत्ता कम शब्दों में बात कहने के लिए जाने जाते हैं। उनका लेख बहुत सटीक ढंग से नाव और नदी के साथ निषाद समुदाय का सम्बन्ध स्थापित करता है। महेन्द्र पाठक ने 'सरयू नदी की धार्मिक एवं सांस्कृतिक पारिस्थतिकी' में बताया है कि मोक्षदायक सप्तपुरियों में परिगणित अयोध्या वाल्मीकि रामायण के अनुसार, किसी समय तीन दिशाओं में सरयू नदी से घिरी हुई थी। इस नदी ने अयोध्या को आर्थिक और सांस्कृतिक पोषण प्रदान किया। सरयू नदी के तट पर उत्तर भारत की निषाद संस्कृति पल्लवित-पुष्पित होती रही है। आज भी इसके तटवर्ती क्षेत्रों में रहने वाले निषादों की जीविका इस नदी पर आश्रित है। अपने व्याख्यान में उन्होंने संस्कृत ग्रन्थों और रामचरित मानस के गहन पाठ के द्वारा सरयू नदी की प्राचीन महत्ता को बताने के साथ-साथ उसके धार्मिक और सांस्कृतिक अभिप्रायों को स्पष्ट करने का प्रयास किया और सरयू नदी की सांस्कृतिक पारिस्थितिकी को भी स्रोताओं के समक्ष रखा था।

बलराम शुक्ल ने 'शास्त्रों में गंगापरक वर्णनों के पारिस्थितिकीय निहितार्थ' विषय पर अपने लेख में ध्यान दिलाया है कि शास्त्रों में पौराणिक शैली में उपाख्यानों तथा महात्म्यों के बीच ऐसे महत्त्वपूर्ण संकेत बार-बार आ जाते हैं जिनका सम्बन्ध गंगा के पारिस्थितिकीय तन्त्र की सुरक्षा से है। नदी का सबसे महत्त्वपूर्ण जीवनाधायक तत्त्व उसका वेग होता है। आजकल विभिन्न बाँधों, अवैध निर्माणों तथा प्रदूषण द्वारा उसकी वहन क्षमता का विनाश करके उसकी गति नष्ट कर दी गई है। धर्मशास्त्रों ने बार बार चेताया है कि किसी अन्य तीर्थ अथवा देवता के प्रति किए गये अपराध का पाप गंगा में धुल सकता है लेकिन गंगा के प्रति किया गया कोई भी अपराध क्षम्य नहीं है। इस संगोष्ठी में भारतीय उच्च्च अध्ययन संस्थान की फ़ेलो रहीं देबजानी हलदर ने ऋत्विक घटक की फिल्म 'तितास एकती नदीर नाम' के सन्दर्भ में नदियों और मछुआरों के जीवन की नाभिनाल-बद्धता पर अपने परचे में प्रकाश डाला था। चूँकि यह परचा अंग्रेज़ी में था तो उसे यहाँ शामिल तो नहीं किया गया है लेकिन उसके बारे में जानना उचित रहेगा। इस फिल्म में नदी अपने आप में एक चरित्र है। उन्होंने कहा था कि भारत की दृश्य कलाओं ने नदी के पालनहारी रूप के साथ ही महिलाओं के जीवन को रूप दिया है। उनकी बात को अंकित पाठक ने 'हिंदी सिनेमा

में नदियों से जुड़े समुदाय : प्रस्तुति और एब्सेंसिया का सवाल' विषय में आगे बढ़ाया है। उन्होंने रेखांकित किया है कि भारतीय राज्य के बदलते स्वरूप के चलते नदियों से जुड़े समुदायों की सिनेमाई प्रस्तुति भी बदलती गई है। उन्होंने हिंदी सिनेमा में नदियों से जुड़े संसाधनों की मिल्कियत के सवाल को उठाने का भी प्रयास किया है।

अर्चना सिंह ने 'नदी, स्त्रीत्व और उत्सवधर्मिता का अंत:सम्बन्ध : कुम्भ मेले में स्त्रियों का दैनंदिन जीवन' विषयक लेख में गंगा और यमुना के किनारे सम्पन्न होने वाले कुम्भ मेले की धार्मिक और सांस्कृतिक निर्मिति के भीतर स्त्रियों की आवाजों को सुनने का प्रयास किया है। अर्चना सिंह रेखांकित करती हैं कि यह मेले हैं जहाँ स्त्रीत्व और मुक्ति की न केवल नई इबारतें तैयार होती हैं बल्कि स्त्रियाँ सार्वजनिक जीवन में अपना दावा पेश करती हैं, वे मेले में सार्वजनिक और निजी जीवन की दीवारों को तोड़कर अपने लिए एक ऐसे दायरे का निर्माण करती हैं जिसे उपेक्षित नहीं किया जा सकता है। पहले आश्रमों में स्त्रियाँ नहीं आती थीं लेकिन आज अधिकांश अखाड़ों में स्त्रियाँ पदाधिकारी हैं। कुम्भ मेले में बड़ी संख्या में स्त्रियाँ कल्पवासिनी और तीर्थयात्री के रूप में प्रतिभाग करके एक महिला समुदाय का गठन करती हैं। मेला उन्हें एक नई स्त्री पहचान देता है। वे हमारा ध्यान इस तरफ़ भी आकर्षित करती हैं कि नदियाँ बहुत ही गहन तरीके से व्रत-पूजा और अनुष्ठानों से जुड़ी हैं। उनको सम्पादित करने का यह एक व्यापक दायरा उपलब्ध कराती हैं। नेहा राय एवं सीमा यादव ने अपना संयुक्त परचा 'निषाद समुदाय की सामाजिक भौगोलिकी का अध्ययन: आजीविका और संस्कृति के सन्दर्भ में' विषय पर लिखा है। इसमें बताया गया है कि प्राचीन काल में विभिन्न नदीय समुदाय सामाजिक अपवंचना के बावजूद सुरक्षित रह पाते थे परन्तु आज यही नदी इनके बहिष्करण का कारण भी बन जाती है। यह परचा बताता है नदियाँ न केवल समुदाय को बल्कि समुदाय नदियों को पोषित करता है। वे गंगा को स्वच्छ करने में बहुत गहरे तक संलग्न हैं और उसे अपने जीवन की आंतरिक गतिकी में बहुत ऊँचा स्थान देते हैं। खुशबू सिंह ने 'नदियों का लोक एवं लोक की नदियाँ : अवधी और भोजपुरी लोकगीतों में गंगा, यमुना और सरयू नदी' विषयक अपने परचे में नदियों की लोकव्याप्ति का रेखांकन किया है। वे दिखाती हैं कि नाविकों और मछुआरों के सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक सम्बन्ध बहुत ही गहन तरीके से जुड़े हैं और उन्हें अवधी और

भोजपुरी भाषी क्षेत्र में प्रचलित लोकगीतों में स्पष्ट तौर पर लक्षित किया जा सकता है। लिखित ग्रंथों से बाहर नदियों के अनगिनत सन्दर्भ लोक जीवन में समाहित हैं। इन जीवन संदर्भों में नदीं माँ, बहन, बुआ तो है ही, वह मनोरथों को पूर्ण करने वाली, शोक-संताप हरने वाली है। वह संतान देने वाली, स्वर्ग ले जाने वाली, क्षुधा मिटाने वाली है। सबसे बढ़कर नदी लोगों के, विशेषकर महिलाओं और कमजोर समूहों के जीवन में शामिल रहती है। लोग अपने जीवन में 'नदी को गाते हैं'। इस संगोष्ठी में ज्योति सिन्हा ने गंगा नदी के किनारे लगने वाले मेलों और उत्सवों की व्याख्या करते हुए उनके सांगीतिक महत्त्व पर अपना परचा 'काशी का एक अनूठा जलोत्सव : बुढ़वा मंगल का मेला' पढ़ा था। उन्होंने काशी नगर के नगर के सांस्कृतिक वैभव के निर्माण में संगीत-नृत्य शैलियों पर अपनी बात रखी थी। श्रीमती कमलेश कुमारी ने संगीत और नदी संस्कृति पर केंद्रित अपना परचा 'उत्तर भारतीय समाज में नदियों की सांस्कृतिक और धार्मिक भूमिका' पेश किया था। इसमें उन्होंने संगीत, कर्मकांडों और नदी की भूमिका का विश्लेषण किया। इन दोनों परचों को हम तकनीकी कारणों से इस किताब में शामिल नहीं कर पाए हैं लेकिन यह एक दिशा की तरफ़ संकेत तो करते ही हैं।

गुंजन राजवंशी ने 'नदी, मेला और हाशिये समुदाय : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन' में मेलों के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक महत्त्व और बदलते स्वरुप की पड़ताल की है और उस सामाजिक-सांस्कृतिक यात्रा को भी दर्ज़ करने का प्रयास किया है जिसके कारण कुम्भ मेले में उपेक्षित, वंचित, गरीब समुदाय जैसे — निषाद, सफाई कर्मचारी, स्ट्रीट वेंडर्स, आर्थिक रूप से कमजोर रविदास, कबीरपंथ के विभिन्न अखाड़े भाग लेते हैं। बिहार में काम कर रहे पत्रकार पुष्यमित्र ने 'उत्तर बिहार की नदियाँ और मल्लाहों का जीवन' नामक अपने लेख में रेखांकित किया है कि अभी हाल-फ़िलहाल तक इस पूरे इलाके में मल्लाहों और निषाद जातियों का ठीक-ठाक प्रभुत्व था। वे शासक नहीं थे, मगर उनकी आर्थिक स्थिति ठीक थी। वे मछलियाँ पकड़ते थे, नौकायन करते थे और नदी को पार कराने के इकलौते कारक थे लेकिन आज़ादी के बाद जब नदियों को लेकर सरकार की नीतियों में बड़ा बदलाव आया और बिहार में जल संसाधन विभाग नदियों को तटबंधों से बाँधने में जुट गया तो नदियों की सेहत भी बिगड़ी और इनके सहारे आजीविका चलाने वाली निषाद जाति की भी। कभी जल

संसाधनों से परिपूर्ण माना जाने वाला उत्तर बिहार के निषाद नदियों और जल से जुड़े पेशे को छोड़ कर खेतिहर मजदूर और निर्माण मजदूर बनने की राह पर निकल पड़े हैं। इस राष्ट्रीय संगोष्ठी की एक खास बात यह रही कि इसमें निषाद समुदाय के बुद्धिजीवियों को आमंत्रित किया गया था। उनके पास निषाद और नदी जीवन का प्राथमिक और उत्तप्त अनुभव है जिससे न केवल वे अपनी बल्कि पीछे छूट गये अन्य समुदायों की ज़िंदगी को बेहतर बनाने का प्रयास कर रहे हैं। अपने एक संक्षिप्त लेकिन अनुभवमूलक परचे 'नदी के दावेदार : वाराणसी के निषाद' में हरिश्चन्द्र बिंद ने रेखांकित किया है कि निषाद समाज के लोग प्राचीन काल से ही जल, जंगल और जमीन पर आश्रित थे। जब सड़कें नही हुआ करती थीं और व्यापार के लिए जलमार्ग ही प्रमुख साधन थे, उस समय निषाद समाज के लोगों की व्यापार में अहम भूमिका हुआ करती थी। और आज भी निषादों की आजीविका का एकमात्र सहारा नौकायन, खेती करना और मछली मारना तथा गंगा एवं सहायक नदियों से सम्बन्धित सभी कार्य हैं। निषाद समाज के लिए एक कहावत प्रचलित है कि 'जहाँ नदी है, वहाँ निषाद है और जहाँ निषाद है, वहाँ नदी।' निषाद और नदी एक दूसरे के पूरक हैं। गोविंद निषाद ने 'नदी, निषाद और उनका जीवन : सरयू नदी और उसके किनारे बसे एक गाँव का सन्दर्भ' विषयक अपने लेख में एक गाँव के निषाद जीवन को उकेरने का प्रयास किया है। यह परचा नदी से बाहर निषाद समुदाय के अनुभव और जीवन को साझा करता है। इसमें बताया गया है कि निषाद समुदाय अपने परंपरागत कार्यों के अतिरिक्त अन्य नए कार्यों से जुड़ रहा है। इसमें एक जगह गोविंद कहते हैं कि "मेरा परिवार जातिगत कार्यों से दूर चला गया है, जल सिर्फ़ अब हमारे स्मृतिलोक में बसा हुआ है।" यह लेख इस तरफ़ भी इशारा करता है कि एक बेहतर समुदाय के निर्माण के लिए केवल प्राकृतिक संसाधन तक पहुँच ही नहीं बल्कि राजनीतिक सबलीकरण और बेहतर शिक्षा आवश्यक शर्त है। निषाद समुदाय द्वारा रोजी-रोजगार के दूसरे अवसरों की तरफ़ जाने की बात सीमा यादव और नेहा राय ने भी रेखांकित की है। वे यह भी बताती हैं कि समुदाय के अंदर एक कशमकश चल रही है कि वे एक अनिश्चित रोजगार पर अपनी ज़िंदगी को पूरी तरह से निर्भर नहीं कर सकते और अपने बच्चों को पढ़ाई की तरफ किस प्रकार भेजें। इस संगोष्ठी में निषाद बुद्धिजीवी चौधरी लौटनराम निषाद ने एक महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिया था जिसे वे लिखित रूप में उपलब्ध नहीं करा सके, फिर भी अपनी अंतर्वस्तु और अनुभव की दृष्टि

से वह लाजवाब व्याख्यान था। उसमें लौटनराम जी ने निषाद समुदाय को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया था और 'निषाद ज्योति' पत्रिका की भूमिका की तरफ़ ध्यान दिलाया था। जितेंद्र सिंह ने 'निषाद समुदाय और प्राकृतिक संसाधनों पर हकदारी : प्रतिरोधी चेतना के स्वर' नामक अपने परचे में कहा है कि औपनिवेशिक समय से अब तक इस समुदाय को सत्ता और हक़दारी से दूर रखा गया है। आज यह समुदाय अपने हक़ की लडाई लड़ने में सक्षम हो चुका है। सामुदायिक इतिहास, मिथक, किवदंतियों आदि के द्वारा वे पुश्तैनी संसाधनों पर हकदारी पेश करने की कोशिश कर रहे हैं।

निषाद समुदाय और नदी से उनके सम्बन्धों पर बहुत ज्यादा तो नहीं लेकिन महत्त्वपूर्ण साहित्यिक और लोक सामग्री उपलब्ध है। इस संगोष्ठी में आशीष त्रिपाठी ने 'गंगा और उसका तटवर्ती समाज : हिन्दी साहित्य में निषाद, बनारस का सन्दर्भ' में रेखांकित किया था कि गंगा एक नदी से ज्यादा एक संस्कृति है। उसका इतना लंबा फैलाव उत्तर भारत में उसके महत्त्व को तो दर्शाता ही है, उसके दैवीय रूप को भी प्रतिष्ठित करता है। बनारस के सन्दर्भ में गंगा और उसके तटवर्ती समाज का खासकर निषाद समुदाय का उल्लेख हिन्दी के जिन रचनाकारों के यहाँ दिखाई देता है उनमें तुलसीदास, प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, रुद्र काशिकेय, शिवप्रसाद सिंह, त्रिलोचन, केदारनाथ सिंह, काशीनाथ सिंह से लेकर ज्ञानेन्द्रपति तक का नाम शामिल है। उनका लेख इस किताब में शामिल हो पाता तो क्या बात होती! धीरेंद्र प्रताप सिंह ने 'लोक संस्कृति में जलस्रोत' विषयक अपने परचे में कहा है कि जलस्रोत लोक संस्कृति के वाहक हैं। लोक-जीवन की सामूहिकता इन्हीं जलस्रोतों के किनारे सुदृढ़ होती रही है। यदि जलस्रोतों को बचाने के लिए सामूहिक प्रयास नहीं किए गये तो यह लोक संस्कृति को संकुचित और विघटित करने वाला कदम साबित होगा। वे रेखांकित करते हैं कि लोक-जीवन की सामूहिकता इन्हीं जलस्रोतों के किनारे सुदृढ़ होती रही है और अब उन जलस्रोतों के कब्र पर कंक्रीट का जंगल उगाया जा रहा है। इस स्थिति में जलस्रोतों को बचाने के लिए सामूहिक प्रयास करना होगा। जगन्नाथ दुबे ने 'पूर्व औपनिवेशिक भारत में नदी, निषाद और परिधीय समुदायों की चेतना : भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य का सन्दर्भ' नामक अपने परचे में कहा है कि आज हम जिस नदी, जल स्रोतों, प्राकृतिक संसाधनों और उस पर आश्रित समूहों के जीवन को लेकर चिंतित हो रहे हैं, वह चिंता आज अचानक से पैदा हो गई है, ऐसा नही है। इस चिंता के मूल में एक बड़ा कारण गांधी के विकास

मॉडल के समानान्तर औपनिवेशिक आर्थिक विकास मॉडल को चुनना भी है। गांधी जिस रास्ते देश को ले जाना चाहते थे, यह देश उस रास्ते आगे न बढ़कर एक ऐसे रास्ते से आगे बढ़ा है जिसमें मानवीय मूल्यों और पर्यावरण के लिए बहुत कम जगह बची है। उपनिवेश पूर्व भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में नदी जलस्रोत और प्रकृति की समान हिस्सेदारी थी। वह एक ऐसा समाज था जिसमें प्रकृति के साथ मनुष्य का रिश्ता सहजीवी किस्म का था। उसका यह रूप उस दौर के लोकगीतों और भक्त कवियों की कविताओं में देखा जा सकता है। इस संगोष्ठी का समापन भाषण शेखर पाठक ने दिया था जिसे लिखित रूप में शामिल नहीं किया जा सका। शेखरजी हिमालयी संस्कृति के चलते-फिरते विश्वकोश हैं। उन्होंने ध्यान दिलाया था कि हिमालय से निकलने वाली छोटी-छोटी नदियाँ बड़ी नदियों का निर्माण करती हैं। भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला की छतों पर होने वाली बारिश दो अलग-अलग घाटियों में बहकर जाती है। इस प्रकार जल अपना रास्ता बनाता हुआ चलता है। अब उन रास्तों में तरह-तरह के व्यवधान आते गये हैं। इसी प्रकार जलवायु परिवर्तन के कारण ग्लेशियर सिकुड़ रहे हैं। इससे नदियों का स्वाभाविक जीवन प्रभावित हुआ है। और यदि नदियों का जीवन प्रभावित हुआ तो भला मनुष्य का जीवन इससे कहाँ अछूता रह सकेगा? इस किताब में शामिल विभिन्न लेखों को पढ़ते समय पाठकों को किन्हीं बिंदुओं का दोहराव मिल सकता है। आधा दर्जन उपविषयों और नदी एवं समुदाय के इर्दगिर्द प्रस्तुत लेखों में यह स्वाभाविक है। इसके साथ यह दोहराव दिखाता है कि सभी सहयोगी विद्वानों के बीच चिंता का एक धागा जुड़ा हुआ है।

क्या यह एक खूबसूरत बात नहीं है?

सन्दर्भ :

1. रमाशंकर सिंह(2022), पृष्ठ 46-47.
2. लेजली मेन जॉनसन, 'विज़न ऑफ़ लैंड : कास्का एथ्नोइकोलॉज़ी', काइंड्स ऑफ़ प्लेस', एंड'कल्चरल लैंडस्केप, ''लेजली मेन जॉनसन और युज़ीन हन (2010),पृष्ठ 203-22.
3. https://www.youtube.com/watch?v=ysazOBhXz-Q 8 सितम्बर 2019 को देखा गया.

4. योगेन्द्र और सफ़दर इमाम कादरी (1990), पृष्ठ 11–12. मैं इस पुस्तिका को दुबारा भेजने के लिए पुष्यमित्र के प्रति कृतज्ञ हूँ.
5. योगेन्द्र और सफ़दर इमाम कादरी(1990).
6. https://www.bhaskar.com/news/if-the-illegal-endowment-of-coal-dhab-connected-to-ganga-does-not-stop-fishermen-will-do-water-satyagraha-023538-3067604.html 28 जनवरी 2020 को देखा गया
7. https://www.jagran.com/bihar/bhagalpur-protest-20873228.html 28 जनवरी 2020 को देखा गया
8. द स्टेट ऑफ़ इंडिया'ज़ एनवायरेनमेंट : द फर्स्ट सिटीजंस रिपोर्ट (1982), पृष्ठ 24.
9. द स्टेट ऑफ़ इंडिया'ज़ एनवायरेनमेंट : द फर्स्ट सिटीजंस रिपोर्ट (1982),पृष्ठ 23.
10. कलेक्टेड वर्क्स ऑफ़ महात्मा गाँधी, वॉल्यूम 10, पृष्ठ 171.
11. वासुदेव शरण अग्रवाल (2017), पृष्ठ 58–59.
12. कामा मैकलियन(2008).
13. बॉक्स नंबर 276, सीरियल नंबर 5, फ़ाइल नंबर 222, क्षेत्रीय अभिलेखागार प्रयागराज (आरएपी)
14. बॉक्स नंबर 401, सीरियल नंबर 2, फ़ाइल नंबर 129, आरएपी.
15. बॉक्स नंबर 346, सीरियल नंबर 7, फ़ाइल नंबर 87, आरएपी.
16. बॉक्स नंबर 350 ए, सीरियल नंबर 8, फ़ाइल नंबर 55, आरएपी.
17. बॉक्स नंबर 113, सीरियल नंबर 9, फ़ाइल नंबर 13, आरएपी.
18. जनरल एडमिनिस्ट्रेशन, फ़ाइल 610/1921, उत्तर प्रदेश राजकीय अभिलेखागार, लखनऊ (युपीएसए).
19. देखें अवधेन्द्र शरण का लेख — 'पवित्र नदी, प्रदूषित नदी : कुछ विचार गंगा नदी के सन्दर्भ में'.

खंड एक

नदी, स्मृति और सार्वजनिक दायरा

निषाद समुदाय का स्मृतिलोक और नदी

बद्री नारायण

भारतीय समाज को समझने और इतिहास को लिखने के लिए वैकल्पिक स्रोतों पर उचित ध्यान नहीं दिया गया है। यह लगभग सर्वमान्य तथ्य है कि विद्वत–समाज ने या तो संस्कृत, पाली–प्राकृत सहित भारतीय भाषाओं के प्रकाशित टेक्स्ट के द्वारा परिधीय समुदायों का इतिहास लिखने की कोशिश की है, या औपनिवेशिक और उत्तर औपनिवेशिक शासन द्वारा नियंत्रित, संरक्षित आर्काइव आधारित सामग्री के सहारे अपनी बात रखी है लेकिन उसने विभिन्न समुदायों की स्मृतियों के सहारे उनके उनके जीवन पर कोई विमर्श आगे बढ़ाने का प्रयास नहीं किया है। उसने भारतीय समाज में जल की उपस्थिति पर केवल विकास–मूलक नज़रिये से बात की है या उसकी आलोचना की है– नदियों पर बाँध नहीं बनाना चाहिए और उन्हें अविरल बहने देना चाहिए। इस पूरे विमर्श में स्वयं नदी को एक ऐतिहासिक पाठ के रूप में नहीं देखा गया है। 'उपेक्षित समुदायों के आत्म इतिहास' के सहारे मैं अपने वक्तव्य में इन चिंताओं को संबोधित करने के साथ ही साथ नदियों से उनके जुड़ाव पर बोलना चाहूँगा।

गंगा के किनारे दोनों तरफ विभिन्न समुदायों के लोग जैसे मछुआरे, मल्लाह, निषाद, फूल बेचनेवाले, पंडा और कुम्हार आदि समुदाय रहते आए हैं। कुम्हार मिट्टी के बर्तन बनाने के लिए गंगा नदी से मिट्टी लाता है। मल्लाह गंगा में अपनी नाव चलाता है। हम सामान्य ज्ञान की अपनी किताबों में पढ़ते आए हैं कि एक ही नद है बाकी नदी है। सोन नदी एक नद है जो बिहार में बहता है। आप देखेंगे तो पाएँगे कि प्रत्येक नदी एक नारी रूप में है। समाज के बीच नदी की शारीरिक रूपक की जो अवधारणा विद्यमान है, उसे मैं यहाँ प्रस्तुत करने जा रहा हूँ। यह ऐसा कठिन दस्तावेज़ है जिसे समाज विज्ञानियों द्वारा प्रायः दर्ज़ नहीं

किया गया है। फिर सवाल उठता है कि इसे कौन दर्ज़ करता है? मेरा मानना है कि यह उसी जनसामान्य द्वारा दर्ज़ किया गया है जो नदियों के किनारे रहता आया है। हाशिये पर उपस्थित जातियाँ अपना ज्ञानकोष खुद रचती हैं, वे अपनी परिभाषाएँ खुद गढ़ती हैं।[1]

गंगा एक सांस्कृतिक रूपक है जो कई नदियों के लिए प्रयुक्त किया जाता है। आप प्रत्येक नदी के रूपक में गंगा को पा सकते हैं। छोटी से छोटी नदियों के किनारे निवास करने करने वाला जन सामान्य भी उस नदी के लिए गंगा रूपक का प्रयोग करते हैं। वह इन छोटी नदियों में गंगा को आविष्कृत करते रहते हैं। इस प्रकार गंगा सांस्कृतिक रूपक के सन्दर्भ में प्रत्येक स्थान पर उपस्थित रहती है। जैसे– बिहार की कमला नदी जिसे सामान्य जनमानस में 'बिहार की गंगा' नाम से सम्बोधित किया जाता है। अगर कोई सूरीनाम जाये तो वह वहाँ 'गंगा तालाब' देख सकता है, यदि कोई मारीशस जाये तो वह 'गंगाजल' देख सकता है। इस प्रकार गंगा नदियों के लिए केंद्रीय रूपक के रूप में प्रयोग की जाती रही है।

किसी भी रहनवारी के साथ उसका अपना एक लोक सृजित होता है। उससे कोई न कोई साहित्य उपजता है। नदियों का भी अपना लोक साहित्य होता है। इसे आप नदी–साहित्य भी कह सकते हैं। यह नदी साहित्य सिर्फ़ संगीत, गायन का ही रूप नहीं होता बल्कि नदियों के किनारे के रहने वाले और स्वयं नदी के जीव–जगत को समग्रता में प्रस्तुत करता है। प्रत्येक नदी जैसे कमला, कोसी और सोन का अपना लोक साहित्य है और यह लोक साहित्य बहुत ही रोचक है। इस लोक साहित्य में आप नदियों का समुद्र तक प्रवाहित होने का विवरण पा सकते हैं। इस लोक साहित्य में कई सन्दर्भ होते हैं जैसे प्रत्येक नदी के लोक साहित्य में एक नायक होता है। यह नायक नदी के लोक साहित्य का केंद्रीय पात्र होता है। यह नायक सामान्य रूप से निषाद जाति से सम्बन्धित होता है। नायक नदी को पर्वत से समुद्र तक उसकी होने वाली यात्रा के लिए तैयार करता है। यह बहुत रोचक प्रसंग है कि नदी अपना मार्ग खुद ही तलाश लेती है लेकिन लोक साहित्य में यह विवरण मिलता है कि नदी अपना मार्ग खुद नहीं तलाशती बल्कि एक व्यक्ति है, जो नायक है–वह नदी की पर्वत से समुद्र तक की यात्रा के लिए मार्ग तलाशता है या निर्धारित करता है। वास्तव में, लोक कथाओं में तीन प्रकार के नायकों का विवरण मिलता है उनमें से एक का नाम 'दुलरा'

है। दुलरा एक व्यक्ति है जो लोक कथाओं के नायक का रूपक है। यही व्यक्ति नदियों की यात्रा के लिए मार्ग तैयार करता है। लोक साहित्य में तीन दुलरा हैं– पहला, विश्वामित्र जिसका नाम कौशिकी नदी के दुलरा दूलरा के लिए आता है, दूसरा दुलरा भागीरथी नदी के सन्दर्भ में आता है और तीसरा दुलरा कमला नदी से सम्बन्धित है। यह रोचक है कि दुलरा दयाल एक निषाद व्यक्ति है। इन तीनों नदियों की तरह आप प्रत्येक नदी के लिए लोक कथा पा सकते हैं। आपको इन नदियों के लोक कथाओं को जानने की जरूरत है। कमला नदी का लोक साहित्य दुलरा दयाल का लोक साहित्य है। कमला नदी नेपाल से प्रवाहित होकर उत्तर बिहार में बहती है और अंत में कोसी नदी में मिल जाती है। कोसी नदी बिहार के दूसरे भागों में प्रवाहित होती है। इस लोक साहित्य में उत्तराखंड के राजा भीमसेन दिखाई देते हैं जो हिमालय से संदर्भित है। वह दुलरा दयाल से प्रार्थना करते हैं कि 'कृपा करके जल्दी कुछ करो नदी का हाल ठीक नहीं है।' इस लोककथा में ऐसे दो व्यक्ति हैं जो कि निम्न जाति से सम्बन्धित हैं और नदी की यात्रा के लिए मार्ग निर्धारित करते हैं। नदी अपनी यात्राओं को याद रखती है। यदि आप किसी नदी की लोक यात्रा की शोध यात्रा कर सकते हैं तो आप समझ सकते हैं कि नदी इस तट से उस तट तक कैसी दिखाई देती है। आप नर्मदा नदी की यात्रा पर जा सकते हैं और नर्मदा नदी को नदीविहीन होते देख सकते हैं। वहाँ पर वह कई छोटे–छोटे तालाबों में बह रही है।

इसी प्रकार, सोन एक छोटा सा स्थान है जहाँ सिर्फ़ चुल्लू भर पानी है। आपको यकीन नहीं होगा कि यहीं से सोन नदी निकलती है। यह स्थान यहाँ के निवासियों के लिए विश्वास और आस्था का स्थान है। आपको पता है कि जहाँ से जल निकलता है, वहाँ ध्वनि की गति अधिक या तेज होती है। जिन्होंने इस नदी के लिए रास्ता तैयार किया है,वे यहाँ आते हैं, नदी से जुड़ते हैं और पुनः नदी की यात्रा करते हैं। नदी की लोक कथाओं में आप नदी के प्रवाहित होने के संपूर्ण दस्तावेज़ पा सकते हैं जैसे कि कौन था जिसने मार्ग तैयार किया? किसने नदी की धारा को बाँटा? बाँटने की संपूर्ण प्रक्रिया में किसने नदी की सहायता की? यह पहली बात है। दूसरी बात, जैसा कि मैंने कहा ज्यादातर नदियाँ नारी रूपक हैं और जनसामान्य में जो इसकी परिकल्पना है, वह नारी रूप में है। गंगा,यमुना और कमला जैसी नदियों के पास अपना स्वयं का रूपक है। इसको आप लोक साहित्य में भी पा सकते हैं। यहाँ कमला नदी के विवरण

पर मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा। लोक साहित्य में आए वृत्तांतों में कमला रोहू मछली पर बैठी हुई हैं, उनके हाथ में अनाज है और उनके चरणों में पाँच लोग चँवर डोला रहे हैं। यह लोग दुलरा दयाल के व्यक्तित्व के उदाहरण हैं। दूलरादयाल इस संपूर्ण मिथक का तो नायक है ही, उसमें कोयलावीर नामक एक अन्य व्यक्ति है समाज के निचले तबके से आता है। लोक कथाओं में कोयलावीर को एक ऐसे व्यक्ति के रूप में दर्शाया गया है जिसने मोरंग के राजा को पराजित किया है क्योंकि मोरंग के राजा ने कमला नदी का अपहरण करने की कोशिश की थी। इस लोक कथा में कमला नदी एक ब्राह्मण लड़की के रूप में है। मोरंग का राजा, जो जाति से चमार है, वह कमला नदी का अपहरण करना चाहता है। तब यह व्यक्ति कोयलावीर मोरंग के चंगुल से कमला नदी को छुड़ाने में मदद करता है और मिथिला ले आता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानवीय गतिशीलता नदी के इर्द–गिर्द है। नदी प्राकृतिक रूप से मानवीय क्रियाकलापों में सम्मिलित है। मानव नदी के दोनों तरफ लड़ाई और संघर्ष करता रहा है। उसका संघर्ष इस बात को लेकर होता था कि नदी की धारा किधर जायेगी? उस इलाके में जो राजा थे, वह नदियों पर कब्जा करने का प्रयास करते रहते थे। मैं सिर्फ़ इन लोक कथाओं से कुछ सूत्र पेश करने की कोशिश कर रहा हूँ ताकि यह साबित हो सके कि यह लोक कथाएँ एक सामाजिक दस्तावेज़ हो सकती हैं। वास्तव में, नदी के विकास का जो सामाजिक इतिहास रहा है, इसके विकास क्रम में जो संघर्ष और विवाद रहे हैं, वह महत्त्वपूर्ण सामाजिक इतिहास के दस्तावेज़ हो सकते हैं।

दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि कमला नदी से सम्बन्धित लोक साहित्य में कमला नदी एक मचिया[2] पर बैठी हुई हैं और सोने की कंघी से सोने का बाल झाड़ रही हैं और उनके चरणों में चँवर डोलाया जा रहा है। कमला नदी को इसमें एक महिला के रूप में दिखाया गया है। आप जानते हैं कि नदी एक स्त्री रूपक है और हमारे समाज की विभिन्न लोक कथाएँ नारी के लिए दुख व्यक्त करती हैं। भोजपुरी में एक बहुत ही रोचक लोकगीत है जिसमें एक औरत जो बाँझ या निसंतान है, जिसके कोई पुत्र नहीं है, समाज उसे तिरस्कार की नजरों से देखता है। इसी तिरस्कार से दुखी होकर वह स्त्री अपना दुख नदी को सुनाकर रो रही है। वह अपना दुख एक गीत के माध्यम से नदी को सुना रही है। उसके दुख को सुनकर गंगा प्रकट होती हैं और उसे संतान प्राप्ति का आशीर्वाद

देती हैं। आप जानते हैं कि एक औरत के लिए बाँझ होना समाज में उसके लिए सबसे बड़ा दुख बन जाता है। नदी औरत के सुख और दुख में हमेशा उपस्थित रहती है। नदी को हम औरतों की सखी, बेटी या माँ के रूप में देख सकते हैं। एक औरत की कल्पना में नदी के विभिन्न रूप होते हैं।

तीसरी बात, नदियाँ हमारे जीवन में दो रास्तों से प्रवेश करती हैं। एक वास्तविक रूप में जबकि दूसरा है कल्पनारूप में। कल्पना में हम किसी तालाब में भी गंगा को आविष्कृत कर सकते हैं। हमारे पास एक तालाब है और हम उस तालाब को गंगा मानकर उसमें अपनी आस्था प्रकट कर सकते हैं। यह रोचक प्रसंग है कि हमारे समाज में नदी का अर्थ ही गंगा होता है। ऐसा इसलिए है कि गंगा को सबसे पवित्र नदी माना गया है। औपनिवेशिक शासन के दौरान भोजपुर, बिहार तथा उत्तर प्रदेश से जो लोग अन्य देशों में चले गये, वह जिन देशों में भी गये, वहाँ उन्होंने अपनी गंगा आविष्कृत कर ली। जब वे सूरीनाम, त्रिनिदाद, गुयाना, मारीशस तथा अन्य दूसरे देशों में बस गये तो गंगा भी उनके साथ यात्रा करके उनके साथ वहाँ बस गई। यहाँ गंगा नदी का अर्थ वास्तविक रूप में गंगा से नहीं है बल्कि काल्पनिक रूप से है। उन्होंने कल्पना में ही गंगा को अधिकृत किया इस प्रकार गंगा उनके साथ स्मृति के रूप में यात्रा करती रही। स्मृति के भीतर जो कल्पना होती है, वह वास्तविक नहीं होती है। स्मृति वह समय है, जब हम स्मृति को वास्तविकता के एक तरीके के रूप में देखते हैं। तो यह एक बेहद रोमांचकारी प्रसंग है कि नदी कैसे स्मृति में बदल जाती है। लोगों के लिए जल निकाय या नदी स्मृति के सन्दर्भ में कैसे परिवर्तित हो जाती है? यदि आप लोक कथाओं को देखें तो समझ सकते हैं कि लोग कल्पना करते हैं और इन कल्पनाओं में चार–पाँच तरीके शामिल होते हैं।

पहला तरीका है कि नदी लोककथाओं को जन्म देती है। इस पर हम पहले बात कर चुके हैं। इसे एक और तरीके से देख सकते हैं। प्रत्येक नदी के पास अपना लोकसाहित्य होता है जिसमें एक केंद्रीय लोककथा होती है और इससे जुड़ी हुई कई छोटी–छोटी लोक कथाएँ होती हैं। यह लोक कथाएँ सामान्य नदी के किनारे रहने वाले समुदायों की सामुदायिक लोककथाएँ होती हैं। इस प्रकार आप देखेंगे कि नदी के किनारे रहने वाले प्रत्येक समुदाय के पास नदी के बारे में अपनी अलग–अलग लोककथाएँ होती हैं। यह लोककथाएँ विभिन्न समुदायों की नदियों से उनके सम्बन्धों के बारे में बताती हैं और अपने स्वयं के स्थान

से हर समुदाय के नदी के साथ सम्बन्ध को परिभाषित करने के मामले में अपनी स्थिति है। इस प्रकार आप देखते हैं कि इस तरीके से नदी सांस्कृतिक मौखिकता के साथ लोककथाओं का निर्माण कर रही है। दूसरा तरीका है कि नदी ध्वनि पैदा करती है। इस ध्वनि को विभिन्न समुदायों के संगीतकारों के द्वारा लोकगीतों तथा अपने कार्यक्रमों में शामिल कर लिया गया है। जैसे कि कमला नदी का अपना एक विशेष नाच है जिसे ''कमला नाच'' कहते हैं। यह बहुत ही रोचक है कि एक नदी के नाम पर नाच है और इस नाच में एक अनूठा वाद्य यंत्र है और इस वाद्ययंत्र में अनेक उपकरण हैं जो विभिन्न ध्वनियों को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार यह एक मौखिक संस्कृति का निर्माण करते हैं। ध्वनि लोगों की कल्पनाओं में स्मृति के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। यह ध्वनि कैसे काम करती है, इस पर बहस करने का समय यहाँ नहीं है। तीसरा जो तरीका है, वह है कर्मकांड का। नदी अनुष्ठान के रूप में और कर्मकांड के हिस्से के रूप में बदल जाती है जैसे मॉरीशस में। वहाँ आप किसी विवाह में जाएँ तो देखेंगे कि दूल्हे का पाँव–धोवाई होती है। पात्र में पानी रखते हैं और मान लेते हैं कि उसमें गंगा है और लोग 'गंगा गीत' गाते हैं। यह विवाह में होने वाला एक अनुष्ठान है जिसमें वह कल्पना करते हैं कि नदी खुद आ गई है। नदी अनुष्ठान का केंद्रीय पात्र बन जाती है और अनुष्ठान की संरचना के द्वारा नदी बार–बार हमारी स्मृति में आती है। अगर विवाह होगा तो उसमें नदी जरूर आएगी, जो स्मृति के रूप में होगी। इस प्रकार अनुष्ठान, कर्मकांड एक दीर्घकालीन स्मृति निर्माण का एक तरीका है। चौथा तरीका है दृश्यता का, प्रत्येक नदी का अपना एक दृश्य है जो लोगों की कल्पनाओं में है। प्रत्येक नदी की एक मूर्ति होती है जो भले बनी हो या बनी हो जैसे कि कमला नदी के लोक साहित्य में हम पाते हैं कि कमला देवी कैसी हैं, वे सोने के कंघे से अपने केश सँवार रही हैं, रोहू मछली पर बैठी हैं, हाथ में अनाज है तो यह कमला की मूर्ति है। ठीक इसी प्रकार गंगा और यमुना की भी मूर्ति है जो आध्यात्मिकता के अलग–अलग स्वरूप में अनेक प्रकार की है। मैं यहाँ बताने का प्रयास कर रहा हूँ कि वह कौन से दृश्य हैं जो स्मृति निर्माण में सहायक हैं। यदि आप किसी को चिन्हित करते हैं तो वह हमारी मौखिक संस्कृति में एक दृश्य है। आप बनाते या चिन्हित करते समय सोचते हैं– वह ऐसी है, तब आप एक मूर्ति बनाते हैं जो आपकी सामुदायिक दुनिया में बार–बार दिखाई देती है और यह एक स्मृति का निर्माण

भी करती है। यह रोमांचकारी है कि यहाँ स्मृति और वास्तविकता दोनों साथ है और जुड़ी हुई हैं। आमतौर पर एक के जाने के बाद दूसरा शुरू होता है लेकिन यहाँ दोनों साथ साथ चलते हैं। यहाँ एक बार फिर हम कमला नाच पर आते हैं। कमला नाच में एक भगत होता है जो कमला नाच में केंद्रीय भूमिका अदा करता है। कमला नाच में दो तरह की परंपराएँ है— एक है गायकी की और दूसरी है नृत्य की परम्परा। गायकी तो बैठकर करते हैं लेकिन नृत्य में कई कार्यक्रम करते हैं। इस नृत्य में भगत मुख्य भूमिका में होता है। नृत्य के अंत में एक समय आता है जब भगत को शक्ति प्राप्त होती है।इ स शक्ति से वह दूसरों को आशीर्वाद देता है। भगत उन बाँझ महिलाओं को भी संतान प्राप्ति का आशीर्वाद देता है जो नदी के पास जाकर अपना दुख सुनाती हैं। जिस प्रकार कमला नदी बहुरा डायन का प्रतिवाद करती है उसी प्रकार भगत कमला नदी के आशीर्वाद से लोगों की समस्याओं का समाधान होता है।[3] यहाँ मैं सिर्फ़ कमला नदी को रेखांकित कर रहा हूँ लेकिन आप ऐसे अनुष्ठान प्रत्येक नदी में, प्रत्येक स्थान पर पा सकते हैं।

अब हम आते हैं निषाद जीवन पर। निषाद ही वह समुदाय है जो गंगा के दोनों किनारों पर रहता आया है। मैं पहले ही बता चुका हूँ कि लोककथाओं में निषाद ही वह व्यक्ति है जो नदी की एक स्थान से दूसरे स्थान तक प्रवाहित होने में उसकी मदद करता है। वे लोककथाओं में एक योद्धा की तरह दर्शाए गये हैं न कि केवल एक ऐसे व्यक्ति के रूप में जो मल्लाह है। मल्लाह एक अरबी शब्द है। मुझे नहीं पता कि वे वास्तविक रूप में क्या थे लेकिन लोककथाओं में यह एक ऐसे योद्धा के रूप में है जो उस क्षेत्र के राजा से लड़ता था। आपने सुना होगा राजा लोग नदियों पर कब्जा कर लेते थे,चुरा लेते थे। निषाद योद्धा इन्हीं राजाओं से युद्ध करके नदियों को उनके चंगुल से मुक्त कराते थे। आप निषादों के बीच में कई उपजातियों को पा सकते हैं जैसे निषाद, मल्लाह, केवट, कैवर्त आदि। नदी संसाधनों का निर्माण करती है। हम लोग नदी को सिर्फ़ एक संसाधन के रूप में देखते हैं जिसमें जल है, बालू है, मछली है। इस संपूर्ण लोककथा में संसाधन दूसरा भाग है जैसा कि मैंने कहा नदी की संपूर्ण यात्रा में पहला कार्य संस्कृति निर्माण का है जबकि दूसरा संसाधनों के निर्माण का है। नदी का संसाधन भी समुदाय से सम्बन्धित है। निषाद नदियों के किनारे बिलकुल प्रारंभिक समय से रहते आए हैं। उनके पास नदियों के उत्पाद पर

प्राकृतिक अधिकार का एक मौलिक दावा भी है। इन अधिकारों में उनका मछली मारने का अधिकार, नदी किनारे खेती करने का अधिकार, नमक बनाने का अधिकार, नाव चलाने का अधिकार शामिल है। निषादों की विभिन्न जातियाँ नदियों के संसाधनों पर अपना व्यवसाय और उत्पादन करती हैं, वे करीब 20 से 30 उपजातियों में विभाजित हैं। इस प्रकार वे नदी के प्राकृतिक संसाधनों का आपस में बँटवारा कर लेते हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि वे नदियों के प्रवाह में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। उसके बाद नदियों पर आश्रित समुदायों में आते हैं पंडा, आध्यात्मिक गुरु, फूल वाला, मिट्टी के बर्तन बनाने वाला और भी बहुत से समुदाय हैं जो नदी से विभिन्न प्रकार से जुड़े हुए हैं। यह समुदाय नदियों को साफ रखने में नदी की मदद करते हैं।

लेकिन इन नदियों पर एक दूसरा दावाकर्ता भी है जो औपनिवेशिक राज्य के बाद भारतीय राज्य है। यहाँ यह समझना जरूरी है कि नदी के संपूर्ण संसाधनों की संरचना पर राज्य का एकाधिकार कैसे हुआ और वे कैसी प्रतिक्रिया देते हैं। किस प्रकार नदी के संसाधनों को स्थानांतरित किया गया, हटा दिया गया। हम नहीं जानते कि कैसे राज्य ने बिना किसी प्रतिरोध के नदी पर कब्जा कर लिया? अच्छी तरह से शोध करने वालों को लोककथाओं में प्रतिरोध के स्वर कोयलावीर, अमर सिंह,जय सिंह तथा दुलरा दयाल के रूप में मिल जाएँगे। यह सभी प्रतिरोध की प्रक्रिया का हिस्सा हैं। मैं यहाँ जेम्स स्कॉट की महत्त्वपूर्ण किताब 'द आर्ट ऑफ़ नॉट बीइंग गवर्न्ड' का ज़िक्र करना चाहूँगा जिसमें वे कहते हैं कि पश्चिमी देशों द्वारा साम्राज्य बनाने का विरोध विभिन्न समुदाय करते रहे हैं और वे कहते हैं कि आपके लिए यहाँ कोई जगह नहीं है। औपनिवेशिक काल में आप कई समुदायों को पा सकते हैं जो औपनिवेशिक राज्य से नाराज थे। उन समुदायों को आपराधिक जनजातियों में याद किया जाता था। उनके लिए सार्वजनिक जीवन में कोई जगह नहीं थी। एक रोचक कहानी है सुल्ताना डाकू की। सुल्ताना डाकू का नाटक कानपुर के आसपास खेला जाता था और कानपुर से शुरू होकर इटावा तक जाता था। इस कहानी में यह दिखाया गया है कि सुल्ताना डाकू अंग्रेजों के जाते बेड़ों पर हमला करता था। मैं नहीं जानता कि उसका उद्देश्य धन था,धन तो उद्देश्य नहीं रहा होगा क्योंकि वह एक मानवीय दस्यु के रूप में दर्शाया गया है। लेकिन वह प्रतिरोध की एक आवाज़ था जो उस क्षेत्र में अपने समुदाय के बीच बहुत लोकप्रिय था। वह अपनी इच्छाओं

तथा समाज की इच्छाओं का प्रतिनिधि था और यह इच्छाएँ उस क्षेत्र के औपनिवेशिक अधिकारियों से होकर जाती थी।

इसलिए मैं कहना चाहता हूँ कि यह जो नदी आधारित समुदाय हैं, उनका इतिहास निर्माण बहुत ही रोचक है। यदि आप अध्ययन करेंगे तो पाएँगे कि वह कैसे आते हैं और वे किस तरह नदियों के किनारे व्यवस्थित हो जाते हैं। औपनिवेशिक शासन ने कई अन्य समुदायों को उजाड़ दिया लेकिन निषाद समुदाय कैसे बच सका? निषादों के इतिहास का पता लगाने पर समझ पाएँगे कि कैसे वे मुख्यधारा की संस्कृति का हिस्सा बन गये और वे आज अपनी खुद की ''निषाद संस्कृति'' परंपरा का अच्छी तरह से दावा करते हैं। इसके लिए वे कई आख्यानों का प्रयोग करते है जैसे—निषादराज गुह्य ने श्रीराम को नदी पार कराया। एकलव्य तथा बहुत से व्यक्तित्व को वे अपनी संस्कृति से जोड़ते हैं। उनके पास अपनी सांस्कृतिक पूँजी है जो परंपरा को जीवित संस्कृति के रूप में लाती है। अब राजनीतिक ध्रुवीकरण और सांस्कृतिक पूँजी को राजनीतिक पूँजी में बदला जा रहा है लेकिन राजनीतिक पूँजी समाज द्वारा नहीं बदलकर राजनीतिक पार्टी द्वारा बदली जा रही है। यह बदलाव समाज के भीतर से नहीं आ रहा है बल्कि ऊपर से आ रहा है। मैं बस इतना चाहता हूँ कि कैसे सांस्कृतिक पूँजी का इस्तेमाल राजनीतिक दलों द्वारा किया जाता है औरवे कैसे सफल हो रहे हैं?

होता क्या है कि जब संस्कृति सामान्य जनजीवन में महत्त्वहीन होने लगती है तब उसको वहाँ से लेकर राजनीति में प्रयोग किया जाता है। संस्कृति जब तक सामान्य जनजीवन का भाग होती है, इसका राजनीतिक इस्तेमाल बहुत कठिन होता है लेकिन जब हमारे सामान्य जनजीवन में वह मृत होने लगती है तब राजनीति को हम अवसर देते हैं कि वह इसे अपने कब्जे में कर ले। वर्तमान में निषाद संस्कृति भी आधुनिकता से प्रभावित है, इसका परिप्रेक्ष्य बदल रहा है जिसको नजदीक से देखने की जरूरत है।

सन्दर्भ :

1. बद्री नारायण एवं अन्य (2006), पृष्ठ 16.
2. एक बहुत छोटी कुर्सी जैसा फर्नीचर जिसे रस्सी से बुना जाता है. काठ के चार पाये होते हैं. मुश्किल से एक हाथ चौड़ी, एक हाथ लंबी और उतनी ही ऊँची वस्तु.
3. प्रफुल्ल कुमार सिंह 'मौन' और अश्विनी कुमार आलोक (2018).

नदी, स्त्रीत्व और उत्सवधर्मिता का अंत:सम्बन्ध : कुम्भ मेले में स्त्रियों का दैनंदिन जीवन

अर्चना सिंह

नदियों को माँ की संज्ञा से अभिषिक्त तो किया गया है लेकिन उसके आसपास स्त्रियों की रोज़मर्रा की ज़िंदगी को समझने का प्रयास कम किया गया है। ऐनी फेल्डहॉस ने अपनी किताब 'वाटर एंड वुमनहुड : रिलीजियस मीनिंग्स ऑफ़ रिवर्स इन महाराष्ट्र' धर्म, साहित्य और पवित्र प्रतीकों के बीच परस्पर सम्बन्धों का व्यापक अन्वेषण किया है। वे बताती हैं कि तापी, भीमा और कृष्णा जैसी प्रमुख नदियाँ एक काल्पनिक परिदृश्य के रूप में, मनुष्यों के साथ जुड़ी हैं और वे स्त्रियों के जीवन और कल्पना को प्रभावित करती हैं।[1] नदियों की धार्मिक व आध्यात्मिक व्याख्या हमारे जीवन से गहरे जुड़ी है। ये दैवत्व व पवित्रता के प्रतीक के रूप में देखी जाती है। जैसाकि डेविड किंग्सले कहते हैं कि भारत में नदियाँ भौतिक और आध्यात्मिक दोनों अर्थों में पवित्रता की अवधारणा से जुड़ी हैं। नदी का जल मोक्ष देने वाला माना जाता है। नदी ही पापों से मुक्ति व आध्यात्मिक पुनर्जीवन का स्रोत होती है। मैंने नदी को एक अलग अर्थ में देखने का प्रयास किया है। इस परचे का शीर्षक है–नदी, स्त्रीत्व और उत्सवधर्मिता का अंत:सम्बन्ध : कुम्भ मेले में स्त्रियों का दैनंदिन जीवन। मैं इसमें बताना चाहती हूँ कि मेले जो अक्सर नदियों के किनारे लगते हैं, वे कैसे एक लोकवृत्त का निर्माण करते हैं जिसकी मुख्य हितधारक महिलाएँ होती हैं। जैसा कि ऐनी फेल्डहॉस कहती हैं कि नदियाँ भारत में केवल जल स्रोत नहीं है बल्कि जीवन के विभिन्न धार्मिक, मिथकीय व प्रतीकात्मक रूपों से जुड़ी हैं। नदी से जुड़े अनुष्ठानों में महिलाओं की मुख्य सामाजिक या आध्यात्मिक भूमिका होती है।

प्राय: महिलाएँ ही इन धार्मिक व सांस्कृतिक परम्पराओं की वाहक होती हैं और पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित करती हैं।[2] सामान्यत: जब लोग इस तरह के मेलों में जाते हैं तो वहाँ कोई भी श्रेणीगत भेदभाव खत्म हो जाता है, सभी लोग समान हो जाते हैं और बिना किसी भेदभाव के समान रूप से इन मेलों में भागीदारी करते हैं। यह भागीदारी कई प्रकार की हो सकती है। भागीदारी की समानता की अवधारणा रेखांकित करते हुए नैंसी फ्रेज़र ''रिथिंकिंग द पब्लिक स्फीयर: अ कॉन्ट्रीब्यूशन टू द क्रिटीक़ ऑफ़ एक्चुअली एक्जिस्टिंग डेमोक्रेसी'' (1992) में कहती हैं कि इसे विस्तृत किया जाना चाहिए। फ्रेज़र भागीदारी को लोकतांत्रिक सार्वजनिक दायरे के एक प्रमुख तत्व के रूप में रेखांकित करती हैं।[3] लेकिन मैं यहाँ अपने काम में देखना चाहती हूँ कि यह 'लोक स्थान' या पब्लिक प्लेस स्त्रियों को किस तरह का अवसर देते हैं, जहाँ कई नवीन अस्मिताओं का सृजन होता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को पूर्व स्थापित धारणाओं से देखना नहीं ठीक है। प्राय: लोग इसे बहुत सतही तरीके से देखते हैं। कुम्भ मेले में मैंने लगातार प्रतिभागी अवलोकन का प्रयोग करके यह देखा है कि स्त्रियों के जीवन में यह लोकवृत्त कैसे काम कर रहा है? मैंने अपने काम को दो हिस्सों में विभाजित किया है। पहला हिस्सा स्त्री संन्यासियों पर और दूसरा हिस्सा स्त्री कल्पवासियों पर केन्द्रित है।

नदियों के किनारे मेलों की एक पुरानी परंपरा रही है। इन मेलों की प्राथमिक प्रतिभागी स्त्रियाँ धार्मिक कर्मकांडों में हमेशा मुख्य भूमिका निभाती हैं। वे कभी अपने पति के लिए, कभी परिवार के लिए, कभी अपनी संतानों के लिए अनेक प्रकार की पूजा–व्रत करती हैं। यह जो व्रत और पूजा है, इसमें नदियाँ बहुत ही गहन तरीके से जुड़ी हुई होती हैं क्योंकि यह सारे व्रत–पूजा और अनुष्ठान नदियों के किनारे स्नान से शुरू होते हैं। उनको सम्पादित करने का यह एक व्यापक दायरा उपलब्ध कराती हैं। इस प्रकार इन सारे अनुष्ठानों का नदियों से बहुत गहरा सम्बन्ध होता है। अगर आप छठ या किसी अन्य त्यौहार को ध्यान से देखिए तो यह सारे नदियों के किनारे होते हैं जहाँ पर स्त्री अपनी इच्छाओं को अभिव्यक्ति देती हैं। शायद इनके नदियों से शुरू होने में यह जो स्त्रीधर्मिता है, उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है क्योंकि स्त्रियाँ नदियों की स्त्रीधर्मिता से अपने को जोड़कर वहाँ जाकर अपने कष्ट और आकांक्षाएँ नदी के सामने व्यक्त करती

हैं। तब वह नदी को एक मनुष्य के रूप में देखती हैं। नदियों को सिर्फ़ नदी के रूप में न देखकर वे इन्हें एक ऐसे रूप में देखती हैं जो उनके कष्टों को आसानी से समझ सकता है। अगर आप देखें तो पाएँगे कि उनकी बहुत प्रकार की, अपनी तरह की समस्याएँ हैं जो वे नदियों के साथ बाँट सकती हैं। अगर आप लोकगीतों में देखें तो ऐसे कई गीत आपको मिलेंगे जो नदियों से स्त्रियों के दुखों का बयान करते हैं जैसे– 'गंगा मैया तोहे पियरी चढ़ाइबो' अथवा 'पियवा से मिलनवा कराई दा'। यहाँ स्त्री अपने पति से जो वियोग है, उसके दुख को नदी के साथ बाँट रही है। इस प्रकार एक बहुत ही अतरंग प्रकार का रिश्ता किसी नदी का एक स्त्री से विकसित होता है। लेकिन इसमें दिक्कत कहाँ आती है? जहाँ तक छोटे-मोटे अनुष्ठान या धार्मिक मेले हैं, तो वहाँ हम कह सकते हैं कि यह स्त्रियों का अपना स्पेस है, इसलिए यहाँ पर वे अपने कार्यों को कर सकती हैं लेकिन जैसे ही एक बड़े स्थान, जैसे कुम्भ मेले की बात आती है तो यह मेला स्त्रियों का एक स्थान (प्लेस) न रहकर धार्मिक, सांस्कृतिक और चुनावी राजनीति का स्थान बन कर रह जाता है। इस स्पेस पर दावेदारों की संख्या बढ़ने लगती है। स्त्रियाँ इस स्पेस से पूरी तरह से गायब तो नहीं होती हैं लेकिन सीमांत दायरे में सिमट जाती हैं। नदी की स्त्रीधर्मिता के साथ उनके संवाद में शोर और पीड़ा प्रवेश कर जाती है। यहाँ पर उनके स्थान को लेकर कई तरह की समस्याएँ होने लगती हैं। जहाँ वह पहले छोटे-छोटे गाँव के मेलों और तालाबों के किनारे अपने अनुष्ठान करती थीं, वहाँ अब ऐसी परिस्थितियाँ नहीं रह जाती हैं क्योंकि यह अब एक बड़ी राजनीतिक परियोजना का हिस्सा बन जाता है। जैसे मेला बड़ा होने लगता है, वैसे ही वहाँ तमाम तरह के दावेदार आ जाते हैं। जब मेला बड़ा होता जाता है तब दावेदार बड़े होने लगते हैं। तब वहाँ पर स्त्रियों को अलग-अलग ढंग से अपने दावों को पेश करना पड़ता है।

कुम्भ का जो महत्व है, वह यह था कि यहाँ पर सभी धर्म के लोगों को बुलाया जाता है और उनके बीच विचार-विमर्श होता था। यह एक सर्वसमावेशी सांस्कृतिक आयोजक होता है लेकिन बाजार, राजनीति और शक्तिशाली दावेदारियाँ स्त्रियों या कमजोर समूहों को सीमान्त बना देते हैं। निषादों को गंगा में नाव चलाने से भी रोका जाता है। ऐसी कई तरह की प्रक्रिया है, जहाँ उन्हें बहिष्कृत किया जाता है। बड़े मेलों में एक मुख्य धारा और एक बहिष्कृत धारा चलने लगती है। मेला जब बड़ा होता है और एक राजनीतिक परियोजना के तहत काम

करता है तब उसका एक दावा होता है अपने को सर्वसमावेशी दिखाना। तब इसमें किन्नर, अखाड़ों, दलित संतों और स्त्रियों का प्रवेश होता है। स्त्रियों को महामंडलेश्वर बनाया जाता है। जब भी किसी को समावेशन की प्रक्रिया में उन्हें स्थान दिया जाता है, तब स्थान देने वाला यह नहीं सोचता कि यहीं से प्रतिरोध का स्वर भी आएगा। प्रतिरोध के स्वर आने पर टकराहटें होने लगती हैं। मेला जो कि समावेशी और समाहारी है, वह एक संघर्ष के स्पेस के रूप में उभरने लगता है। यहाँ शक्ति प्रदर्शन के विभिन्न दृश्य व अदृश्य प्रतीक काम करते हैं। यह संघर्ष केवल स्त्री–पुरुष के होकर समुदायों को, मूल हितधारकों व बाजार का, विमर्शों के भी होते हैं जो छोटी–छोटी टकराहटें पैदा करने लगता है। कुम्भ मेले में वाल्मीकि समुदाय का आश्रम था। इस आश्रम के संतों ने इस बात को लेकर कई दिनों तक अनशन किया कि एक अन्य आश्रम के संत ने प्रवचन में वाल्मीकि को डाकू कहा था। उनका कहना था कि हमारे संतों का अपमान किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यहाँ एक समावेशन और दावे की प्रक्रिया भी चल रही है। इस प्रकार यह केवल धार्मिक स्थान नहीं रह जाता कि आप यहाँ आए, स्नान किया और चले गये। यह एक ऐसे लोक (प्लेस) को बनाता है जहाँ हर आदमी अपने सम्मान को लेकर पूर्ण रूप से सजग है। ये समावेशी मेला जिसका मूल तत्व बहुलता का सम्मान है, जाने–अनजाने टकराहटों का सामना करता रहता है। कुम्भ मेले में इस तरह के छोटे–छोटे संघर्ष लगातार चलते रहते हैं और इन संघर्षों में फिर बहिष्करण की प्रक्रिया आती है। कभी प्रशासनिक जरूरतों के नाम पर, कभी राजनीति जरूरतों के नाम पर, कभी मूल्यों और परम्पराओं के नाम पर लोगों को रोका जाता है। जैसे इस बार, 2019 के कुम्भ में आप सब लोगों ने देखा होगा कि किन्नर संतों की ओर से बहुत सारे दावे किए जा रहे थे लेकिन जब वह लोग एक शाही स्नान के लिए जा रहे थे तब प्रशासन ने उन्हें रोक दिया और कहा कि आपने पहले से अनुमति नहीं ली है और हमें अखाड़ों की जो सूची दी गई है, उसमें आपका नाम नहीं है– इसलिए आपको स्नान नहीं करने दिया जायेगा। इसी तरह से और स्त्री अखाड़ों को स्नान करने से रोका गया। इस प्रकार जहाँ–जहाँ से प्रतिरोध का खतरा दिखाई दिया, वहाँ वहाँ वे बहिष्कृत करते गये। जहाँ एक तरफ यह चल रहा था कि यह आयोजन एक सर्वसमावेशी आयोजन है, वहीं दूसरी तरफ बहिष्करण की प्रक्रिया लगातार चलती रहती है। इस तरह के लोकवृत्त (प्लेस) की जो सबसे अच्छी

बात है, वह यह है कि जब आप इस लोकवृत्त में आ जाते हैं तब यह लोकवृत्त एक तरह की शक्ति आपको प्रदान करते हैं जहाँ पर आप अस्मिताओं की पुनर्निर्मिति नए रूपों में कर सकते हैं, ऐसा इस कारण नहीं है कि कहीं आप बहिष्कृत न कर दिए जाएँ क्योंकि अगर आप ऐसा नहीं करते तो बहिष्कृत हो सकते हैं। इसलिए आप एक निश्चित निर्णय लेते हैं और वहाँ पर बने रहते हैं। जैसा मैंने पहले भी कहा है कि स्त्रियों की भागीदारी नदी और मेलों में बहुत पुरानी है। यह स्त्रीधर्मिता और नदियों के अंतर्संबंधों के दावों को और भी सशक्त करता है। ये दैनिक अनुष्ठान महिलाओं की पवित्रता के संरक्षक के रूप में अपनी भूमिका बनाए रखते हैं।[4] जैसाकि ऋग्वेद के देवी सूक्त में स्त्री को धरती का आधार कहा गया है। हिंदू धर्म ग्रंथों में भी लगातार स्त्री शक्ति का वर्णन किया गया है। एक बहुत अच्छा काम है 'अनस्पोकेन वर्डनेस' अलफ्राड ग्रास का है, जिसमें वह कहते हैं कि स्त्रियों के केवल दो कार्य होते हैं– पहला कि घर में स्त्रियों की जो धार्मिक अनुष्ठानों में भागीदारी होती है वह सिर्फ़ आयोजनों तक सीमित होती है उनकी भागीदारी किसी ऐसे महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान में नहीं होती जिससे कोई बदलाव आ सके और दूसरा स्त्री का एक बड़ा भाग किसी एक का अनुयायी होता है। धार्मिक प्रयोजनों से जुड़ी हुई स्त्रियाँ अपने परिवार, पति और समाज की बेहतरी के लिए लगातार व्रत और तपस्या करती रहती हैं। अपने धार्मिक कर्तव्यों का पालन करती हैं। अगर आप इसको थोड़ा आलोचनात्मक दृष्टिकोण से देखिए तो आपको यह जो देवी का विशेषण है, वह बताता है कि स्त्रियाँ अपने धर्म के लिए, परिवार के लिए और समाज के लिए अपनी भूमिका का निर्वाह करती हैं, तब आप वहाँ कैसे एक शुरूआती क्षमता की उम्मीद कर सकते हैं जो पहले ही एक भूमिका में बाँध दी गई है। यह आलोचना नहीं है बल्कि हमें खुले मन से सोचने की जरूरत है। जैसे ही बड़े या मैक्रो प्लेस की बात आती है, यह तयशुदा भूमिका अलग तरीके से सीमित कर दी जाती है।

मुझे ऐसा लगता है कि नदी जो लगातार प्रभावित होती रहती है, वह स्त्रीत्व के जो बंधन होते हैं उसको पार कर पाती है। इस सेमिनार में जब आशीष त्रिपाठी बोल रहे थे तो उनसे मुझे कुछ मदद मिली जब वे अनुबंधित विवाह के बारे में बता रहे थे। मुझे भी याद आया कि गंगा ने भी एक शर्त रखी थी— प्रश्न न पूछने की। मैं पहले कह रही थी कि हर तरह के प्रभुत्व के ठीक बगल में, एक प्रतिरोध भी उत्पन्न होता है। और गंगा ने जो प्रतिरोध किया था, शायद यही

दावा है जो यहाँ पर स्त्रियों के लिए एक बड़ा लोकवृत्त बनाता है जहाँ पर वह अस्मिताओं की पुनर्निर्मिति कर सकती हैं। यद्यपि स्त्री प्रतिरोध को नियंत्रित कर समाज के सुचारू रूप से संचालन के लिए बने नैतिक नियम लगातार प्रतिरोध को क्षीण करते हैं परंतु प्रतिरोध कभी भी मरता नहीं है, क्षीण होता है और फिर कभी समय आता है तो यह प्रभुत्व को चुनौती देता है। आप देखिए तो थेरी गीतों से लेकर भक्तिकाल के स्त्री संतों तक में प्रतिरोध का प्रवाह लगातार रहा है। इस प्रतिरोध के रूप अलग-अलग रहे हैं और इस प्रतिरोध की अपनी एक जमीन है। एक सांस्कृतिक अस्मिता है जो प्रतिरोध को लगातार जिंदा बनाए रखती हैं। जैसा कि स्टुअर्ट हॉल कहते हैं कि सांस्कृतिक अस्मिता की अपनी एक जमीन होती है, वह हवा में नहीं होती है। उसका अपना एक इतिहास होता है। वह लगातार परिवर्तनशील रहता है। प्रतिरोध के रूप बदलते रहते हैं। कई बार हमें लगता है कि आज के समय में प्रतिरोध कम हो गया। ऐसा इसलिए होता है कि कई बार रणनीतिक निर्धारण (स्ट्रेटिजिकल पोज़ीशनिंग) के कारण प्रतिरोध क्षीण हो जाते हैं परंतु प्रतिरोध उपस्थित रहता है। प्रश्न यह है कि प्रतिरोध की जरूरत क्यों है? मैं अपनी बात को न्यायोचित ठहराना चाहती हूँ कि मैं मेले में प्रतिरोध ऐसे शून्य में नहीं खोज रही थी। इस बात को बताने के बाद शायद आपको समझ में आए कि इस प्रतिरोध की जरूरत क्यों है? स्त्री होने के कारण कैसे स्त्रियों को बहिष्कृत किया जाता है। स्त्री की घरेलू अनुष्ठानों में उपस्थिति तो सर्वस्वीकार्य है लेकिन लोकवृत्त में उसकी उपस्थिति और उत्सवधर्मिता कई तरह की समस्याएँ खड़ी कर देता है। यहाँ मैं एक उदाहरण से बताना चाहती हूँ कि उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में भी स्त्रियों की उपस्थिति विवाद का विषय थी। एक ब्रिटिश यात्री डेमिंशन ने 1803 में अपने यात्रा वृतांत में घाटों पर नहाती स्त्रियों का विस्तृत विवरण लिखा है और भी कई औपनिवेशिक अधिकारियों ने भी इस बारे में लिखा है। इसमें आप देखेंगे कि नहाती हुई स्त्रियों का वर्णन बार-बार किया गया है। दो वर्णन ज्यादा मिलते हैं—एक नागाओं के नहाने का और दूसरा स्त्रियों के स्नान करने का। लेकिन यहाँ जो विरोधाभास दिखाई देता है, वह है कि नागाओं को तो कहा गया कि यह हमारी संस्कृति का हिस्सा है। इसीलिए उस परंपरा में कोई छेड़छाड़ नहीं हुई लेकिन गीले वस्त्रों में स्त्रियों की घाटों पर जो उपस्थिति होती थी, उस पर उस समय के आर्य समाज और सनातनी लोगों ने कई पत्रिकाओं में इस तरह के लेख लिखे कि अच्छे

घरों की स्त्रियों को इस तरह खुले में पुरुषों के सामने स्नान करना अच्छा नहीं है, अगर आपको धार्मिक अनुष्ठान करना है तो आप घर में कीजिए। लेकिन नागाओं से कभी प्रश्न नहीं किया गया और वह परंपरा और उत्सव आज भी चल रहे हैं। आप कुम्भ के तस्वीरों को देखें तो आपको लगेगा कि कुम्भ में सिर्फ़ नागा ही आते हैं। स्त्रियों को लेकर और उसकी उपस्थिति को लेकर जो समस्या थी, वह लगातार चलती रही। अभी हाल ही में न्यायालय के एक निर्णय में नदी के आसपास घाटों पर तस्वीरें लेने पर मना कर दिया गया। यह जो अनुष्ठान और उत्सवधर्मिता है, इसमें आप देखिए तो कहीं–न–कहीं राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की बात आ गई है कि हमारी स्त्रियों को नहाते हुए विदेशी न देखें। इस पूरी प्रक्रिया के द्वारा स्त्रियों को कहीं–न–कहीं बहिष्कृत किया जाता है, उस उत्सवधर्मिता से जो उसे मेले में मिलती थी। वह अपनी रोजमर्रा के जीवन से बचने के लिए वहाँ जाती थी और आनंद करती थी जिससे उसे एक तरह की शक्ति मिलती थी। यहाँ पर उसको वंचित किया जा रहा है। कई बार ये अवसर महिलाओं के लिए सामाजिक उत्सव के रूप में उभरते हैं। नदी किनारे एकत्र महिलाएँ इस सहभागिता से एक सामाजिक व सामुदायिक शक्ति अनुभव करती हैं।[5]

यहाँ एक ध्यान देने वाली बात है जो मैंने बारीक अवलोकन के द्वारा देखी कि पहले कुम्भ और दूसरे अर्द्धकुम्भ, जिसे कुम्भ कहा गया के बीच में स्त्रियों को लेकर कई सारे विमर्श हुए। आप इस कुम्भ में देखिए पोस्टर और बैनर से लेकर हर जगह स्त्री के बहुत सारे कार्यक्रम दिखाई देंगे। इन्हें समावेशन की सक्रिय और सार्थक पहल के रूप में देखा जा सकता है। नैंसी फ्रेज़र जब हैबरमास के पब्लिक स्फ़ीयर की आलोचना करती हैं तथा इसे गतिशील एवं समावेशी बनाने के लिए 'काउंटर पब्लिक' की बात करती हैं जो हाशिये के समूह जैसे महिलाओं के लिए स्पेस बनाने की पहल होती है।[6] मेले में बहुत सारी स्त्री संतों के बड़े–बड़े बैनर दिखाई देंगे। ऐसा लग रहा था कि मेले में स्त्रियों को एक बड़ा हिस्सा मिल रहा है। मेले में कई तरह के विमर्श चल रहे थे जिसमें एक विमर्श का शीर्षक था 'नदी, नारी और न्याय'। इस शीर्षक को देखकर मुझे भी लगा कि शीर्षक की अवधारणा को इकोफेमिनिज्म से जोड़कर देखा गया था। लेकिन जब मैंने उसको जाकर देखा तो कार्यक्रम का इस शीर्षक से कोई लेना–देना नहीं था। हालाँकि महिलाएँ नदी संरक्षण और पर्यावरण साक्षरता में आगे हैं। इन आंदोलनों में महिलाएँ अक्सर पारिस्थितिकी संरक्षण

के साथ परिवार व सामुदायिक सुरक्षा दोनों में संघर्ष करती हैं।[7] मैं कई बार स्त्री सशक्तिकरण के प्रमुख कार्यक्रमों में बहुत उत्साह से जाती थी और पाया कि वहाँ स्त्री को महिमामंडित करके छोड़ दिया जाता था। विमर्श के नाम पर मुझे कुछ नहीं मिलता था। लेकिन एक दूसरी जगह थी जहाँ मुझे विमर्श की इतनी उम्मीद नहीं थी, वहाँ पर मुझे विमर्श मिला। वह विमर्श मुझे वहाँ मिला जहाँ कल्पवासिनी रहतीं थीं। मैं इस बात को रेखांकित कर रही हूँ कि जब मैं वहाँ गई तब दिखाया यह जाता है कि एक पंक्ति में चूल्हा लगा हुआ है और उसमें औरतें खाना बना रही हैं, एक तरफ औरतें सब्जी काट रही हैं, आटा गूथ रही हैं। ऐसी जगह पर आप उम्मीद नहीं कर सकते कि कोई विमर्श भी खड़ा हो सकता है क्योंकि यह औरतें सहायक के रूप में आई हुई हैं अपने पतियों की या परिवार की। लेकिन यहाँ उनको एक जगह मिल रही है जो वहाँ नहीं मिल रही है जहाँ बड़े–बड़े विमर्श का दावा किया जा रहा है। आश्रम में रामकथा के प्रवचन के बाद जब ये स्त्रियाँ निकल रही थीं, तब मैंने उनसे बात की। वह सीता जी के साथ हुए घटनाक्रम को लेकर दुखी थीं और वह बाहर किसी भी तरह के दबाव से मुक्त होकर राम की आलोचना कर रही थीं। जबकि यह बात उस कथा में बिल्कुल नहीं थी। उसमें तो राम को न्यायोचित ठहराया गया था लेकिन स्त्रियाँ बाहर निकल कर राम की आलोचना करती हैं। इसका अर्थ यह है कि यह जगह ही है जो उनके विमर्श की निर्मिति कर रही है। यहाँ दो तरह के विमर्श हैं जो बराबर चल रहे हैं। एक वह जो आभासी जगह बना रहा है जो कह रहा है कि हम स्त्री सशक्तिकरण का बड़ा काम कर रहे हैं और दूसरी वह जगह जहाँ पर स्त्रियाँ अपने जीवन के अनुभव से उस बड़े विमर्श में जाकर अपनी मुक्ति के लिए कुछ उम्मीद तो ला रही हैं।

इसके अलावा मैं दो–तीन चीजें और बताना चाहूँगी कि स्त्री संतों को भी तभी प्रवेश मिलेगा जब वह नियंत्रित हैं। अगर उनका प्रतिरोध जरूरत से ज्यादा है तब उनको बहिष्कृत कर दिया जायेगा। जूना अखाड़े का जो संन्यासिनी बाड़ा था, उनको शाही स्नान की अनुमति मिली थी जबकि परी अखाड़े को रोका गया था क्योंकि वह कहीं–न–कहीं उनके नियंत्रण में काम नहीं कर रही थीं। अगर यह समझा जाता है कि इन स्त्री संन्यासियों की आकांक्षाएँ केवल वहीं तक आकर सीमित हो गई हैं, तो ऐसा नहीं है। मैंने कई लोगों से बात की और कई रोमांचक बातें सामने आयीं। उन्होंने कहा कि अभी दो कुम्भ बाद देखिएगा कि यहाँ केवल

स्त्री संन्यासिनी ही दिखेंगी। यह आकांक्षा उनके अंदर जग रही है कि जब वह इस मेले के केंद्र में आएँगी, तब वह जो इस समय केन्द्र में हैं, उन्हें परिधि पर ढकेल देंगी। यह धार्मिक स्थान तरह–तरह के प्रतिरोधों को जगह दे रहा है। यहाँ दो अस्मिताएँ हैं– एक अस्मिता जिसे आप लेकर आते हैं, आपकी अस्मिता होती है कि देश, समाज और परिवार के दायरे में बनती है और कहीं भी ऐसा कुछ नहीं करना है कि प्रतिरोध की जगह बने। दूसरी है उन स्त्रियों की अस्मिताएँ जिनको अभी तक इस तरह के लोक में स्थान नहीं मिला है। मुझे लगता है कि मेलों को इस दृष्टि से देखना बहुत जरूरी है कि यहाँ आकर अपनी अस्मिताओं की पुनर्निर्मिति कर रही हैं। जबकि इस तरह की अनुमति वहाँ नहीं होती लेकिन धीरे–धीरे वह इन अदृश्य प्रतिबंधों के बीच अपनी अस्मिताओं की पुनर्निर्मिति करती हैं और उनको यहाँ कहीं–न–कहीं एक सपना मिल रहा है कि वह कभी न कभी उस धार्मिक स्थान के केंद्र में आ जायेंगी। वह सिर्फ़ देवी नहीं रहेंगी बल्कि वह इस केंद्र को संचालित करेंगी। मुझे लगता है कि कुम्भ को सिर्फ़ धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक आयोजन कहने से ज्यादा हमें यह देखना होगा कि यह एक ऐसा लोक है जो बहुत सारे बहिष्कृत या दलित समुदायों को अपनी आकांक्षाओं के लिए एक जगह दे रहा है और उनको अपने ढंग से अपनी अस्मिताओं की पुनर्निर्मिति करने की हिम्मत दे रहा है।

सन्दर्भ :

1. ऐनी फेल्डहॉस (1995); नैंसी फ्रेज़र (2013), पृष्ठ 60.
2. गीता तिवारी (2006)
3. https://laviedesidees.fr/Nancy-Fraser-and-the-Theory-of-Participatory-Parity इसी के साथ यह भी देखें; नैंसी फ्रेज़र (2013), पृष्ठ 60
4. आर.पी. खत्री (1996)
5. उषा सन्याल (2009)
6. नैंसी फ्रेज़र (1992).
7. मीरा मेहता (2011)

खंड दो

नदी और देश

पवित्र नदी, प्रदूषित पानी : कुछ विचार गंगा नदी के सन्दर्भ में

अवधेन्द्र शरण

भारत की नदियाँ, खासकर गंगा और यमुना, अक्सर अख़बारों में चर्चा का विषय रही हैं। 1985 में पूर्व प्रधानमंत्री राजीव गाँधी ने 'गंगा ऐक्शन प्लान' की घोषणा की थी। इसके क़रीब तीन दशक बाद जब श्री नरेंद्र मोदी भारत के प्रधानमंत्री बने, तब नमामि गंगे प्रोग्राम को लाया गया जिसका मक़सद गंगा को फिर से पुनर्जीवित करने का है। काफी कुछ बदल गया है पिछले 30–35 सालों में। पर आज मैं इन दो कार्यक्रमों पर चर्चा नहीं करना चाहता हूँ, सिवाय इसके कि हमारे सामने फिर से एक विडबंना है। एक तरफ है गंगा की पवित्रता जो लाखों-करोड़ों श्रद्धालुओं को अपनी ओर आकर्षित करती है। दूसरी तरफ़ है नित प्रतिदिन बढ़ता प्रदूषण जो इस पवित्र नदी के जल को गंदा कर रहा है। जो प्रस्तुति मैं आपके सामने रखने जा रहा हूँ, वह इस विडबंना पर ऐतिहासिक नज़र डालती है। यह कहानी कम-से-कम दो सौ साल पुरानी है। और इसका आरम्भ होता है भूमिगत सीवर के बनने से जिससे हम अपने शरीर से त्यागे मल को नदियों या समुद्र में निष्कासित कर देते हैं। इसके साथ ही मैं एक और चीज़ पर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। जल, हवा, जमीन, नदी किसी भी चीज़ को साफ़ करने के कई मक़सद हो सकते हैं। किसी को सफ़ाई अपने आप में आकर्षित करती है। कोई ऐसे होते हैं जो भारत के शहर और नदियों को विश्व की कोटि श्रेणी में रखना चाहते हैं। कुछ और लोगों के लिए प्रदूषण से सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए खतरा है, वो चिंता का विषय है। कुछ और ऐसे भी होते हैं जो अच्छे पर्यावरण को आर्थिक सुरक्षा के साथ जोड़ते हैं। भारत के ग्रामीण इलाकों में ख़ासकर इन आर्थिक जरूरतों का पर्यावरण में सीधा

सम्बन्ध रहा है। इसके विपरीत शायद यह ज्यादा संभव है कि जब हम शहरों के पर्यावरण पर चिंता करते हैं, तो हमारा ध्यान या तो सौंदर्यीकरण पर होता है, या स्वास्थय पर। गंगा के सफ़ाई सन्दर्भ में भी कुछ ऐसा ही इतिहास है।

(1)

जब अंग्रेज़ भारत आए तो वे अपने साथ एक विचारधारा लाये जिसको कभी सभ्यता (सिविलाइजेशन) और कभी प्रगति (प्रोग्रेस) कहा गया। इस विचारधारा के अनुसार जो कुछ युरोप से बाहर था, वह पिछड़ा और पारम्परिक था जिसे आधुनिकता की राह पर लाने का बोझ अंग्रेज़ों ने अपने सर पर ले लिया था।[1] इस सन्दर्भ में शुचिता का विशेष महत्त्व था क्योंकि अंग्रेज़ मानते थे कि भारतीय समाज में सेनीटेशन (साफ़-सफ़ाई) का कोई ज्ञान नहीं था। भारत को साफ़ रखना उनकी, और सिर्फ़ उनकी, विशेष जिम्मेवारी थी।[2] ऐसा नहीं था कि इंग्लैंड में सब कुछ ठीक था। पारम्परिक तौर पर वहाँ भी शहर का कचरा और जैविक अपशिष्ट (ऑरगेनिक वेस्ट) को सड़कों पर यूँ ही छोड़ दिया जाता था जिससे वहाँ के शहरों में गंदगी रहती थी और नदियाँ प्रदूषित हो रहीं थीं। इसके विपरीत, इतिहासकार बताते हैं कि चीन और जापान जैसे देशों में मल को खाद के रूप में उपयोग किया जाता था जिसके कारण वहाँ के किसानों की स्थिति यूरोपियन किसानों से कहीं बेहतर थी। कुछ हद तक यह भारत में भी प्रचलित था— जैसे लद्दाख में, महाराष्ट्र के कुछ इलाक़ों में, बैंगलोर के आसपास और दिल्ली में। मल से बने इस खाद का एक विशेष नाम भी होता था- सोना खाद, जिसे आज फिर से उपयोग में लाने की कोशिश की जा रही है। दिक़्क़त सिर्फ़ एक थी और यह बड़ी दिक़्क़त थी- जो लोग इस मल को एक जगह से दूसरी जगह ले जाते थे या इसका व्यापार करते थे, समाज उन्हें हीन रूप से देखता था। यह जपान में भी उतना ही सच था, जितना भारत में।[3] अंग्रेज़ चाहते तो अपना ध्यान इस सामाजिक व्यवस्था को सुधारने की तरफ़ लगा सकते थे। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। सिर्फ़ इतना कहकर कि भारत एक गरीब देश है और भले ही यह प्रथा 'बारबेरिक' या 'प्रिमिटिव' लाये हों, 'यहाँ' इसकी ज़रूरत है और उन्होंने इस सामाजिक सवाल को दरकिनार कर दिया। और इसके साथ सुधार का एक नया उपाय भूमिगत सीवर और मल ढोने की इस प्रथा को चलने दिया। मूल

निष्कर्ष यह निकला कि भारत की आधुनिकता अगर होनी थी, तो वह युरोपियन क़िस्म की नहीं हो सकती थी। यहाँ परम्परा मिश्रित आधुनिकता ही सकती थी। और जैसा मैं आगे बताऊँगा, जो कुछ नया और आधुनिक भी था– भूमिगत सीवर– वह भी इंग्लैंड जैसा नहीं हो सकता था।

(2)

कहानी की शुरुआत मैं करता हूँ 1875 से जब बनारस के म्युनिसपल बोर्ड में आधुनिक पानी और जल–मल–विकास व्यवस्था का प्रस्ताव रखा गया। इससे पहले भी भारत के कुछ शहरों में मल निकास और नदियों की सफ़ाई की योजनाएँ बन चुकी थी। पर यह छोटे पैमाने पर थी। बनारस के प्रस्ताव से शुरू हुआ सम्पूर्ण भारत में एक नया क़ानून लाने का विचार जो सफल तो नहीं हुआ पर जिस विवाद में उन विषयों का ज़िक्र हुआ जिसकी चर्चा मैं ऊपर कर चुका हूँ।

1875 का प्रस्ताव फाइलों में ही रह गया। कारण था कि इसके ठीक बाद म्युनिसिपल इंजीनियर की मौत हो गई।[4] पर बनारस की स्थिति चिंताजनक बनी रही। फ्रैंकफिट जेम्स जो नए इंजीनियर बने, उन्होंने देखा कि शहर की गंदगी इस हद तक हो गई थी कि वह वहाँ की ज़मीन के अंदर समा गई थी। न सिर्फ़ हर जगह गंध आती थी बल्कि प्लेग का प्रकोप भी कभी भी आ सकता था। इसी तरह उत्तर पश्चिमी प्रांत के सेनेट्री कमिश्नर ने लिखा कि भले ही बनारस घाट विश्व प्रसिद्ध हो लेकिन पास से देखें तो अनेक छोटी नालियाँ थीं जिनका गंदा पानी घाटों से होता हुआ सीधा गंगा में जाता था जहाँ हज़ारों की संख्या में लोग नहाते थे या वहाँ का पानी पीते थे। श्रद्धालु जब नाव से आते थे, तो वो इसी गंदे पानी में उतरते थे और फिर शिकायत भी करते थे। 1881 में बनारस के दो नागरिकों ने इस सम्बन्ध में सरकार को फिर एक पत्र लिखा और प्रार्थना की कि ऐसा भूमिगत सीवर बनाया जाये जो गंदे पानी को शहर के बाहर निकाल सके। इस विचार को यह कहकर रद्द कर दिया गया कि सरकार के पास इतना ख़र्च उठाने की शक्ति नहीं थी। फिर स्थापना हुई 'काशी गंगा प्रसादनी सभा' की, बनारस नरेश और अन्य गणमान्य लोगों की कोशिशों से। मक़सद था फिर वही एक ऐसे सेनेट्री ढाँचे के निर्माण का जो गंगा के प्रदूषण को रोक सके।

यानि बनारस के बाहर जो भी हो, शहर के सीमाओं के अंदर सफ़ाई रहनी चाहिए और कम-से-कम बनारस के सटी गंगा प्रदूषित न हो।[5] फिर से एक भूमिगत सीवर पर सहमति बनी पर यह साफ़ तौर पर निर्धारित करना मुश्किल है की बात हो रही थी कि गंगा के सफ़ाई की या सिर्फ़ बनारस से लगे गंगा की सफ़ाई की। खैर जो भी हो, प्रस्ताव रखा गया, उसे मंजूरी भी मिली, और जैसा मैं पहले भी कह चुका हूँ इसकी सीमाएँ भी निर्धारित की गईं- जो गृहस्थ अपने घर को नए सीवर से नहीं जोड़ना चाहते थे उनके यहाँ पहले ही की तरह स्वीपर सफ़ाई करेंगे। मल को 'पेल डिपो' पर ले जाया जायेगा और फिर सीवर में डालकर बहा दिया जायेगा। विचार यह भी था कि इस जल को पहले एक मल खेत (सीवेज़ फ़ार्म) पर ले जाया जायेगा और उपचार के पश्चात ही नदी में इसका निकास होगा। पर जमीन महँगी थी और इस विचार को तत्काल के लिए यहीं छोड़ दिया गया।

इसका विरोध भी हुआ। इस बात को लेकर नहीं कि सीवर बनने के बाद भी पारम्परिक व्यवस्था क्यों चलती रहे पर इस बात का कि गंगा में इस तरह से मल को बहाने से उसके आसपास बसे लोगों के स्वास्थ पर क्या असर होगा? सिर्फ़ आसपास ही नहीं बल्कि हर उस जगह पर जो बनारस के नीचे गंगा पर बसी थी। सबसे पहला विरोध किया कलकत्ता के सेनेट्री कमीश्नर डब्ल्यू एच. ग्रेग ने।[6] साधारण नालियों का पानी गंगा में बहना एक चीज़ थी, उन्होंने लिखा, लेकिन अगर उसके किनारे बसे शहरों का मल भूमिगत सीवर के ज़रिये गंगा में जायेगा तो इसका लोगों के स्वास्थ पर बहुत बुरा असर पड़ेगा। इसलिए उनके विचार में अगर जरूरत थी तो एक नए क़ानून की जो गंगा को नाला बनने से बचा सके। इंग्लैंड में शोधकर्ता प्रदूषण से होने वाले नुकसान की ओर ध्यान पहले ही आकर्षित कर चुके थे। और 1876 में वहाँ 'रिवर्स पोल्यूशन प्रिवेंशन एक्ट' भी पारित हो चुका था। ऐसा ही कुछ भारत में भी होना चाहिए, ऐसा ग्रेग का मानना था। उनका साथ दिया बंगाल के लेफ्टिनेंट गर्वनर ने और कलकत्ता के पब्लिक हेल्थ सोसायटी ने भी। उत्तर-पश्चिम प्रदेश के अंदर भी कुछ साथ मिला। वहाँ के सेनेट्री कमिश्नर जी. हचेनशन का मानना था कि पारम्परिक प्रदूषण और आधुनिक प्रदूषण में बहुत फ़र्क है।[7] पहले भी गंगा में लोगों के मल का प्रवाह होता था। लेकिन वह मात्रा में कम था और फैला हुआ भी। इससे नदी का प्रदूषण नहीं के बराबर होता था। प्रदूषण का सवाल सही मायने में तब उठा

जब बनारस जैसे घने आबादी के शहर ने निर्णय लिया कि वह शहर का पूरा मल, बिना किसी उपचार के, किसी एक जगह पर बड़ी मात्रा में गंगा नदी में बहा देगा। सर्जन जर्नल राइस ने भी कुछ ऐसी ही राय दी। एक ऐसी नदी जिसमें पानी का प्रवाह लगभग गतिहीन था। उसमें लाखों लीटर की मात्रा में गंदे पानी का बहाव करना ख़तरे से खाली नहीं था। और ऐसा ही कुछ लिखा ब्रिटिश मेडिकल जर्नल ने भी कि बनारस की म्युनिसपैलिटी चाहती है कि शहर के मल को गंगा नदी में बहा दिया जाये। भारत में इंग्लैंड जैसा कोई क़ानून तो है नहीं जो उन्हें या किसी और शहर को ऐसा करने से रोक सके। इस तरह जब तक गंगा का पानी कलकत्ता तक पहुँचेगा तब तक वह एक 'जाइगेंटिक सेसपुल' बन चुका होगा। अभी तो बस इस खतरे की आशंका है लेकिन भारत सरकार को कुछ करना चाहिए जिससे आगे चलकर बड़ा संकट न बन जाये।

पर बात बनी नहीं। दूसरी तरफ़ थे सर्जन मेजर जे. रिचर्डसन।[8] ख़तरे का कोई सबूत नहीं था, कोई डेटा नहीं था जिससे साफ़ तौर पर कहा जा सके कि गंगा प्रदूषित हो रही, ऐसा उनका मानना था या इस कारण बीमारियाँ फैल रही थीं। सेनेट्री इंजीनियर ह्यूज भी ऐसा मानते थे उन्होंने लिखा। ख़तरे के संकेत बढ़ा-चढ़ा कर दिए जा रहे थे। भारत सरकार दुविधा में थी। एक तरफ़ तो उनके काउंसिल के मेम्बर यह मानने को तैयार नहीं थे की सीवर से नदी या लोगों को विशेष ख़तरा था। उनके विचार में नदियों में इतनी क्षमता होती है और गंगा में तो है ही कि वो इस मल को खुद साफ़कर सके। ऐसे में ज़रूरत थी एक व्यावहारिक प्रस्ताव की न कि इंग्लैंड जैसे क़ानून की। दूसरी तरफ़ बंगाल सरकार के डर और शंकाओं को इतनी आसानी से दरकिनार भी नहीं किया जा सकता था। और दोनों प्रांतों के अफ़सर भी सहमति बनाने में विफल थे। ऐसी स्थिति में भारत सरकार ने वही किया, जो अक्सर वह करती थी- उसने एक इंक्वारी का निर्देश दिया।

(3)

इंक्वारी हुई और बहुत कुछ इस बात से निर्धारित हुआ कि भारत और इंग्लैंड की नदियों में क्या फ़र्क है।[9] सर्जन जर्नल राइस ने फिर से ख़तरे का संकेत दिया। इंग्लैंड में नदियों का प्रवाह अधिक गति से होता था। और हर मौसम

में उनमें पानी लगभग समान मात्रा में रहता था। इसके विपरीत भारत में हर मौसम में नदियों के पानी की मात्रा बदल जाती थी, फैलाव ज्यादा था और गति मंद। ऐसे में प्रदूषण से नुकसान होना निश्चित था। इसके विपरीत अन्य अफ़सरों ने इसी भिन्नता का सहारा लेकर यह जताने की कोशिश की कि न तो नदी का प्रदूषण हो रहा था न ही लोगों के स्वास्थ पर असर पड़ रहा था। यहाँ हर साल मानसून में भारी वर्षा होती थी जो नदियों के जल को साफ़ कर देती थी। भारत में सूर्य की रोशनी भी अधिक थी, नदियों की लम्बाई भी। गंगा तो 1100 मील लम्बी थी और ऐसे में प्रदूषण का डायल्यूशन ख़ुद हो जाता था। हचेनशन ने फिर अपनी बात दोहराई — तत्कालीन विद्वान भले ही पूर्ण रूप से यह साबित न कर सकें कि नदी में कितना पानी होना चाहिए जिससे की प्रदूषण का ख़तरा टल जाये या ऐसा सबूत जमा कर सकें जिसके आधार पर गंदगी और स्वास्थ्य के रिश्ते को निर्विवाद साबित कर सके, पर इसके बावजूद भी तो इंग्लैंड में क़ानून पारित हुआ था। और फिर गंगा कोई साधारण नदी तो थी नहीं। लाखों लोग इसको पवित्र मानते थे, इसकी पूजा करते थे, इसमें स्नान करते थे, और इसका पानी भी पीते थे, बिना किसी फिल्टर के। ऐसे में तो सरकार एक ही ध्येय होना चाहिए कि वह गंदगी और ख़तरे को कम करे और सफ़ाई और सुरक्षा को बढ़ावा दे। पर रिचर्डसन भी अड़े रहे और सबूत की माँग करते रहे। जब तक ऐसा सबूत नहीं आ जाता तब तक किसी ओर स्कीम की चर्चा करना (जिसमें प्रदूषित पानी का उपचार हो और फिर नदी में निकास हो) सिर्फ़ भावक बात थीं, यथार्थवाद नहीं। इससे तो सिर्फ़ ख़र्च बढ़ेगा और अंग्रेज़ सरकार इस ख़र्च को उठाने के लिए तैयार नहीं थी। उन्नीसवीं सदी के आरंभ में हचेनशन का तबादला भी हो गया और उनकी जगह कर्नल एस. जे. थॉमसन जो कि रिचर्डसन के विचार से सहमति रखते थे। इतना तो तय है, इन सब विवादों के पीछे एक ही सन्दर्भ था— नदी की सफ़ाई और लोगों का स्वास्थ्य सब कुछ निर्भर था पैसे पर। पैसा अगर आना था तो सिर्फ़ नए कर से, और इसका पूरे प्रांत में पहले से ही बहुत विरोध था। अंग्रेज़ तो चालाक थे, कभी उपचार का विरोध नहीं किया पर हमेशा पैसे की दुहाई करते रहे। जैसा कि सेनेट्री कमीश्नर ने लिखा : मल निकास की हर चर्चा में हमने माना है कि प्रदूषित पानी को बिना उपचार के नदी में डालना सिर्फ़ एक अस्थाई व्यवस्था है पर पैसे के अभाव में यह अनिवार्य हो गया है।[10]

(4)

जैसा कि अपेक्षित था उन्नीसवीं सदी में नदियों के प्रदूषण को रोकने का कोई क़ानून पारित नहीं हुआ। बीसवीं सदी में भी नहीं, कम-से-कम औपनिवेशिक काल में तो नहीं। भरोसा था तो नई तकनीक पर। अगर सूएज फ़ार्म पर खर्च ज़्यादा था, तो विकल्प था जैविक फ़िल्टर और खेत की जगह ली सूएज़ टैंक ने जिसमें बालू, कंकड़, पत्थर इत्यादि भर दिए जाते थे। फिर उन पर सीवर द्वारा लाया गया प्रदूषित पानी डाल दिया जाता था। अंदर बैक्टीरिया पनपते थे और मल से प्रदूषित पानी को फिर से साफ़ पानी में तब्दील कर देते थे। इसके कई प्रकार यूरोप में इस्तेमाल हो रहे थे। भारत में कलकत्ता और मुम्बई में भी कुछ प्रयोग हुए और फिर कोशिश की गई बनारस में भी पर छोटे पैमाने पर। कुछ सफलता भी मिली लेकिन जब लखनऊ और कानपुर में इसे बड़े पैमाने पर अपनाने की कोशिश की गई तो प्रयास विफल रहा। नतीजा हुआ कि कई सालों तक गंगा में यूँ ही प्रदूषित पानी बहाया गया। 1920 तक जाते-जाते सीवर जो बिछाया गया था उसके भी रख-रखाव में कमी आने लगी और फिर से घाटों पर प्रदूषित पानी बहने लगा। इसके बाद स्थापना हुई काशी तीर्थ सुधार ट्रस्ट की जिन्होंने सरकार से फिर माँग की कि घाटों को सुधारा जाये और फिर से ऐसी व्यवस्था की जाये जिससे प्रदूषित पानी गंगा में न जा सके। सरकार ने प्रस्ताव रखा तीर्थयात्रियों पर कर बढ़ाने का पर इसका विरोध किया रेलवे विभाग ने। बात फाइलों पर ही रह गई और 1935 के बाद लगभग इस विषय पर चर्चा ही बंद हो गई।

ऐसा नहीं था कि भारतीय समाज में गंगा के प्रदूषण कि चिंताएँ ही ख़त्म हो गई थी। बीसवीं सदी के आरम्भ में हुगली नदी के किनारे बसे लोगों ने अंग्रेज़ कारखानों द्वारा नदी को प्रदूषित करने के ख़िलाफ़ काफ़ी आवाज़ उठाई।[11] इसी समय के आसपास ऐनी बेसेंट और भगवानदास में अपनी पुस्तक सनातन धर्म में लिखा कि हमारे ग्रंथ हमें यह सिखाते हैं कि एक अच्छे नागरिक का कर्त्तव्य है जो नदियाँ शहरों के साथ लगी हुई हैं, उनको हम दूषित न करें। 1920 के मध्य में गाँधी ने भारत की नदियों के बारे में कई लेख लिखे। स्वास्थ्य की बात तो थी ही, पर यह नदियों की सफाई और सबसे बढ़कर धर्म और नैतिकता की भी बात थी। यंग इंडिया के 31 अक्टूबर 1929 के अंक में हरिद्वार के बारे

में उन्होंने लिखा: ''जहाँ एक तरफ़ गंगा की निर्मल धारा और हिमालय के पवित्र पर्वतशिखरों ने मुझे मोह लिया, वहाँ दूसरी ओर इस पवित्र स्थान पर लोगों के काम से मेरे हृदय को कुछ भी प्रेरणा नहीं मिली। मैंने हरिद्वार में देखा कि वहाँ नैतिक तथा शारीरिक दोनों तरह की मलिनता है और यह स्थिति देखकर मुझे अत्यंत दु:ख हुआ। हाल की यात्रा में भी मैंने हरिद्वार की इस दशा में कोई ज्यादा सुधार नहीं पाया। पहले की भाँति आज भी धर्म के नाम पर गंगा की भव्य धारा दूषित की जाती है। विवेकशून्य स्त्री–पुरुष गंगा तट पर, जहाँ पर ध्यान लगाकर बैठना चाहिए, वहाँ पाखाना–पेशाब करते हैं। इन लोगों का ऐसा करना प्रकृति, आरोग्य तथा धर्म के नियमों के ख़िलाफ़ है।[12] अगले दशक तक आते–आते यह भी लगभग तय हो गया था कि नदियों का प्रदूषण बढ़ता ही जा रहा था। शहरों की आबादी बढ़ रही थी और प्रदूषण के स्रोत भी। इंसान के स्वास्थ्य को तो खतरा था ही पर इस प्रदूषण से अब मछलियाँ भी अधिक संख्या में मर रही थीं जिसका मछुआरों की जीविका पर सीधा असर पड़ रहा था। इस तरह पहली वार किसी विशेष समुदाय की बात हुई नदी प्रदूषण के सन्दर्भ में। जब तक बात सिर्फ़ स्वास्थ्य की थी तब तक यह आम लोगों, पब्लिक की बात थी– हर वह व्यक्ति, वो गाँव या वो शहर जो गंगा किनारे बसा था और गंगा के पानी का उपयोग करता था। जब जीविका की बात उठी तभी समुदाय का आगमन हुआ। और जब हुआ तो बहुत कम क्योंकि अंग्रेजी हुकूमत अब तक पूर्णत: निर्णय ले चुकी थी कि प्रदूषण का मामला कितना ही गंभीर क्यों हो, इसका समाधान अभी संभव नहीं है।

सन्दर्भ :

1. पार्थ चटर्जी (2013).
2. नेशनल आर्काइव्स ऑफ़ इंडिया (एनएआई), होम, सैनीटरी, नंबर 25–33, जुलाई 1876; नंबर 52 और 53, फरवरी 1888.
3. सूज़न हैनली (1987), 'अर्बन सैनीटेशन इन प्री इंडस्ट्रियल जापान', जर्नल ऑफ़ इंटरडिस्प्लिनरी हिस्ट्री, 18, 1, पृष्ठ 1–26.
4. माइकेल एस डॉडसन(2012), ''द शैडो ऑफ़ मॉडर्निटी इन बनारस'', 'बनारस : अर्बन फॉर्म्स एंड कल्चरल हिस्ट्री, रटलेज़, नई दिल्ली, पृष्ठ 143–69 में संकलित
5. वही.

6. एनएआई, सैनीटरी, 78–79, फरवरी 1890.
7. एनएआई, सैनीटरी, 17–25, अप्रैल 1893.
8. एनएआई, सैनीटरी, 17–25, अप्रैल 1893.
9. एनएआई, सैनीटरी, 75–76, जून 1890.
10. एनएआई, सैनीटरी, 17–25, अप्रैल 1893.
11. प्रतीक चक्रवर्ती (2015), 'प्यूरीफाइंग द रिवर : पोल्यूशन एंड प्योरिटी ऑफ़ वाटर इन कोलोनियल इंडिया', स्टडीज़ इन हिस्ट्री, 31, 2, पृष्ठ 178–205.
12. सम्पूर्ण गांधी वांग्मय (1971), खंड 42, पृष्ठ 81–82.

नदी, राष्ट्र और इतिहास : भारतीय नदियाँ और आधुनिक भारत का निर्माण

शुभनीत कौशिक

उत्तर भारत की नदियों और उनसे समाज के लगाव–जुड़ाव पर आधारित अपने विचारोत्तेजक लेख में अनुपम मिश्र ने लिखा है कि 'उत्तर बिहार में समाज का एक सरल दर्पण साहित्य रहा होगा तो दूसरा तरल दर्पण नदियाँ थीं। इन असंख्य नदियों में वहाँ का समाज अपना चेहरा देखता था और नदियों के चंचल स्वभाव को बड़े शांत भाव से देह में, अपने मन और अपने विचारों में उतारता था।'[1] मगर औपनिवेशिक भारत में नदी और समाज के गहरे आत्मीय सम्बन्ध की जगह नदियों के सन्दर्भ में उपयोगितावादी सोच हावी होने लगी। भयावह बाढ़, सूखे और अकाल की समस्याओं से जूझते हुए उन्नीसवीं सदी के भारत में जहाँ सिंचाई के लिए नहर निर्माण पर ज़ोर रहा, वहीं बीसवीं सदी के आरंभिक दशकों में जल–विद्युत परियोजनाओं की ओर भी ब्रिटिश सरकार का ध्यान गया।[2] अकाल व सूखे की समस्याओं के समाधान तलाशने के क्रम में भारत के वाइसराय लॉर्ड कर्ज़न ने बीसवीं सदी के आरंभ में कृषि–सम्बन्धी सुधारों पर ध्यान दिया। इसी सन्दर्भ में कॉलिन स्कॉट–मॉनक्रिफ की अध्यक्षता में गठित सिंचाई आयोग (1901–03) ने भारतीय उपमहाद्वीप में सिंचाई के साधनों पर विचार करते हुए नदियों की उल्लेखनीय भूमिका को रेखांकित किया था।[3]

उक्त सिंचाई आयोग के गठन के तीन दशक बाद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा गठित 'राष्ट्रीय योजना समिति' के अंतर्गत एक उप–समिति को नदियों और सिंचाई पर रिपोर्ट देने के लिए नियुक्त किया गया।[4] उप–समिति की यह रिपोर्ट दिसम्बर 1947 में प्रकाशित हुई। उक्त रिपोर्ट में भी भारत में सिंचाई के साधनों

के विकास में नदियों की भूमिका पर ज़ोर दिया गया। उप-समिति को जिन विषयों पर विचार करना था, वे थे : नदियों की सफाई और मानव उपभोग के लिए जलापूर्ति, विद्युत उत्पादन, बाढ़ नियंत्रण, नौपरिवहन, कृषि हेतु समुचित जलापूर्ति।[5] उप-समिति के ये उद्देश्य कुछ दूसरी उप-समितियों से भी गहरे जुड़े हुए थे, मसलन, फसल उत्पादन समिति, ऊर्जा एवं ईंधन समिति, भूराजस्व समिति और यातायात एवं संचार समिति। नदी व सिंचाई उप-समिति ने ख़ुद को सिंचाई के महत्त्वपूर्ण सवाल पर केन्द्रित रखा, जो राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से जुड़ा अहम मुद्दा था। रिपोर्ट में नदी को एक 'नैसर्गिक आर्थिक इकाई' के रूप में देखा गया। प्रभावी ढंग से योजना-निर्माण और उसके क्रियान्वयन हेतु समिति ने सुव्यवस्थित व वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने का सुझाव दिया। उप-समिति ने जहाँ कुछ मामलों में सिंचाई आयोग (1901) के सुझावों का समर्थन किया, वहीं कुछ मसलों पर उससे मतभेद भी जाहिर किया। मसलन, सिंचाई आयोग द्वारा दिए गये इस सुझाव को कि 'किसी क्षेत्र में उसकी जरूरत से अधिक जल भंडारण अनावश्यक होगा', उप-समिति ने यह तर्क देकर खारिज कर दिया कि कृत्रिम जलाशय में संगृहीत जल का उपयोग केवल एक क्षेत्र-विशेष की जरूरतों तक सीमित नहीं रहेगा, बल्कि वह बड़े क्षेत्र की जरूरतों की पूर्ति करेगा।[6]

भारत में सिंचाई के प्रश्न पर विचार करते हुए उप-समिति ने भारत में खेती की वार्षिक वर्षा पर निर्भरता, जल की अनियमित उपलब्धता और वर्षा के वितरण में असमानता को रेखांकित किया। साथ ही, समिति ने नदियों के जल-प्रबंधन से जुड़ी प्रशासनिक समस्याओं पर भी विचार किया। उल्लेखनीय है कि औपनिवेशिक भारत में भी नदियों को लेकर प्रान्तों के बीच (सिंध और पंजाब के बीच सिंधु नदी जल विवाद) और प्रान्तों व देसी रियासतों के बीच (मद्रास और मैसूर के बीच तथा मद्रास व हैदराबाद के बीच) विवाद हो चुके थे। इस रिपोर्ट में अमेरिका की टेनेसी नदी घाटी परियोजना से प्रेरणा लेने की बात भी कही गई, जिसने सिंचाई के साथ-साथ नौ-परिवहन, बाढ़ नियंत्रण और जल-विद्युत उत्पादन की दृष्टि से नदी के बहुद्देशीय प्रयोग की राह दिखाई थी।[7] उल्लेखनीय है कि रिपोर्ट में सिंचाई की अधिकता से होने वाले दुष्प्रभावों मसलन, भूमि में खारापन बढ़ने और उसके बंजर होने, मलेरिया जैसी बीमारियों के फैलने के प्रति भी चिंता जताई गई थी। नदी जल-प्रणाली की सक्षमता को बरकरार रखने के लिए नदी के प्रवाह क्षेत्र में निर्माण, उद्योग बनाने या अतिक्रमण पर

प्रभावी ढंग से रोक लगाने का सुझाव भी रिपोर्ट में दिया गया। इसी सन्दर्भ में, जंगलों के काटने पर रोक और खेती के अनुपयुक्त तौर–तरीकों में बदलाव लाने की भी बात कही गई थी। समिति ने सिंचाई, नौ–परिवहन, बाढ़ नियंत्रण, नदी प्रबंधन, जल–विद्युत के समुचित विकास के लिए 'राष्ट्रीय जल संसाधन बोर्ड' की स्थापना का भी सुझाव दिया। साथ ही, समिति ने भूजल की उपलब्धता और उसके विस्तार पर व्यवस्थित व गहन अध्ययन करने, सिंचाई के जल का बेहतर उपयोग करने हेतु समुन्नत कृषि प्रणाली के इस्तेमाल, बाढ़ नियंत्रण नीति और जल संसाधन की राष्ट्रीय नीति को जोड़ने की भी सलाह दी।[8]

गाँधी, गंगा और निषाद समुदाय

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में नदियों में बढ़ती गंदगी को लेकर जिन भारतीय नेताओं ने अपनी चिंता लगातार प्रकट की, उनमें महात्मा गाँधी प्रमुख थे। 17 नवंबर 1929 को इलाहाबाद नगरपालिका और जिला बोर्ड द्वारा दिए गये मानपत्रों का उत्तर देते हुए अपने भाषण में महात्मा गाँधी ने इलाहाबाद में नदियों में नालों का पानी डालने पर चिंता जाहिर की। और कहा कि 'मुझे यह जानकर बड़ा धक्का लगा है कि हरिद्वार की तरह प्रयाग की पवित्र नदियाँ भी नगरपालिका के गंदे नालों के पानी से अपवित्र की जा रही हैं। इस ख़बर से मुझे अत्यंत दुख हुआ है। इस प्रकार बोर्ड पवित्र नदियों के पानी को गंदा ही नहीं करता बल्कि हजारों रुपया नदी में फेंकता है; नालियों के पानी को लाभप्रद ढंग से अन्यथा उपयोग किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में कुछ कर सकने में बोर्ड की असमर्थता देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य होता है।'[9] 1929 में ही प्रकाशित अपने एक लेख में महात्मा गाँधी ने हरिद्वार में गंगा के प्रदूषण पर गहरा दुख प्रकट किया। गाँधी ने धर्म और विज्ञान दोनों ही दृष्टि से नदियों को गंदा करने पर मनाही की बात कही। उन्होंने लिखा कि 'लोगों का ऐसा करना प्रकृति, आरोग्य तथा धर्म के नियमों का उल्लंघन करना है।'[10] मानव मल–मूत्र को नदियों में बहाने की बजाय उससे खाद तैयार करने पर भी गाँधी ने ज़ोर दिया। तीन साल पहले, दिसंबर 1926 में *यंग इंडिया* में छपी एक टिप्पणी में भारतीय नदियों में बढ़ती गंदगी की चर्चा करते हुए महात्मा गाँधी ने लिखा था कि 'आधुनिक व्यस्त जीवन में तो हमारे लिए इन नदियों का मुख्य उपयोग यही है कि हम उनमें गंदी

नालियाँ छोड़ते हैं और माल से भरी नौकाएँ चलाते हैं। हम अपने इन कार्यों से इन नदियों को मलिन से मलिनतर बनाते चले जा रहे हैं।'[11]

बीसवीं सदी के तीसरे दशक में जाति–व्यवस्था और छुआछूत के विरुद्ध अस्पृश्यता–उन्मूलन आंदोलन चलाते हुए महात्मा गाँधी ने अपने भाषणों व लेखों में राम और निषादराज के आत्मीय सम्बन्धों का ज़िक्र आदर्श रूप में किया है। प्रसिद्ध दांडी मार्च के दौरान गजेरा में 21 मार्च 1930 को गाँधी ने एक सभा को संबोधित किया, जिसमें अंत्यज समुदाय के लोग भी शामिल थे। गाँधी ने कहा कि सभा में अंत्यजों के साथ बैठकर सभी लोगों ने स्वराज्य की दिशा में एक कदम आगे बढ़ाया है। इसी सन्दर्भ में रामचन्द्र और निषादराज की याद दिलाते हुए गाँधी ने कहा :

> जब रामचन्द्रजी अयोध्या छोड़ गंगा के किनारे आए तब उन्हें पार उतारने वाले निषादराज थे और उनके द्वारा दिए गये फल आदि रामचन्द्रजी ने ग्रहण किए थे। ये निषादराज कौन थे? ये भी अंत्यज कहे जाते थे। भरत जब निषादराज से मिले तब उन्होंने निषादराज को आलिंगन करके भेंटा और जरूरत के समय निषादराज ने रामचन्द्र जी की जो सेवा की, उसके लिए उन्होंने उन्हें बधाई दी।[12]

इस प्रसंग को गाँधी द्वारा याद करने का आशय भारतीय समाज में छुआछूत की लड़ाई को न केवल एक ऐतिहासिक आधार देना था बल्कि वे विभिन्न समुदायों के बीच एक सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध को विकसित करना चाह रहे थे।

गंगा : राजनीति, समाज और संस्कृति

प्रदूषण के अलावे गंगा के सामाजिक–सांस्कृतिक पक्ष को लेकर भी औपनिवेशिक भारत में कई बार राष्ट्रीय नेतृत्व ने आवाज़ उठाई। मसलन, इलाहाबाद म्यूनिसिपल बोर्ड के चेयरमैन के रूप में नेहरू ने कुम्भ मेला के दौरान संगम स्नान के लिए आने वाले तीर्थयात्रियों की समस्याओं को सरकार के समक्ष उठाया। जनवरी 1924 में हुई बोर्ड की एक बैठक में नेहरू ने तीर्थयात्रियों की सुरक्षा और इसके प्रति सरकार की उपेक्षा के मुद्दे को प्रमुखता से उठाया। हुआ यूँ था कि जिले के अधिकारियों ने प्रयाग में संगम पर तेज बहाव का कारण देकर तीर्थयात्रियों को संगम की ओर जाने से रोक दिया था, जिससे तनाव की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। इस सन्दर्भ में नेहरू ने कहा कि 'दुर्घटना या जान–माल की

हानि को रोकने की मंशा निश्चय ही प्रशंसनीय और सभी के लिए स्वीकार्य है। लेकिन पिछले दिन अधिकारियों ने जो रवैया दिखाया, वह उनकी हठधर्मिता का नमूना था। उन्होंने सुरक्षा के इस मुद्दे को अपनी प्रतिष्ठा का सवाल बना लिया था।'[13] नतीजतन कुछ तीर्थयात्रियों ने अधिकारियों के आदेशों की अवज्ञा करते हुए संगम में स्नान किया। अधिकारियों को दोषी ठहराते हुए नेहरू ने कहा कि अधिकारियों ने संगम के निकट स्नान हेतु घाट बनवाने का कोई प्रयास नहीं किया। जब स्थानीय लोगों के प्रयास से एक छोटा-सा घाट बना, तब भी अधिकारियों ने सारे एहतियात बरतने के बावजूद तीर्थयात्रियों के समूहों को स्नान की इजाजत नहीं दी। उनका यह निर्णय निश्चय ही निराधार और अतार्किक था और उन्होंने हिंदुओं की धार्मिक भावनाओं की बिलकुल कद्र नहीं की।

तीर्थयात्रियों को स्नान से रोकने या उन पर चुंगी लगाने का मामला मार्च 1925 में संयुक्त प्रांत की विधानसभा में भी उठा, जब बिजनौर में आयोजित एक मेले में कुछ महिलाओं ने चुंगी देने से मना कर दिया। इस मुद्दे को मौलवी जहीरुद्दीन ने विधान सभा में उठाया। गोविंद वल्लभ पंत ने इस मुद्दे पर बोलते हुए कहा कि 'अगर कुछ लोग गंगा के किनारे धार्मिक कर्मकांड करने की दृष्टि से एकत्र हों, तो क्या सरकार को यह अधिकार है कि वह यह कहे कि केवल उन्हीं लोगों को ये धार्मिक कार्य करने की इजाज़त मिलेगी, जो हमें एक निश्चित राशि अदा करेंगे। और जो यह राशि नहीं चुकाएंगे, उन्हें धार्मिक कार्य सम्पन्न करने अनुमति नहीं मिलेगी।'[14]

जवाहरलाल नेहरू के निजी पत्रों में भी भारतीय नदियों, विशेषकर गंगा के सामाजिक-सांस्कृतिक आयाम के प्रति उनका लगाव जाहिर होता है। मसलन, 1940 में ब्रिटिश उपन्यासकार, इतिहासकार और अनुवादक एडवर्ड थॉमप्सन ने नेहरू को एक पत्र लिखकर गंगा नदी पर एक फ़िल्म/डॉक्युमेंट्री बनाने की इच्छा जाहिर की और उनसे सुझाव माँगे। 7 अप्रैल 1940 को इलाहाबाद से लिखे गये अपने जवाबी खत में नेहरू ने विस्तार से गंगा पर प्रस्तावित डॉक्युमेंट्री के बारे में लिखा। नेहरू ने अपने सम्बन्धी रंजीत पंडित से भी इस सन्दर्भ में सलाह ली। एडवर्ड थॉम्पसन की इस योजना को सराहते हुए नेहरू ने सुझाव दिया कि 'गंगा ख़ुद में इतिहास है, इसलिए जरूरी है कि [डॉक्युमेंट्री में] गंगा के ऐतिहासिक पक्ष को उभारा जाये। गंगा परंपरा, मिथक, कला, संस्कृति व इतिहास से गहरे जुड़ी हुई है। इसलिए इतिहास और परंपरा के आयाम की अवहेलना नहीं की

जा सकती।'[15] नेहरू ने सुझाया कि भारतीय मिथकों और कला को समझने के क्रम में गंगा की मिथकीय उत्पत्ति (भगवान शिव की जटा से गंगा के प्रवाहित होने) का सन्दर्भ भी दिया जा सकता है। जिन खास ऐतिहासिक घटनाओं को गंगा के सन्दर्भ में नेहरू ने चुना, वे थीं : आर्यों का भारत में आगमन और उनका गंगा से साक्षात्कार;[16] रामायण व महाभारत सरीखे महाकाव्यों में गंगा का चित्रण व तत्संबंधी कथाएँ; चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक और हर्षवर्धन के समय में भारत में कन्नौज व पाटलिपुत्र सरीखे नगरों में सामाजिक जीवन; ह्वेनसांग सरीखे विदेशी यात्रियों के यात्रा-वृत्तान्तों में गंगा व कुम्भ मेला का उल्लेख, गंगा और यमुना का दोआब, यमुना, मथुरा व वृन्दावन आदि।[17]

भारत की नदियों के प्रति नेहरू का प्रेम अगस्त 1941 में इन्दिरा गाँधी को लिखे एक पत्र में भी उमड़कर सामने आता है। देहारादून जेल से लिखे गये इस खत में नेहरू ने पर्वतारोहण, गढ़वाल की पहाड़ियों, फूलों की घाटी की चर्चा करने के बाद भारतीय नदियों से अपना लगाव प्रकट करते हुए लिखा कि 'मैं हिंदुस्तान की नदियों से प्यार करता हूँ और मैं उनके उद्गम से समुद्र में उनके मिलन-बिन्दु तक उनका अन्वेषण करना चाहूँगा। इतिहास के आरंभकाल तक जाकर मैं पुरुषों और महिलाओं, सभ्यताओं और संस्कृतियों की उस यात्रा का साक्षी बनना चाहता हूँ, जो इन नदियों की विस्तृत धाराओं से होकर गुजरी है। जिनमें सिंधु, ब्रह्मपुत्र, गंगा तो है ही, साथ ही हमारी अपनी प्रिय नदी यमुना भी है।'[18]

नदी, राष्ट्र-निर्माण और नेहरू

आज़ादी के बाद के वर्षों में जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्र-निर्माण में नदियों की अहम भूमिका को समझा और इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया। सितंबर 1948 में श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने नेहरू को एक खत लिखकर गंगा में नौपरिवहन की संभावनाओं की ओर नेहरू का ध्यान खींचा। अपने जवाबी खत में नेहरू ने लिखा कि उन्हें खुशी है कि 'वे [मुखर्जी] निम्न गंगा से इलाहाबाद-कानपुर तक नौपरिवहन पर विचार कर रहे हैं।' नेहरू ने यह भी जोड़ा कि पहले के समय में नदी से यातायात जरूर होता था क्योंकि इसके प्रमाण इलाहाबाद में मौजूद हैं। इलाहाबाद से ऊपर के लिए अगर गंगा में परिवहन संभव न हो तो

यमुना में शायद इसकी संभावना तलाशी जा सकती है। नेहरू ने श्यामा प्रसाद मुखर्जी से स्टीम बोट के इस्तेमाल की संभावना पर भी विचार करने को कहा।[19] वर्ष भर बाद नेहरू ने अपने निजी सचिव को लिखी एक टिप्पणी में नदियों में नौपरिवहन के सन्दर्भ में लिखा कि 'वे उद्योग व आपूर्ति मंत्रालय तथा रेलवे व परिवहन मंत्रालय को सूचित कर सकते हैं कि मैं नदियों में, विशेषकर गंगा व घाघरा में, नौपरिवहन के पक्ष में हूँ। यह केवल रेलवे पर वर्तमान दबाव को कम करने के लिए ही नहीं है, बल्कि यह एक अनिवार्य ज़रूरत भी है।' रेलवे पर यातायात की निर्भरता को कम करने के लिए वैकल्पिक साधनों की तलाश पर भी नेहरू ने बल दिया और इस क्रम में उन्होंने नदियों में नौपरिवहन को एक उचित विकल्प के रूप में देखा।[20]

प्रधानमंत्री बनने के बाद नेहरू ने नदी घाटी परियोजनाओं को भारत के विकास और अकाल, सूखे की समस्या के निजात पाने के एक कारगर तरीके के रूप में देखा। हीराकुंड, भाखड़ा नांगल और कोसी नदी पर बनने वाले बाँधों का उद्घाटन करते हुए नेहरू ने उन्हें 'आधुनिक भारत के मंदिर' के रूप में देखा।[21] 14 सितंबर 1949 को भाखड़ा नांगल परियोजना की एक रिपोर्ट की प्रस्तावना लिखते हुए नेहरू ने भाखड़ा नांगल जैसी परियोजनाओं के महत्त्व को रेखांकित किया। और लिखा कि इन परियोजनाओं से जुड़े हुए लोग सच्चे अर्थों में 'भविष्य के भारत के निर्माता' हैं, इसलिए उनके कंधों पर बड़ी ज़िम्मेदारी है। इसके साथ-साथ उन्होंने लिखा :

> हमारी आज की मुश्किलें जो भी हों हमें कल के भारत के निर्माण के बारे में सोचना है। हमें संपत्ति सृजन करने वाली गतिविधियों की नींव डालने के बारे में सोचना होगा, ऐसे कामों के बारे में जिससे कृषि योग्य भूमि में वृद्धि हो सके, उद्योगों को बिजली की आपूर्ति हो सके, जीवनयापन स्तर ऊँचा उठ सके। उत्पादन में वृद्धि ज़रूरी है, क्योंकि उसका मतलब है देश में अधिक संपत्ति। लेकिन उत्पादन अधिक तभी होगा जब उपभोग बढ़ेगा, और उपभोग बढ़ने का मतलब है क्रय क्षमता में वृद्धि। जिसके लिए हमें हिंदुस्तान के लोगों के जीवनयापन के स्तर में सुधार लाना होगा।[22]

इन बाँधों और नदी घाटियों के निर्माण में लगे हुए मजदूरों को उनके काम

का महत्त्व समझाने और उन्हें राष्ट्र–निर्माण की इस परियोजना में भागीदार बनाने पर भी नेहरू का ज़ोर था। अप्रैल 1950 में राष्ट्रीय योजना सम्मेलन को संबोधित करते हुए नेहरू ने दामोदर घाटी परियोजना के अपने हाल के एक दौरे के अनुभव को सुनाया। नदी घाटी पर चल रहे काम के निरीक्षण के दौरान वहाँ मौजूद इंजीनियरों से जब नेहरू ने पूछा कि क्या उन लोगों ने वहाँ काम कर रहे मजदूरों को इस परियोजना के महत्त्व और उसके दूरगामी परिणामों के बारे में बताया है। जब इंजीनियरों ने उत्तर नहीं में दिया, तब नेहरू ख़ुद मजदूरों के पास गये और उन्होंने मजदूरों से इस सन्दर्भ में बातचीत की। उन्होंने उन मजदूरों को उनके काम के महत्त्व के बारे में बताया कि कैसे यह परियोजना आस–पास के क्षेत्रों को समृद्ध बनाने, बाढ़ की रोकथाम, कृषि योग्य भूमि के विस्तार और विद्युत उत्पादन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाएगी। नेहरू ने कहा कि यह उचित होगा कि हम मजदूरों को यह एहसास दिलाएँ कि वे महज कुछ रुपयों के लिए काम नहीं कर रहे हैं, बल्कि वे कल के समृद्ध भारत का निर्माण कर रहे हैं।[23]

नदी घाटी परियोजना का विचार और डॉ. अंबेडकर

बीसवीं सदी के चौथे दशक में भारत में डॉ. बी आर अंबेडकर ने पहले–पहल नदी–घाटी परियोजना के विचार की पैरवी की। वाइसराय की कार्यकारिणी के लेबर मेम्बर के रूप में जनवरी 1945 में डॉ. अंबेडकर दामोदर घाटी के विकास के साधनों और प्रणाली पर विचार हेतु कलकत्ता में आयोजित एक कान्फ्रेंस में शामिल हुए। इस कान्फ्रेंस में केंद्र सरकार के अलावा बिहार और बंगाल सरकार के प्रतिनिधि भी शामिल थे। यह कान्फ्रेंस बंगाल सरकार द्वारा 1944 में स्थापित 'दामोदर नदी बाढ़ जाँच समिति' के सुझावों पर विचार करने हेतु हुई थी। अपने भाषण में डॉ. अंबेडकर ने उक्त समिति के दो प्रमुख सुझावों पर ख़ासा ज़ोर दिया। ये सुझाव थे : 1. बाढ़ की रोकथाम और मृदा संरक्षण की दृष्टि से जंगल व नदियों को केंद्र सरकार का विषय बनाना, 2. दामोदर पर बाँध बनाने की परियोजना का उद्देश्य महज बाढ़ नियंत्रण न होकर, बिजली उत्पादन और सिंचाई के लिए जलापूर्ति भी होना। डॉ. अंबेडकर ने बिजली उत्पादन व सिंचाई के साथ–साथ बहुद्देशीय परियोजना के अंतर्गत नौपरिवहन को भी शामिल किया। डॉ. अंबेडकर के मतानुसार, बाढ़ की रोकथाम के अलावे एक बहुद्देशीय नदी घाटी परियोजना को सिंचाई, विद्युतीकरण और नौपरिवहन

की तिहरी भूमिका निभानी चाहिए।[24] दामोदर घाटी को डॉ. अंबेडकर ने केंद्र, बिहार व बंगाल सरकार की एक सहकारी परियोजना बताया और तीनों सरकारों के सम्मिलित प्रयास के जरिये आवश्यक जानकारी व संसाधन जुटाने पर बल दिया। उन्होंने यह भी कहा कि इस सन्दर्भ में सरकार के सामने टेनेसी नदी घाटी परियोजना का उदाहरण है और इस क्रम में सरकार ने सेंट्रल टेक्निकल पावर बोर्ड की स्थापना की है और सेंट्रल वॉटरवेज, इरिगेशन एंड नेवीगेशन कमीशन की स्थापना पर भी विचार कर रही है।

इस कान्फ्रेंस के छह महीने बाद अगस्त 1945 में पुनः कलकत्ता में केंद्र, बिहार व बंगाल सरकार की एक संयुक्त कान्फ्रेंस हुई। इस कान्फ्रेंस में डबल्यू.एल. वूर्डूइन द्वारा दामोदर घाटी योजना से जुड़े मेमोरेंडम का मसौदा भी पेश किया गया। कान्फ्रेंस में दामोदर घाटी योजना से जुड़े नीतिगत मसलों व कार्यवाहियों पर विचार करते हुए डॉ. अंबेडकर ने योजना को तीनों सरकारों की सामूहिक ज़िम्मेदारी बताया। इस योजना के फायदे गिनाते हुए उन्होंने कहा कि इसे युद्धोपरांत रोजगार योजना के रूप में भी देखा जाना चाहिए।[25] उन्होंने आश्वासन दिया कि दामोदर घाटी योजना से जुड़े आरंभिक कार्यों, कार्यबल व संगठन की ज़िम्मेदारी भारत सरकार खुद उठाएगी। बशर्ते राज्य सरकारें यह सुनिश्चित करें कि घाटी और उसके निकटवर्ती इलाकों के लोग नदी घाटी योजना से लाभान्वित हों और इसके फायदे जमीनी स्तर तक पहुँचे।[26]

दो महीने बाद ही, नवंबर 1945 में कटक में उड़ीसा की नदियों की बहुद्देशीय परियोजना के विकास के सन्दर्भ में एक कान्फ्रेंस आयोजित हुई। जिसमें केंद्र, उड़ीसा, मध्य प्रांत के प्रतिनिधियों के साथ डॉ. अंबेडकर भी शामिल हुए। कान्फ्रेंस में अपनी बात रखते हुए डॉ. अंबेडकर ने उड़ीसा के सामने तीन मुख्य समस्याओं के होने की बात कही : बाढ़ (साथ ही अकाल व सूखा), स्वास्थ्य में गिरावट और मलेरिया जैसे बुखार की बहुतायत, परिवहन व संचार। डॉ. अंबेडकर ने कहा कि उड़ीसा न केवल लोहा, क्रोम, ग्रेफ़ाइट, बाक्साइट सरीखे प्राकृतिक संसाधनों में धनी है, बल्कि वह जल संसाधन के मामले में भी समृद्ध है।[27] उन्होंने उड़ीसा में आई बाढ़ की जांच के लिए पूर्व में गठित समितियों की रिपोर्टों की चर्चा करते हुए कहा कि इन समितियों ने मूल प्रश्न पर सही ढंग से विचार नहीं किया और जल की अधिकता को एक बुराई के रूप में देखा।

डॉ. अंबेडकर ने इस बात पर ज़ोर दिया कि जल की अधिकता को संसाधन के रूप में देखा जाना चाहिए और उसके समुचित इस्तेमाल व संरक्षण की कोशिश करनी चाहिए। इस सन्दर्भ में, उन्होंने बाढ़ नियंत्रण के साथ–साथ बिजली उत्पादन, मृदा संरक्षण और नौपरिवहन की भी बात कही।[28] नहरों से होने वाले परिवहन पर ज़ोर देते हुए डॉ. अंबेडकर ने जर्मनी और रूस के उदाहरण से सीख लेने की भी बात कही। कृत्रिम जलाशय से डूबने वाले क्षेत्र के सन्दर्भ में डॉ. अंबेडकर ने कहा कि जलाशय के अंतर्गत आने वाले क्षेत्र को डूबने से तो नहीं बचाया जा सकता पर बहुद्देशीय नदी घाटी योजना से होने वाला लाभ कुछ इलाकों के डूबने से होने वाली हानि से निश्चय ही बढ़कर होगा।[29]

मूलशी पेटा सत्याग्रह : राष्ट्रीय आंदोलन का एक विस्मृतप्राय अध्याय

बाँधों और बहुद्देशीय परियोजनाओं की पुरजोर वकालत करते हुए, उसे विकास की अनिवार्य शर्त मानते हुए नेहरू और डॉ. अंबेडकर सरीखे प्रबुद्ध भारतीय 1921 में पुणे के निकट हुए मूलशी पेटा सत्याग्रह के इतिहास को शायद भूल रहे थे। जब मूलशी के मावला समुदाय के लोगों ने टाटा कंपनी द्वारा मूला नदी पर एक बाँध बनाकर जलविद्युत परियोजना शुरू करने का विरोध करते हुए सत्याग्रह शुरू किया था। टाटा की इस प्रस्तावित योजना से कुल 54 गाँवों के दस हजार लोगों की आबादी प्रभावित हो रही थी। आखिरकार मावला समुदाय ने सत्याग्रह के रास्ते को चुना, जिसमें सेनापति बापट ने भी भाग लिया। सत्याग्रह के पक्ष में लिखे गये एक पैम्फलेट में मावला समुदाय के अपनी पैतृक जमीन से जुड़ाव को रेखांकित किया गया। और इसे सिर्फ़ मावला समुदाय के लोगों और कंपनी के बीच संघर्ष न बताकर इसे दो विचारधाराओं के संघर्ष के रूप में देखा। उनके अनुसार यह संघर्ष, सरकार द्वारा प्रश्रय प्राप्त उद्योगवाद की धारणा और संपत्ति की बराबरी व किसानों के स्वामित्व की धारणा का प्रतिनिधित्व कर रहे मावला समुदाय के बीच थी। साथ ही, टाटा को लक्ष्य करते हुए यह भी कहा गया कि 'केवल कुछ पूँजीपतियों के हितों को सार्वजनिक हित की संज्ञा नहीं दी जा सकती।'

टाटा के इस तर्क पर कि बाँध बनाने के काम में मावला समुदाय के लोगों को भी बतौर श्रमिक शामिल किया जायेगा, पैम्फलेट में कहा गया कि 'यह कैसी भ्रष्ट आर्थिक सोच है, जो लोगों को उनका स्वतंत्र, सरल और स्वस्थ जीवन

छोड़कर दासता और शहरी जीवन के अभिशापों को अपनाने के लिए तैयार कर रही है।'[30] आरंभ में *केसरी* के सम्पादक एन.सी. केलकर ने मावला किसानों की पीड़ा को अपने समाचार-पत्र के माध्यम से उठाया। इसी दौरान मावला किसानों के दो समर्थक बालूकाका कानितकर और हरिभाऊ फाटक पांडुरंग महादेव बापट से मिले। जिन्होंने किसानों के सत्याग्रह के समर्थन का वादा किया। अप्रैल 1921 में शुरू हुए मूलशी पेटा सत्याग्रह में भाग लेते हुए पांडुरंग महादेव बापट अक्तूबर 1921 और अक्तूबर 1923 में दो बार जेल गये और इसी सत्याग्रह के दौरान मावला किसानों ने उन्हें 'सेनापति' कहा और आगे चलकर उन्हें सेनापति बापट के नाम से जाना जाने लगा।[31]

'अमृत से विष' : प्रदूषित नदियाँ और पारिस्थितिकी

आज़ादी के बाद के वर्षों में भारतीय नदियों के प्रदूषण को लेकर चिंताएँ और अधिक बढ़ीं। फरवरी 1958 में वाराणसी में दिए अपने एक भाषण में डॉ. राममनोहर लोहिया ने नदियों के प्रदूषित होने पर चिंता जताते हुए उन्हें साफ रखने और प्रदूषण से बचाने का आह्वान किया था। इसी भाषण में उन्होंने महेश्वर में अपनी एक यात्रा के दौरान मिले एक संतरी की बात याद की, जिसने उनसे पूछा था कि 'तुम किस नदी के हो?' डॉ. लोहिया ने उस वाकये को याद करते हुए कहा कि 'दिल में घर कर जाने वाली बात है। उसने शहर नहीं पूछा, भाषा भी नहीं, नदी पूछी।' जो दर्शाता है कि भारतीय जनमानस की दृष्टि में नदियाँ व्यक्ति की अस्मिता से अविभाज्य रूप से सम्बद्ध थीं। भारतीय इतिहास में नदियों की उल्लेखनीय भूमिका को रेखांकित करते हुए डॉ. लोहिया ने कहा :

> हिंदुस्तान का मौजूदा जीवन और पुराना इतिहास सभी, बहुत-कुछ नदियों के साथ-साथ चला, यों सारी दुनिया में, लेकिन यहाँ ज्यादा। अगर मैं राजनीति न करता और स्कूल में अध्यापक होता, तो उसके इतिहास को समझता। राम की अयोध्या सरयू के किनारे, कुरु और पांचाल और मौर्य तथा गुप्त गंगा के किनारे, और मुग़ल और शौरसेनी नगर और राजधानियाँ यमुना के किनारे रहीं। बारहों मास पानी के कारण, शायद विशेष जलवायु के कारण, या हो सकता है, विशेष संस्कृति के कारण ऐसा हुआ हो।[32]

हिंदुस्तान के आम लोगों के रोज़मर्रा के जीवन में नदियों की उपस्थिति और

नदियों की चिंताजनक स्थिति के बारे में डॉ. लोहिया ने कहा :

> आज हिंदुस्तान में 40 करोड़ लोग बसते हैं। एक-दो करोड़ के बीच रोजाना किसी न किसी नदी में नहाते हैं और 50-60 लाख पानी पीते हैं। उनके मन और क्रीड़ाएँ इन नदियों से बंधे हैं। नदियाँ हैं कैसी? शहरों का गंदा पानी इसमें गिराया जाता है। बनारस के पहले जो शहर हैं, इलाहाबाद, मिर्जापुर, कानपुर, इनका मैला मिलाया जाता है इन नदियों में। कारखानों का गंदा पानी नदियों में गिराया जाता है — कानपुर के चमड़े आदि का गंदा पानी। यह दोनों गंदगियाँ मिलकर क्या हालत बनाती हैं? करोड़ों लोग फिर भी नहाते हैं और पानी पीते हैं।

डॉ. लोहिया ने हिंदुस्तान की नदियों को साफ रखने के लिए आंदोलन चलाने की बात कही। उन्होंने सुझाव दिया कि मल-मूत्र और गंदे पानी को नदियों में गिराने की बजाय उसे नालियों के द्वारा खेतों तक ले जाया जाय। जहाँ उसका इस्तेमाल प्राकृतिक खाद की तरह किया जा सके।[33] उल्लेखनीय है कि बीसवीं सदी के पांचवें दशक में धीरे-धीरे दुनिया भर में नदियों में बढ़ते प्रदूषण और इसके दुष्प्रभावों को लेकर चिंता जाहिर की जा रही थी। इसी समय अमेरिका के प्रसिद्ध पत्र *न्यूयॉर्कर* में एक महिला वैज्ञानिक ने डीडीटी जैसे रसायनों के अंधाधुंध इस्तेमाल से नदियों समेत पूरी पारिस्थितिकी पर पड़ रहे प्रभाव की ओर अमेरिका समेत पूरी दुनिया का ध्यान खींचा।

वह वैज्ञानिक थीं रैशेल कार्सन और उनके लेख 1962 में पुस्तक रूप में प्रकाशित हुए जिसका शीर्षक था : *साइलेंट स्प्रिंग*।[34] छपने के साथ ही यह किताब पर्यावरण से जुड़े मुद्दों पर लिखी गई सबसे प्रभावशाली पुस्तकों में से एक बन गई। इस किताब में रैशेल कार्सन ने नदियों के प्रदूषित होने और उनके पानी के विषाक्त होने से नदियों में रहने वाले जीव-जंतुओं के खात्मे का भी हृदयविदारक ब्यौरा प्रस्तुत किया। इस ब्यौरे का आरंभ होता है, 1953 में कनाडा सरकार द्वारा फ़र के पेड़ों पर लगने वाले एक कीड़े (स्प्रूस बडवर्म) से बचाव के लिए किए गये डीडीटी के हवाई छिड़काव से। जिस इलाके में डीडीटी का बड़े पैमाने पर और बारंबार छिड़काव किया गया, वह मिरामीची नदी का जलबहाव क्षेत्र था। यह छिड़काव बाद के वर्षों में भी बदस्तूर जारी रखा गया। नतीजतन मिरामीची का पानी भी डीडीटी के संपर्क में आया, जिसकी वजह से नदी में मौजूद कैडिस

फ्लाई लार्वा जैसे छोटे जीव खत्म हो गये, जो सामन और ट्राउट जैसी व्यापारिक महत्त्व की मछलियों के भोजन थे। इससे नदी में फल-फूल रहे समूचे जलीय जीवन पर विलुप्त हो जाने का खतरा मंडराने लगा। खाद्य के अभाव में सामन मछलियों की संख्या में आगे के वर्षों में भारी कमी आई, जो जीव वैज्ञानिकों के लिए ही नहीं बल्कि मात्स्यिकी बोर्ड और सामन जैसी मछलियों के मुरीदों के लिए भी चिंता का विषय बन गई। मात्स्यिकी बोर्ड द्वारा किए गये अध्ययनों में डीडीटी द्वारा प्रदूषित जल में बड़े पैमाने पर मछलियों के मरने की भी पुष्टि हुई। डीडीटी से नदी के प्रदूषित होने और जलीय जीव-जंतुओं के बड़ी संख्या में मरने की परिघटना दुनिया के अनेक देशों में दुहराई गई, कुछ जगहों पर तो मछलियों की एक विशेष प्रजाति की पूरी की पूरी आबादी ही ख़त्म हो गई। 1955 में अमेरिका के येलोस्टोन नैशनल पार्क से होकर बहने वाली येलोस्टोन नदी के डीडीटी के संपर्क में आने और ट्राउट जैसी मछलियों के मरने की घटना इसका एक और उदाहरण है। रैशेल कार्सन ने यह भी बताया कि फ़र के पेड़ पर लगने वाले कीड़ों को नियंत्रित करने हेतु वैकल्पिक रूप से प्राकृतिक और हानिरहित उपाय भी मौजूद थे, लेकिन सरकारों ने उन प्राकृतिक विकल्पों पर डीडीटी सरीखे खतरनाक रसायनों को तरजीह दी। बाद के वर्षों में, डीडीटी के साथ-साथ एंड्रिन, टाक्साफ़िन, डिएल्ड्रिन, हेप्टाक्लोर जैसे कीटनाशकों के इस्तेमाल ने नदियों के पानी को और भी प्रदूषित किया।[35] मछलियों और अन्य जलीय जीवों के जरिये ये खतरनाक रसायन खाद्य-श्रृंखला का भी हिस्सा बन गये। फिलीपींस, चीन, वियतनाम, थाईलैंड, इंडोनेशिया और भारत में भी डीडीटी सरीखे रसायनों के भयावह दुष्परिणाम देखने को मिले।

एंथ्रोपोसीन युग में नदियाँ

'एंथ्रोपोसीन' युग से तात्पर्य औद्योगिक क्रांति (अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध) के बाद के उस समय से है, जब मानव गतिविधियों ने पृथ्वी पर भूवैज्ञानिक बदलाव लाने शुरू किए। इस प्रक्रिया में मनुष्य ख़ुद एक भूवैज्ञानिक शक्ति बन गया और इस तरह एक नए भूवैज्ञानिक युग का सूत्रपात हुआ। वैज्ञानिकों के अनुसार 'एंथ्रोपोसीन' का आरंभ 'होलोसीन' युग की समाप्ति का द्योतक है, जो लगभग बारह हजार वर्ष पूर्व शुरू हुआ था। इस तरह 'एंथ्रोपोसीन','चतुर्थ कल्प' (प्लेस्टोसीन) और होलोसीन के बाद शुरू होने वाला नया भूवैज्ञानिक युग है।

'एंथ्रोपोसीन' की परिकल्पना का श्रेय रसायनविद पॉल क्रत्जेन और समुद्रविज्ञानी यूजीन स्टोर्मर को जाता है। इन दोनों ने वर्ष 2000 में 'एंथ्रोपोसीन' शीर्षक से एक लेख लिखा, जो इंटरनैशनल जियोस्फीयर-बायोस्फीयर प्रोग्राम की पत्रिका में छपा।[36] क्रत्जेन व स्टोर्मर के अनुसार अठारहवीं सदी के आखिरी दशकों में 'एंथ्रोपोसीन' युग का आरंभ होता है। उल्लेखनीय है कि यह समय यूरोप में औद्योगिक क्रांति के शुरू होने का समय भी है। दो साल बाद, पॉल क्रत्जेन ने अपने एक अन्य लेख में भी 'एंथ्रोपोसीन' युग की संकल्पना और मानव गतिविधियों से आते भूवैज्ञानिक परिवर्तनों के बारे में लिखा। क्रत्जेन के अनुसार, आने वाले हज़ारों वर्षों तक मनुष्य की गतिविधियाँ इसी तरह पृथ्वी पर भूवैज्ञानिक बदलाव लाती रहेंगी। इसी सन्दर्भ में, वे 'एंथ्रोपोसीन' युग में पर्यावरण, पारिस्थितिकी तंत्र और पृथ्वी की जैव-विविधता को विनाश से बचाने हेतु दुनिया भर के वैज्ञानिक समुदाय और विशेषज्ञों के बीच परस्पर सहयोग, समन्वय और वैचारिक अंत:क्रिया को जरूरी बताते हैं।[37]

'एंथ्रोपोसीन' युग और इतिहास के अंतरसम्बन्धों के बारे में लिखते हुए दीपेश चक्रवर्ती ने एक इतिहासकार की दृष्टि से इस नए भूवैज्ञानिक युग के आरंभ के महत्त्व और इतिहास की विचार-प्रणाली व इतिहास लेखन पर इसके दूरगामी प्रभावों को रेखांकित किया।[38] दीपेश चक्रवर्ती के अनुसार 'एंथ्रोपोसीन' युग की अवधारणा विज्ञान ही नहीं समाज-विज्ञान समेत ज्ञान के सभी इदारों पर दूरगामी प्रभाव छोड़ेगी। इतिहास के सन्दर्भ में बात करें तो 'एंथ्रोपोसीन' की धारणा प्राकृतिक इतिहास और मानव इतिहास के बीच के अंतर को खत्म कर देगी। ऐसा नहीं है कि भौगोलिक और प्राकृतिक इतिहास के महत्त्व को इतिहासकारों ने पहले न समझा हो। अनाल्स स्कूल का इतिहासलेखन, विशेषकर फर्नांद ब्रादेल की पुस्तकें जैसे 'द मेडिटरेनियन एंड द मेडिटरेनियन वर्ल्ड' इसका बेहतरीन उदाहरण है। पर वहाँ भी प्राकृतिक इतिहास को अलग कालखंड ('लॉन्ग ड्यूरी') में बाँध देने की प्रवृत्ति रही है।[39] 'एंथ्रोपोसीन' युग में नदियों के स्वरूप में आते बदलावों और नदियों पर पड़ते प्रभावों के अध्ययन में भी विद्वानों ने दिलचस्पी दिखाई है।[40] 'रिवर्स ऑफ एंथ्रोपोसीन' नामक एक प्रोजेक्ट के अंतर्गत अलग-अलग विषयों से जुड़े विशेषज्ञों ने नदियों पर व्यापक अंतरविषयी अध्ययन भी आरंभ किए हैं।[41] जिसके अंतर्गत 'एंथ्रोपोसीन' युग में वैश्विक नदी प्रणालियों

का अध्ययन शामिल है। इस प्रोजेक्ट में वैज्ञानिक, भूगोलवेत्ता, इतिहासकार, समाजवैज्ञानिक तो शामिल हैं ही, साथ ही इसमें नीति–निर्माताओं और सरकारी और गैर–सरकारी संगठनों को भी शामिल किया गया है।

इस लेख में मैंने भारतीय सन्दर्भ में नदियों के प्रति बदलते दृष्टिकोणों को रेखांकित करने की कोशिश की है। हमने देखा कि समाज के 'तरल दर्पण' के रूप में नदियों को देखने वाली समझ पर धीरे–धीरे औपनिवेशिक भारत में नदियों की उपयोगितावादी धारणा हावी होती चली गई। नदी का सामाजिक–सांस्कृतिक महत्त्व अब भी बचा था, और अनेक अवसरों पर राष्ट्रीय नेतृत्व ने भारतीयों द्वारा नदियों के धार्मिक–सांस्कृतिक इस्तेमाल में बाधा डालने पर औपनिवेशिक राज्य को चुनौती भी दी। लेकिन आज़ादी के करीब पहुँचते हुए राष्ट्रीय नेतृत्व का ध्यान नदियों के बहुद्देशीय प्रयोग और नदी घाटी परियोजनाओं पर केन्द्रित हो चला था। राष्ट्रीय योजना समिति की रिपोर्ट इसका प्रमाण है। औपनिवेशिक काल में अकाल, सूखे और बाढ़ के प्रत्यक्षदर्शी रहे जवाहरलाल नेहरू और डॉ. अंबेडकर सरीखे प्रबुद्ध नेताओं ने नदी घाटी परियोजनाओं को इन समस्याओं के समाधान के रूप में देखा। और एक हद तक ये परियोजनाएँ अपने उद्देश्य में और राष्ट्रीय नेतृत्व की अपेक्षाओं को पूरा करने में सफल भी रहीं।

लेकिन जैसा कि आज़ादी के बाद के दशकों में देखने को मिला, इन परियोजनाओं की अपनी सीमाएँ थीं। इनसे जहाँ एक ओर बाढ़ और सूखे की समस्याओं से निजात मिली, वहीं विस्थापन और पुनर्वास की नई समस्याएँ भी पैदा हुईं। इन समस्याओं की आहट हमें 1921 के मूलशी पेटा सत्याग्रह में सुनने को मिलती है, जब मावला समुदाय के किसानों ने टाटा की बाँध बनाने की परियोजना का विरोध किया था। बाँधों के विरोध की परिघटना अब किसी एक राज्य तक सीमित न रहकर हिंदुस्तान के अनेक राज्यों में फैल चुकी है। उत्तर–औपनिवेशिक काल में नदियाँ अंतर–राज्यी विवादों की अंतहीन कड़ी भी साक्षी बनी हैं और दूसरी तरफ नदियों के प्रदूषण और पेयजल के संकट की समस्या आज विकराल रूप धारण कर चुकी है। और अंत में, अनुपम मिश्र की बात को याद करते हुए कहें तो इन सबके अलावा, शायद भारतीय समाज ने भी नदियों के आईने में अपना चेहरा देखना और नदियों के स्वभाव को अपने देह, मन और विचार में उतारना दुर्भाग्यपूर्ण ढंग से छोड़ दिया है।

सन्दर्भ :

1. अनुपम मिश्र (2006), पृष्ठ 48.
2. औपनिवेशिक काल में सिंचाई के साधनों के विकास के विस्तृत ऐतिहासिक विवरण हेतु देखें, एलिज़ाबेथ व्हिटकांब (1991),'इरिगेशन', धर्मा कुमार (सम्पादक), पृष्ठ 677-737.
3. देखें, रिपोर्ट ऑफ द इंडियन इरिगेशन कमीशन 1901-1903 भाग I-III, (1903).
4. नवाब अली नवाज़ जंग बहादुर और यू.एन. माहिदा क्रमशः इस उप-समिति के अध्यक्ष और सचिव थे. उप-समिति के अन्य सदस्य थे : डॉ. मेघनाद साहा, दीवान बहादुर वी.जी. शेते, मोती राम (यू.पी.), जी.डी. अग्रवाल (सेंट्रल प्रोविन्सेज), अली अहमद (असम), एस.सी. मजूमदार (बंगाल) और जी. शेषगिरी राव (मैसूर).
5. के.टी. शाह (1947).
6. वही, 44.
7. वही, 25-26, 58. टेनेसी नदी घाटी परियोजना के विकास और प्रबंधन के ऐतिहासिक विश्लेषण हेतु देखें, एरविन सी. हारग्रोव,(1994).
8. रिवर ट्रेनिंग एंड इरिगेशन, 111-115.
9. लीडर, 20 नवंबर, 1929; सम्पूर्ण गाँधी वांगमय(1971), खंड 42, पृष्ठ 189.
10. यंग इंडिया, 31 अक्तूबर, 1929; सम्पूर्ण गाँधी वांगमय, खंड 42, 81-83.
11. सम्पूर्ण गाँधी वांगमय, खंड 32, 440. औपनिवेशिक भारत में गंगा नदी के प्रदूषण और ब्रिटिश अधिकारियों की प्रतिक्रिया के गहन विश्लेषण हेतु देखें, अवधेन्द्र शरण(2017),'द गंगेज़ एज़ एन अर्बन सिंक', मार्टिन नॉल व अन्य (सम्पादक), रिवर्स लॉस्ट रिवर्स रीगेंड : रीथिंकिंग सिटी-रिवर रिलेशन्स, यूनिवर्सिटी ऑफ पिट्सबर्ग प्रेस, पिट्सबर्ग, पृष्ठ 200-215.
12. नवजीवन, 30 मार्च 1930; सम्पूर्ण गाँधी वांगमय, खंड 43, 120.अक्तूबर 1925 में कच्छ में दिए गये अपने भाषण में भी गाँधी ने राम और निषादराज का ज़िक्र किया और कहा कि 'मुझसे अंत्यजों का तिरस्कार देखा अथवा सहा नहीं जाता. अंत्यजों को छोड़कर इस लोक अथवा परलोक का राज्य भी मिलता हो, तो भी वह मुझे स्वीकार्य नहीं.' नवजीवन, 4 अक्तूबर, 1925, साथ ही देखें, सम्पूर्ण गाँधी वांगमय, खंड 28, 296-298.
13. सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ जवाहरलाल नेहरू (1974), भाग 2 (पहली सीरीज), पृष्ठ 39-40.
14. गोविंद वल्लभ पंत द्वारा 3 मार्च, 1925 को यूपी लेजिस्लेटिव एसेम्बली में दिया गया भाषण, सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ गोविंद वल्लभ पंत(1994), भाग 2, पृष्ठ 140.
15. सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ जवाहरलाल नेहरू, भाग 11 (प्रथम सीरीज), पृष्ठ 382 तथा आगे.

16. इस सन्दर्भ में नेहरू ने इक़बाल की मशहूर रचना 'सारे जहाँ से अच्छा' की ये पंक्तियाँ भी उद्धृत कीं :

'ऐ आब-ए-रूद-ए गंगा वो दिन है याद तुझको, उतरा तेरे किनारे जब कारवाँ हमारा.'

17. नौ साल बाद जनवरी 1949 में बैरकपुर में गंगा किनारे बने 'गाँधी स्मारक घाट' का उद्घाटन करते हुए भी नेहरू ने कहा कि 'गंगा के किनारे एक के बाद एक साम्राज्यों और सभ्यताओं का उदय हुआ है... भारतीय सभ्यता का इतिहास गंगा के किनारे केन्द्रित रहे साम्राज्यों के उत्थान और पतन का इतिहास है...गंगा भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के उद्भव और विकास की भी साक्षी रही है. इसलिए यह उचित ही है कि गाँधी स्मारक घाट का निर्माण गंगा के किनारे किया गया.' देखें, सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ जवाहरलाल नेहरू (1984), भाग 9 (द्वितीय सीरीज), पृष्ठ 431.
18. सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ जवाहरलाल नेहरू, भाग 11 (प्रथम सीरीज), पृष्ठ 662.
19. सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ जवाहरलाल नेहरू (1988), भाग 7 (द्वितीय सीरीज), पृष्ठ 606.
20. नेहरू द्वारा निजी सचिव को टिप्पणी, 24 जून 1949, सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ जवाहरलाल नेहरू (1991), भाग 12 (द्वितीय सीरीज),पृष्ठ 209-210.
21. कोसी परियोजना पर 12 जुलाई 1950 को नेहरू द्वारा की गई एक टिप्पणी के लिए देखें, सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ जवाहरलाल नेहरू, भाग 14 खंड II (द्वितीय सीरीज),पृष्ठ 204-205.
22. सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ जवाहरलाल नेहरू, भाग 13 (द्वितीय सीरीज), पृष्ठ 71.26 नवंबर 1950 को जमशेदपुर में दिए एक व्याख्यान में नेहरू ने बांधों को सिर्फ़ बाढ़ पर नियंत्रण के लिए ही नहीं, नदियों के जल से विद्युत पैदा करने के लिए भी ज़रूरी बताया.
23. सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ जवाहरलाल नेहरू, भाग 14 खंड II (द्वितीय सीरीज),पृष्ठ 210-211.
24. डॉ. बाबासाहब अंबेडकर : राइटिंग्स एंड स्पीचेज़ (1991), खंड 10,पृष्ठ 220-221.
25. योजना के लाभ के अंतर्गत डॉ. अंबेडकर ने कृत्रिम जलाशय में जल-संग्रहण की क्षमता, योजना से सिंचित होने वाले क्षेत्र के विस्तार (7 लाख 60 हजार एकड़), बिजली उत्पादन (तीन लाख किलोवॉट) और इससे लगभग पचास लाख लोगों के लाभान्वित होने की भी बात कही.
26. अंबेडकर राइटिंग्स एंड स्पीचेज़, खंड 10, 287-288. 3 मार्च 1947 को फिक्की की वार्षिक बैठक में अपना स्वागत भाषण देते हुए जवाहरलाल नेहरू ने भारतीय अर्थव्यवस्था के सन्दर्भ में व्यापक दृष्टिकोण अपनाने की वकालत करते हुए नदी घाटी परियोजनाओं की चर्चा भी की और दामोदर घाटी परियोजना को सराहा. देखें,

नैशनल हेराल्ड, 4 मार्च 1947; सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ जवाहरलाल नेहरू(1984), भाग 2 (द्वितीय सीरीज),पृष्ठ 577–584.

27. अंबेडकर राइटिंग्स एंड स्पीचेज़, खंड 10, पृष्ठ 302–303.
28. नौपरिवहन की चर्चा करते हुए डॉ. अंबेडकर ने यह भी जोड़ा कि ईस्ट इंडिया कंपनी ने आरंभ में नौपरिवहन की दिशा में ध्यान दिया. लेकिन उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटिश सरकार ने नौपरिवहन की उपेक्षा करते हुए अपना पूरा ध्यान रेलवे पर लगाया. इस सन्दर्भ में उन्होंने 1875 में रेलवे और नौपरिवहन के समर्थकों के बीच हुई बहसों का भी हवाला दिया, जिसमें नौपरिवहन के समर्थकों का नेतृत्व सर आर्थर कॉटन कर रहे थे.
29. अंबेडकर राइटिंग्स एंड स्पीचेज़, खंड 10,पृष्ठ 308.
30. ए केस फॉर मूलशी पेटा सत्याग्रह (1921),पृष्ठ 18 तथा आगे.
31. वाई.डी. फड़के (1994),पृष्ठ 32–42.
32. राममनोहर लोहिया रचनावली (2009), खंड 8,पृष्ठ 107.
33. वही, 108.
34. रैशेल कार्सन (2002).
35. वही, 128–152.
36. पॉल क्रत्जेन और यूजीन स्टोर्मर (2000), पृष्ठ 17–18.
37. पॉल क्रत्जेन (2002),पृष्ठ 23.
38. दीपेश चक्रवर्ती (2009),पृष्ठ 197–222.
39. फर्नांद ब्रादेल (1972).
40. दुनिया की कुछ बड़ी नदियों पर एंथ्रोपोसीन युग के प्रभाव के विवरण हेतु देखें, जिम बेस्ट (2018).
41. इस प्रोजेक्ट द्वारा प्रकाशित एक अध्ययन हेतु देखें, जैसन एम. केली व अन्य (2018).

गंगा-घाटी में मानव सभ्यताएँ

राकेश तिवारी

यह कोई साधारण सी बात नहीं रही होगी जब आदमी ने लकड़ी के कुंदे, लक्कड़, बाँस या नरकुल जैसी सामग्री को तालाब, सरोवर, सरिताओं और सागर के जल-तल पर तैराए जा सकने की समझ हासिल की होगी। यह ज्ञान ऐसे तकनीकी आविष्कार का कारक बना जिसने मानव/मानव-समूहों को जल के द्वारा उत्पन्न होने वाली बाधाओं को पार करके दूरस्थ प्रदेशों तक आने-जाने के विलक्षण ज्ञान से समृद्ध बना दिया। इतना जान लेने के बाद इन सामग्रियों के माध्यम से उसने क्रमशः वृक्ष के मोटे तनों के भीतरी भाग को प्रस्तर-निर्मित नुकीले उपकरणों से खोकर या जलाकर नाव (डगबोट) तथा लक्कड़, बाँस व नरकुल जैसी सामग्री को बाँधकर बेड़ा बनाने की तकनीक विकसित की। इतना ही नहीं पतवार के सहारे उन्हें एक निश्चित दिशा में संतरित कराने तथा दिशाओं और गंतव्य के निर्धारण के लिए आसमान में तारों की स्थिति, लहरों के बहाव और पक्षियों की उड़ान की दिशा के अध्ययन से अर्जित ज्ञान को अपनी संततियों को सौंपा भी।

पुराविदों और मानव विज्ञानियों द्वारा किए गये गहन अध्ययनों से निकलीं सुविचारित धारणाओं के अनुसार अंतिम हिम-युग में मानव-समूहों के आवागमन को बाधित करनेवाले समुद्रों का जल-स्तर आज से लगभग 150 मीटर से भी ज्यादा नीचे रहा होगा।[1] उसी युग में तब के मानव-समूहों ने विशाल समुद्री बाधाओं को पाकर समस्त महाद्वीपों को जोड़नेवाले समुद्री मार्ग प्रशस्त किए। इन असाधारण उपलब्धियों को समझने के लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। सही मायने में उन्होंने ही, समस्त महाद्वीपों को जोड़नेवाले समुद्री-मार्ग खोले

होंगे। उस समय समुद्र का स्तर नीचा होने के कारण, आस्ट्रेलिया और दक्षिण-पूर्व एशिया के मध्य की समुद्री दूरी लगभग 90 किलोमीटर ही रह गई थी। हालाँकि, यह दूरी भी तत्कालीन तकनीकी ज्ञान से बनी साधारण नौकाओं और बेड़ों के लिए किसी तरह कमतर नहीं आँकी जा सकती। जबकि आज से लगभग 65,000 वर्ष पूर्व ही आस्ट्रेलिया में मानवों की उपस्थिति,[2] उन्हीं संसाधनों द्वारा, इतने लम्बे समुद्र को पार करके, उस धरती पर डेरा डालने की ओर स्पष्ट संकेत करती है। निश्चय ही वे लोग असाधरण तकनीकी ज्ञान, कौशल, क्षमता और पराक्रम वाले रहे होंगे। ऐसा नहीं है कि उन मानव-समूहों के सभी सदस्य नौकायन (नेवीगेशन) से सम्बन्धित सूक्ष्म तकनीकों यथा नौका या बेड़ा बनाने, उनके संवहन, दिशा, तारों की स्थिति आदि का ज्ञान रखते रहे होंगे, वरन उनमें से कुछ ही व्यक्ति इन विधाओं के विशेषज्ञ रहे होंगे और उनके ज्ञान और अनुभव की विरासत पाकर ही दुनिया में भावी नाविकों के विशिष्ट समूह विकसित हुए होंगे। हमारे देश के नाविक और उत्तर भारत की नदियों के किनारे निवास करने वाले निषाद, मल्लाह आदि उसी गौरवशाली परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। काल के लम्बे अंतराल और प्रकृति के प्रभाव से शीघ्र नष्ट होने वाली सामग्री से निर्मित प्राचीनतम नौकाओं और बेड़ों के अवशेष हमें अब तक नहीं मिल सके हैं। फिर भी, हालैंड में पेस्से के पीट-जमावों से मिली पेड़ के तने को काटकर बनायी गई आज से लगभग 10,000 से 8,000 वर्ष प्राचीन (8,040 एवं 7,510 ईसापूर्व)।[3] काष्ठ-निर्मित संरचना को लघु-नौका या डोंगी (डगबोट) के रूप में पहचाना गया है। इंग्लैण्ड में स्टारकार नामक स्थान और जर्मनी आदि से लगभग इतनी ही पुरानी नौका की पतवारें भी मिली हैं। लेकिन इसके पहले ही नौका-शिल्प और अधिक विकसित हो चुका होगा। अज़रबैज़ान की एक शैल-चित्रशाला में लगभग 10,000 वर्ष प्राचीन लाल रंग से चित्रित नरकुल की एक ऐसी नौका मिली है जिस पर बीस नाविक पतवार (डाँड़) चलाते दर्शाए गये हैं। तरह-तरह की छोटी-बड़ी नौकाओं और बेड़ों के उपयोग की परम्परा भारत और विश्व के विभिन्न भागों में आज भी प्रचलित है जिन्हें देखकर उनके प्राचीनतम स्वरूप का अनुमान लगाया जा सकता है।

आज से लगभग 5,000-4,000 वर्ष के बीच सैंधव सभ्यता और मध्य एशियाई सभ्यताओं ने नौका-निर्माण और नौवहन की तकनीकों का इतना विकास कर लिया था कि उनके मध्य सामुद्रिक व्यापार होने लगा। तत्कालीन नौकाओं

के कुछ चित्रण उक्त सभ्यताओं से सम्बन्धित स्थलों पर मुद्रा–छाप और मिटटी के खिलौनों के रूप में मिले हैं।[4] गुजरात में समुद्र किनारे लोथल नामक स्थान पर एक तत्कालीन बंदरगाह का मिलना उन्नत समुद्री व्यापार का स्पष्ट प्रमाण है।[5] वैदिक साहित्य में 'नौ' (नाव) सम्बन्धी शब्दों और नाव के द्वारा की जाने वाली यात्राओं का उल्लेख है। ऋग्वेद और वाजसनेई संहिता में सौ डाँड़ों वाली नौकाओं का वर्णन आता है।[6] इतना ही नहीं, नदियों के मार्ग से भी आवागमन और व्यापार भी उन्नत स्थिति में था। स्वाभाविक रूप से तब तक उक्त व्यापार में भेजी और आयात की जाने वाली सामग्री को नौकाओं में लाने ले जाने वाले नाविकों के विशिष्ट और संगठित समूह बन चुके होंगे और तत्कालीन समाज में उच्च आर्थिक उपादेयता के कारण उनका विशेष आदरपूर्ण स्थान रहा होगा। पिछली शताब्दी के सातवें दशक के आस–पास, उत्तर प्रदेश में, गंगा के उत्तर दिशा में स्थित क्षेत्रों से प्रतापगढ़, जौनपुर और इलाहाबाद में मध्यपाषाण युग और उससे कुछ पहले के (लगभग 10000 वर्ष और उसके बाद के) ऐसे लघु पाषाण उपकरण पाए गये हैं जिनके लिए प्रयुक्त प्रस्तर गंगा–यमुना के उस पार दक्षिण में विंध्य–पर्वत से ही प्राप्त किए जाते रहे होंगे। इसके लिए उन्होंने इन चौड़ी नदियों को पार करने के लिए किन्हीं संतरण–साधनों का उपयोग किया ही होगा। इसी प्रकार चारों ओर ताल से घिरे लहुरादेवा (जिला संत कबीर नगर, उ.प्र.), गंगा और यमुना के संगम पर झूसी और निकट हीहेता पट्टी तथा विंध्यक्षेत्र में बेलन नदी के किनारे कोल्डिहवा और महगरा (जिला प्रयागराज, उ.प्र.) और अदवा व बेलन नदियों के संगम पर स्थित टोकवा (जिला मिर्ज़ापुर, उ.प्र.) नामक प्राचीन स्थलों से मिले लगभग 10000–9000 वर्ष प्राचीन खेतिहरों की बसावट के साक्ष्य[7] इन नदियों के आर–पार जाने के लिए नौकायन जैसे संसाधनों के ज्ञान की ओर संकेत करते हैं। उपर्युक्त के अतिरिक्त, कालांतर में यमुना किनारे या उसके निकट उत्तर प्रदेश में सनौली और आलमगीरपुर (जिला बागपत), मथुरा, बटेश्वर (जिला आगरा), चकरनगर (एक चक्रा नगरी, जिला इटावा), मूसानगर (जिला कानपुर देहात), कौशाम्बी (जिला कौशाम्बी), भीटा (जिला प्रयागराज), गंगा के किनारे हस्तिनापुर (जिला मेरठ), ध्रुव टीला (बिठूर), कन्नौज, जाजमऊ (जिला कानपुर), श्रृंगवेरपुर और लाक्षागृह (जिला प्रयागराज), अगियाबीर (जिला मिर्ज़ापुर), राजघाट (वाराणसी), बिहार में बक्सर (बिहार),

चिरांद (गंगा–सोन–सरयू संगम, जिला सारन) और चेचर कुतुबपुर आदि, नदियों के देश बंगाल में अजया घाटी में बाहिरी, पाण्डु राजारधिबी आदि स्थल, सरयू नदी के किनारे उत्तर प्रदेश में स्थित अयोध्या, नरहन–चिंडिहार और धुरिया पार (जिला गोरखपुर), माँझी (जिला सारन, बिहार, सरयू की सहायिका राप्ती और कुआनो नदियों के संगम पर स्थित सोहगौरा (जिला गोरखपुर, उ.प्र.) जैसी आज से लगभग 5500 से 3000 वर्ष पहले ही बस चुकी बसावटों के पुरातात्त्विक प्रमाण मिल चुके हैं।[8] तदनन्तर इनमें से कुछ के क्रमशः प्रमुख नगरों में विकसित होने की जानकारी मिलती है। नदी के माध्यम से इनके बीच विकसित हुए पारस्परिक सम्बन्ध आज से लगभग 2500 वर्ष पहले ही जल–मार्गों के रूप में स्थापित हो चुके थे।

जातकों में एक द्रोणी (छोटी नाव), राजा द्वारा नदी में प्रयोग की जानेवाली नावों के बेड़े बहुनावास संघात आदि का नाम मिलता है। मोतीचन्द्र द्वारा लिखित 'सार्थवाह' में प्राचीन साहित्य में संदर्भित नौ–निर्माण और उनके प्रकारों से संबद्ध अनेक पारिभाषिक शब्द भी उल्लिखित हैं।[9] ऐतिहासिक कालों में, वाराणसी का अधिकांश व्यापार गंगा के जल–मार्ग से होता था। वहाँ से प्रयाग होकर जानेवाली नावें यमुना नदी के मार्ग से मथुरा–इंद्रप्रस्थ तक जाती थीं।[10] यह मार्ग वाराणसी से गंगा किनारे अगियाबीर, विंध्याचल और प्राचीन प्रतिष्ठानपुर तथा यमुना किनारे बसे भीटा, कौशाम्बी, मूसानगर, एकचक्रानगरी होकर जाता रहा होगा। प्रतिष्ठानपुर (झूसी या प्रयाग) से आगे दूसरी ओर गंगा के रास्ते श्रृंगवेरपुर, ययातिनगर (जाजमऊ), कन्नौज होकर हस्तिनापुर जाता था। आज से लगभग छब्बीस सौ वर्ष पहले पर्सिया के दारा (डेरिअस) और चौबीस सौ वर्ष पूर्व सिकंदर द्वारा पश्चिम भारतीय नदियों में नौ–बेड़ों का उपयोग किया गया था।[11] इन जल–मार्गों पर होनेवाला समस्तनौ–परिवहन का दारोमदार निषादों की बलिष्ठ भुजाओं और नौ–कौशल के बल पर ही टिका होगा। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार पहले स्थल–मार्ग की अपेक्षा नदी–यात्रा अच्छी समझी जाती थी।[12] मौर्य–काल में तो विधिवत एक नौकाध्यक्ष के अधीन समुद्र और नदियों में चलनेवाली नावों का खाता रखा जाता था। अर्थशास्त्र का पूरा एक अध्याय हीनावाध्यक्ष से सम्बन्धित है, जिसमें नावाध्यक्ष के कार्य–दायित्वों, नाविकों, मछली मारने वालों पर लगने वाले कर, नाव–भाड़ा, सरकारी और व्यक्तिगत नावों वगैरह का उल्लेख किया

गया है।[13] प्राचीन साहित्य में यथा जातककथाओं और महाभारत में समुद्र व नदी–यात्राओं और निषादों का वर्णन किया गया है।[14] रामायण के अयोध्या काण्ड में निषादराज गुह द्वारा पाँच सौ नावों का बेड़ा लेकरभरत के मार्ग को अवरुद्ध करने की कथा सभी जानते हैं।

चुनार के बलुआ–पत्थर के नाम से जाने गये प्रस्तर–खंडों पर तराशे गये मौर्य सम्राट अशोक द्वारा तीसरी शती ईस्वी पूर्व में स्थापित कराए गये सारनाथ, वैशाली, कौशाम्बी आदि के स्तम्भ अपनी विशिष्ट पॉलिश और कला की दृष्टि से भलीभांति जाने जाते हैं। किंतु उनके सन्दर्भ में सामान्यतया लोग यह नहीं जानते हैं कि इनके निर्माण के लिए प्रयुक्त प्रस्तर की खदानें गंगा के दक्षिण स्थित विंध्य के पठारों पर स्थित हैं। ऐसी अनेक खदानें उत्तर प्रदेश के मिर्ज़ापुर जिले में चुनार के दक्षिण में बड़ा गाँव,[15] मोहरपुर, बघौरा आदि[16] से और अहिरौरा के आगे चंदौली जिले में मिली हैं।[17] इनमें से बड़ा गाँव और चंदौली की खदानों से तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व के ब्राह्मी और बाद के खरोष्ठी एवं देवनागरी लिपियों में अंकित अभिलेख मिले हैं। यहाँ मिले खदानों से निकालकर गोलाकार रूप में काटे गये प्रस्तर–खण्डों को गंगापार के दूरस्थ क्षेत्रों तक ले जाने के लिए नाव और लकड़ी या बांस के बेड़ों का प्रयोग किया गया होगा। चुनार से पत्थर की पटिया लादकर गंगा के जलमार्ग से आज भी दूर–दूर तक चलने वाली बड़ी–बड़ी पालदार नावें उसकी स्पष्ट पुष्टि करती हैं।

लम्बी अवधि में न केवल नदी–मार्गों से होनेवाले यात्रा, व्यापार, खनिज पदार्थों आदि की ढुलाई के लिए अथवा अन्यान्य कारणों से नदियों में नाव से होनेवाले परिवहन बल्कि स्थलीय महापथों और सामान्य पथों पर पड़नेवाली नदियों से पार उतारने के लिए भी अनिवार्य रूप से नाविकों पर निर्भर रहना पड़ता था। यदि यह कहा जाय कि इन समस्त नदियों पर लगभग चार हजार वर्ष तक नाविकों, मल्लाहों, माझियों, धीवरों और निषादों का अखंड दावा रहा है, तो यह बात सर्वथा उपयुक्त होगी। केवल नौका–वहन के लिए ही नहीं, नदियों में जाल डालकर मत्स्य–आखेट करने–बेचने जैसे व्यापार आदि में भी मुख्यत: उनकी ही भागीदारी रही होगी। रामायण और महाभारत में उल्लिखित निषादराज की महिमा और निषध देश के उल्लेख उनकी तत्कालीन विशिष्ट सामाजिक स्थिति के स्पष्ट द्योतक हैं। समाज के विभिन्न क्रियाकलापों से इस समाज के

हज़ारों बरस तक रहे लम्बे क्रमिक सम्बन्धों के चलते घाटों की उतराई, यात्रा और व्यापार में दूर–दूर तक आने जाने, मत्स्य–व्यापार आदि के कारण ये लोग आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक रूप से पर्याप्त संपन्न, सबल और आदर पूर्ण रहे हैं। प्राचीनकाल से आंग्ल महाप्रभुओं के इस खित्ते में आने तक नदी–मार्गों से नौ–परिवहन और व्यापार में नाविकों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान बना रहा। इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि 1976 में इस लेख के लेखक की दिल्ली से कलकत्ता तक की अपनी नौका–यात्रा के बीच यमुना–चम्बल संगम पर बनारस से छोटी नौकाओं में बैठकर मछली मारते चले आए मल्लाह से मुलाक़ात हुई थी जिसको बनारस से चले लगभग एक वर्ष का समय व्यतीत हो चुकाथा। चुनार से पत्थर की पटिया लादकर बनारस और उससे आगे, चिरांद (बिहार) में बालू–मोरंग भरकर ले जाने वाली पाल ताने बड़ी–बड़ी नौकाओं का आवागमन तब भी चल रहा था, जो आज भी यथावत है। बिहार में गंगा में चलते बांस के बेड़े भी देखने को मिले। गंगा पर फरक्का–बाँध बनने से पहले गंगा के रास्ते बांग्ला देश में ढाका और उसके आगे समंदर तक जानेवाली नावों और ऐसी लम्बी यात्राओं पर निकलते समय नाव की पूजा और अन्य अनुष्ठानों के हमने किस्से भी सुने थे।[18] नदी–क्षेत्रों में रहनेवालों से उनके अत्यंत पारिवारिक और सौहार्दपूर्ण पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित हुए जिनकी झलक जन्म सेमृत्यु तक होनेवाले संस्कारों और छोटे–बड़े मेलों में आज भी देखी जा सकती है। इस सन्दर्भ में यहाँ दिल्ली से कलकत्ता तक की गई नौका यात्रा के दरमियान गाज़ीपुर जिले में गंगा किनारे स्वयं देखे गयेएक अनुष्ठान का उदाहरण देना उचित होगा।[19] यह प्रसंग कुछ यों है :

> गाँव की किसी स्त्री ने गंगाजी से कोई मनौती माँगी थी। मनौती पूरी होने पर, वह गाँव की स्त्रियों के साथ गंगाजी को आर–पार की माला चढ़ाने आती है। सब की सब सज–धज कर मांगलिक गीत गाती हुई गंगाजी के तीर पर पहुँचकर नौका–पूजन करती हैं। नाव के अगले सिरे यानी गलही पर शुद्ध घी की पाँच पूड़ी, चना, और बताशा चढ़ाकर सिंदूर का लेपन करती हैं। मल्लाह नाव को नदी के पार ले जाता है। माला चढ़ाने की प्रक्रिया पूरी होने पर जब नाव वापस आती है और स्त्रियाँ अपनी थाली और अन्य सामान सँभालकर नाव से उतरने को उतावली हुई जाती हैं, तभी साथ चल रहे पंडितजी उन्हें रोक कर एक

रस्म बाकी रह जाने की याद दिलाते हैं। साँवले और स्वस्थ मल्लाह ने मुस्कुरा कर कुछ कहा और स्त्रियों में अचानक हँसी की लहर उठ पड़ी। उन्होंने भी कुछ कहा, सुन कर मल्लाह खुल कर हँसा। फिर डाँड़ संभाल कर नाव को गोल-गोल चकरिया खिलाने लगा। नए उत्साह और मधुर हास्य के स्त्रियों का नया-नया स्वर चढ़ा -

''धीरे धीरे झिझरी खेलाव रे भइया मलाह!
तोके देबै रुपिया पैसा औ देबे ननदी क दान!!''

स्त्रियों गाती हैं : ऐ भइया मल्लाह! झिझरी खेलाने या नाव को गोल-गोल चक्कर खिलाने की रस्म पूरी करो, हम तुम्हें न केवल रूपया-पैसा वरन अपनी ननद को भी उपहार में देंगे। जाहिर है कि स्त्रियाँ मल्लाह से अपनी ननद का ब्याह करवाने की ठिठोली कर रही हैं। कितने सहज भाव से मल्लाह समाज के प्रति आदर और स्नेह के साथ सम्मिलित करने का सुंदर तादात्म्य बिठाया गया है।

घर-परिवार के सदस्यों की तरह सबको हँसी और मौज की छूट है। वे आगे एक टुकड़ा और जोड़ती हैं :

रुपिया पैसा से खर्चा चलइहा
औ भौजी से घर घरूआर!
धीरे धीरे झिझरी खेलाव रे भइया मलाह !''

वास्तव में, भारत में अंग्रेज़ों के अधिपत्य जमाने के बाद गंगा-घाटी की नदियों को, कलकत्ता-ढाका-रंगून के बीच स्टीमरों ने नए तरीके से रच दिया। नदियों के अब तक चले आ रहे निषादों के अखंड दावे पर उन्होंने पहला धावा मारा। इसके बाद लम्बी दूरी वाले यात्रियों और माल की ढुलाई और कहीं-कहीं नदी की उतराई उनके हाथ से निकल गई। उसके बाद घाटों के ठेके और अन्य संसाधन एक-एक कर उनके हाथ से निकलते गये। अनवरत चल रहे सेतु और सड़क निर्माण और रेल ने धीरे-धीरे उनके रहे-सहे अधिकांश संसाधन भी लील लिए। उनकी धीरे-धीरे खुदमुख्तार समुदाय की जगह मजदूरों में बदल दिया गया। वर्तमान में भी, मेलों-पर्वों पर काशी-प्रयाग जैसे तीर्थों और ग्रामीण इलाकों में बचे रह गये सीमित आय के उनके साधन भी छीजते जा रहे हैं। ऊपर से पर्यटकों का दिल जीतने के लिए लाये जा रहे क्रूज़ भी उनका दिल दुखाने

आ धमके हैं। कुल मिला कर नदियों के किनारे रहने वाली निषादों की बहुत बड़ी आबादी अपनी पारम्परिक आर्थिक-व्यवस्था से विहीन और सामजिक दृष्टि से हाशिए पर आ गई है। ठीक उसी तरह जैसे अंग्रेज़ों के साथ आयी औद्योगिक क्रांति ने तब तक विश्व का सबसे बेहतरीन लोहा बनाने वाले अगरिया जैसे धातु गलाने वालों और कपड़ा बुनने वाले समुदायों व अन्य तकनीकों के पारम्परिक संवाहकों को सन्दर्भहीन कर दिया।

अंत में, यह कहा जा सकता है कि नई तकनीकों और विकास के नए तरीकों और संसाधनों को अपनाना तो अत्यंत आवश्यक है लेकिन ऐसा करने के साथ यदि पुरानी परम्परा में चले आ रहे आर्थिक, सामजिक एवं अन्य संरचनाओं के सामंजस्य का संतुलन भी बना रह पाता तो और भी अच्छा होता। तकनीक, विकास या कोई भी चीज तभी तक अच्छी है जब तक कि वह लोगों की थाली में आया कौर न छीन ले। सबको सुखी रहने का प्राकृतिक अधिकार है, हमें इसका आदर करना चाहिए। नई-नई प्रौद्योगिकियों के साथ नदियों और झीलों से जुडी विकास की योजनाएं बनाते समय ही निषाद-समुदायों के लिए शिक्षा और रोज़गार के समावेशी विकल्प अपनाए गये होते तो उनकी आज की यह चिंतनीय स्थिति न उत्पन्न होती। चलिए, जो बीत गया वो बीत गया, आगे की सुध लेकर, इधर समुचित ध्यान देकर, कुछ सकारात्मक किया जा सका तो यह मान कर संतोष किया जा सकेगा कि अन्त भला तो सब भला। ऐसा करके ही हम निषाद-समुदायों को अपने समाज में उनका समुचितगौरवपूर्ण सम्मान और स्थान दिला सकेंगे।

सन्दर्भ :

1. https://en.wikipedia.org/wiki/Prehistory_of_Australia#/media/File:Sunda_shelf.jpg
2. क्रिस क्लार्कसन आदि (2017)
3. http://www.archeoforum.nl/Pessev®.html.
4. ई.जे.एच. मैके (1938),पृष्ठ 340-341.
5. एस. आर. राव (1973); एस.आर. राव (1979 एवं 1985); जोनाथन मार्क केनोएर (1998).
6. मोतीचंद्र (1966), पृष्ठ 3, 7, 9.

7. जी.आर. शर्मा (1973), पृष्ठ 129–146; जी.आर.शर्मा (1975), पृष्ठ 1–29 पर संकलित; जे.एन. पाल (2002), पृष्ठ 288–305; राकेश तिवारी आदि (2002), पृष्ठ 35–68.
8. राकेश तिवारी (2004), पृष्ठ 102–116; राकेश तिवारी (2010),पृष्ठ 277–304.
9. मोतीचंद्र (1966) में वासुदेव शरण अग्रवाल की भूमिका, पृष्ठ 12–13.
10. मोतीचंद्र (1966), पृष्ठ 17.
11. मोतीचंद्र (1966), पृष्ठ 73–74.
12. मोतीचंद्र (1966), पृष्ठ 73–74.
13. कौटिल्यीय अर्थशास्त्र (1969) पृष्ठ 291–97.
14. मोतीचंद्र (1966)
15. विदुला जायसवाल (1998), पृष्ठ 212–223.
16. राकेश तिवारी, प्रह्लाद कुमार सिंह, गिरीशचंद्र सिंह (1999), पृष्ठ 163–223.
17. राकेश तिवारी और रवींद्रनाथ सिंह (2004), पृष्ठ 91–96.
18. राकेश तिवारी(2014),पृष्ठ 63, 161, 138–141, 157–58, 171–72 देखिए.
19. वही, पृष्ठ 122–123.

शास्त्रों में गंगापरक वर्णनों के पारिस्थितिकीय निहितार्थ

बलराम शुक्ल

> हे गंगा, आपका स्वरूप हमारे ताप को नष्ट करे जो सभी धर्मों का निधान है, नित्य नूतन आनन्द का करने वाला है, तीर्थों में सबसे प्रधान है, तीनों लोकों के स्वच्छ परिधान की तरह है, बुद्धि को एकाग्र करने वाला है, मूर्खताओं को तिरोहित करने वाला है तथा सभी प्रकार के सौभाग्यों को देने वाला है।[1]

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में गंगा के माहात्म्य का वर्णन इतनी अलौकिक रीति से किया हुआ मिलता है कि वह किसी भी आधुनिक व्यक्ति को आश्चर्यचकित कर देता है। यदि हम भारतीयों के हृदय में गंगा के प्रति व्याप्त इस प्रगाढ़ श्रद्धा के कारणों पर विचार करें तो जो बात हमें समझ में आती है, वह है इस भूभाग पर गंगा नदी के द्वारा किए गये उपकार। सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति का विकास गंगा के अनुदैर्घ्य एवं उसके समान्तर हुआ है। जिस दिशा में गंगा बह निकली उस दिशा में हमारी संस्कृतियों के समृद्ध केन्द्र विकसित हुए। गंगा ने न केवल भारत के प्रमुख सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा धार्मिक केन्द्रों को विकसित होते हुए देखा है अपितु वह उन सबकी उत्पत्ति तथा विकास की प्रमुख आधार भी रही है। इसी कारण भारत के ऐतिहासिक मानस में गंगा की छवि स्वतः ही पालन तथा पोषण करने वाली माता अथवा धात्री[2] (धाय माँ) की बन गई।

भारतीय संस्कृति के विकास के प्रमुख कारकों में से एक होने के कारण इस अद्‍भुत नदी के शास्त्रीय एवं पौराणिक वर्णनों में भारतीय संस्कृति के प्रायः सभी तत्त्वों के दर्शन एक साथ हो जाते हैं। वैदिक वाङ्मय यदि सप्तसिन्धुओं

के गुणानुवादों से परिपूर्ण है [3] तो उत्तरवर्ती महाकाव्य काल तथा पौराणिक काल गंगा तथा उसकी सहायक नदियों के माहात्म्य वर्णन से आप्लावित हैं। भारतीय वाङ्मय में गंगा का विकास जैसे–जैसे प्राकृतिक नदी से एक मानुषी के रूप में होता जाता है, वैसे–वैसे उसके भारत के प्रायः सभी ऐतिहासिक एवं पौराणिक चरित्रों के साथ गहरे सम्बन्धों की परतें भी पुराकथाओं में जुड़ती चली जाती है। ये चरित्र चाहे परब्रह्मस्थानीय त्रिदेव हों, स्वर्गीय इन्द्रादि देवता हों, भूमिस्थ ऋषि–महर्षि–सन्त हों अथवा सामान्य जन, गंगा का सरोकार किसी–न–किसी रूप में सबसे दिखाई पड़ता ही है। भारत के शास्त्रीय तथा लोकवाङ्मय में गंगा से सम्बद्ध सहस्रों कहानियाँ बिखरी हुई हैं। सनातन वैदिक परम्परा के अतिरिक्त जैन इत्यादि समानान्तर परम्पराओं के भी अपने संस्करण हैं।[4] सम्पूर्ण भारत वर्ष ने गंगा के साथ अपना तादात्म्य इतने स्तरों पर विकसित किया है कि उसका स्वरूप भौतिक होने के साथ आध्यात्मिक, बाह्य होने के साथ आन्तर[5], पार्थिव होने के साथ स्वर्गिक[6] भी हो चला है। गंगा के अर्थ का विस्तार इस सीमा तक हो चला है कि गंगा शब्द नदी विशेष में सीमित न रहकर नदी सामान्य का वाचक हो गया है। इतना ही नहीं, भारत तथा भारतवंशी लोगों के समूहों में छोटा हो या बड़ा, स्थिर हो अथवा अस्थिर सभी प्रकार के जल संस्थान को गौण रूप में अथवा मुख्य रूप में गंगा शब्द से पुकारा जाता है।[7] इस प्रकार का अर्थ विस्तार वस्तुतः भाषिक व्यवहार की एक प्रविधि है। इस प्रविधि से लाभ यह होता है कि गंगा ने जो सहस्राब्दियों तक जनसामान्य में अलोकसामान्य महत्ता, दिव्यता तथा पवित्रता अर्जित की है उसे अन्य नदियों पर सरलता से आरोपित अथवा संक्रान्त कर दिया जाता है।[8] उपर्युक्त तथ्य से गंगा के प्रति जनसामान्य के मन में आदर की प्रगाढ़ता तो द्योतित ही है, साथ ही साथ यह बात भी हमें समझ में आती है कि वाङ्मय में वर्णित गंगा से सम्बद्ध माहात्म्यों तथा विधि निषेधों को केवल गंगा तक ही सीमित नहीं मान लेना चाहिए। ये सारी बातें विशेष रूप से गंगा से सन्दर्भित होने के साथ ही अन्य नदियों पर भी सामान्य रूप से अतिदिष्ट होती हैं। ध्यातव्य है कि लोक तथा शास्त्र दोनों ही स्थानों पर गंगा शब्द अपने सामान्य अर्थों में नदी मात्र का वाचक रहा है।

जनकल्याण की अपनी अपूर्व क्षमता को देखते हुए भारतीयों के मन में गंगा के प्रति शनैः शनैः दिव्यता का भाव विकसित हुआ। प्राचीन वाङ्मय में

समाविष्ट ग्रन्थ गंगा के आध्यात्मिक तथा भौतिक प्रभावों से इतने अधिक आश्वस्त हैं कि उन्होंने उसे सर्वतीर्थमय, सर्वदेवमय घोषित किया है। बताया गया है कि भयंकर कलिकाल में समस्त तीर्थों के निर्वीर्य तथा प्रभावहीन हो चुकने पर भी गंगा का प्रभाव समाप्त नहीं होता है।[9] गंगा को जल के रूप में ईश्वर का दर्जा दिया गया है। उसे ब्रह्म, धर्म अथवा आनन्द का द्रवीभूत रूप माना है।[10] भारतीयों ने ईश्वर तत्त्व का साक्षात्कार प्रत्येक रूप में किया है। उन्हें ईश्वर को यदि जल के रूप में साक्षात्कार करना हो तो वह उन्हें गंगा में दिखाई देता है। गंगा का यह स्वरूप भारतीयों के मन में इसलिए स्थिर हो सका है क्योंकि उसने मनुष्य तथा मनुष्येतर प्राणियों के अनगिनत वंशों को बिना किसी भेद भाव के [11] भौतिक तथा आध्यात्मिक लाभ पहुँचाया है।[12] यह कार्य गंगा ने बहुत बड़े स्तर पर किया जिसके कारण उसे सभी नदियों तथा सभी देवताओं की स्वामिनी के रूप में प्रतिष्ठित किया गया।[13] गंगा के अतिरिक्त कोई भी अन्य देवता मनुष्य से इतना अधिक सम्पृक्त तथा उसके अधिक निकट अथवा उपलब्ध नहीं है जिसका सेवन इतने अलग अलग प्रकारों से किया जा सकता हो। गंगा का स्मरण, श्रवण, अभिलाषा, कीर्तन, दर्शन, स्पर्श पान, स्नान, निकटवास, मृत्तिकासेवन (मिट्टी का सेवन) तथा वायुसेवन, ये सभी पवित्र करने वाले माने गये हैं—

श्रुताऽभिलषिता दृष्टा स्पृष्टा पीता च गाहिता।
गङ्गा तारयते तेषामुभौ वंशौ विशेषतः॥[14]

भारत की प्राचीन पीढ़ियाँ गंगा के महत्त्व को इतनी तीव्रता से सम्भवतः इस कारण जान सकती थीं कि उन्हें गंगा के अभाव की स्थिति की कल्पना थी अथवा इसका अनुभव था। गंगा की उपस्थिति का ठीक-ठीक मूल्यांकन वही कर सकता है जो इसके व्यतिरेक (अभाव) की स्थिति का प्रत्यक्ष कर चुका हो अथवा इसका अनुमान कर सकता हो। पौराणिक वाङ्मय गंगा सम्बन्धी वर्णनों की शुरुआत पृथ्वी पर उस स्थिति से करते हैं जब गंगा नदी यहाँ नहीं थी। उसे धरती पर प्रकट करने के लिए मनुष्यों की कई पीढ़ियों के सफल-असफल प्रयत्नों की चर्चा भी उसके महत्त्व का ज्ञापन कराने के लिए पर्याप्त रूप से की गई है। जहाँ गंगा नहीं है उस प्रकार के प्रदेशों को धर्मशास्त्रों में अवर स्तर का माना गया है। सरस्वती जैसी महो अर्णः[15] *(बहुत अधिक जल)* वाली नदी का दुर्भाग्यपूर्ण विनशन (लोप) भी उनके मस्तिष्क पर अंकित था।

धर्मशास्त्रीय, पौराणिक तथा अन्यान्य ग्रन्थ गंगा के सेवन के अद्भुत लाभों के वर्णनों से भरे पड़े हैं। ये वर्णन कई बार अतिशयोक्तिपूर्ण भी हो जाते हैं जो कि पुराणों की शैली के अनुरूप ही है। वैदिक काल से ही नदियों को पवित्र माना जाता रहा है। बाद में जैसे जैसे सभ्यता विकसित हुई मनुष्यों का नदियों पर आश्रय और बढ़ा, जिसके कारण नदियों के देवीकरण की प्रवृत्ति और गहरी होती गई। बाद के वाङ्मय में नदियों से होने वाले भौतिक लाभ के अतिरिक्त पाप की दूर दूर की सम्भावना को भी नष्ट करने तथा जन्म मृत्यु के चक्र से मुक्त करने तक की क्षमता बताया गया। गंगा में इस सामर्थ्य को विशेष रूप से वर्णित किया गया।[16] शास्त्रों में गंगा के महात्म्य के इन सभी अपूर्व वर्णनों को देखते हुए हमें ध्यान रखना होगा कि गंगा के उपर्युक्त सभी प्रकार के लाभ हमें तभी मिल सकते हैं जब वह अविरल तथा निर्मल रूप में प्रवाहित होती रहे। इस तथ्य के संकेत हमें हमारे शास्त्रीय वाङ्मय में भी प्राप्त होते हैं। इन संकतों का यदि कड़ाई से पालन किया जाये तो नदियों के मूल स्वरूप की सुरक्षा हो सकेगी। गंगा के लाभों को यदि हमें लेना है तो वह गंगा के मूल रूप को सुरक्षित रख कर ही लिया जा सकता है। जैसा कि मनु का कहना है कि धर्म सुरक्षित रखे जाने पर ही रक्षा करता है। अगर हम धर्म की हत्या करेंगे तो असुरक्षित धर्म पलट कर हमारी हत्या कर देगा।[17] भारत के प्राचीन वाङ्मय में प्राप्त गंगा के वर्णनों में हमें प्राकृतिक चारुता, मानवीकृत सौन्दर्य, देवशास्त्रीय स्वरूप, अलौकिक प्रभाव, आध्यात्मिक लाभ तथा विधि–निषेध संबन्धी विषय प्रचुर मात्रा में दिखाई देते हैं। परवर्ती काल में अनेक निबन्ध तथा संग्रह ग्रन्थ[18] भी लिखे गये जिनमें वाङ्मय में गंगा परक वर्णनों को लगभग 40 विषयों में वर्गीकृत किया गया है।[19] इन सभी विषयों में नदी के पारिस्थितिकीय स्वास्थ्य तथा मंगल की चिन्ता अपेक्षाकृत कम दिखाई पड़ती है। लेकिन जितने अंशों में वह दिखायी देती है वह बहुत स्पष्ट तथा निश्चित है। सभ्यता के विकास के प्रारम्भिक चरणों में आज की अपेक्षा नगरीकरण, औद्योगीकरण, जनसंख्या आदि प्रदूषण के कारकों के कम होने अथवा न होने के कारण इस दिशा में स्वाभाविक रूप में चिन्ता नहीं की गई थी ऐसा प्रकटतः दिखाई पड़ता है। फिर भी संस्कृत के विशाल वाङ्मय में गंगापरक वर्णनों को ध्यान से पढ़ने पर पौराणिक शैली में उपाख्यान कथनों तथा महात्म्य वर्णनों के बीच ऐसे महत्त्वपूर्ण संकेत बार बार

आ जाते हैं जिनका सम्बन्ध गंगा के पारिस्थितिकीय तन्त्र के स्वास्थ्य तथा उसकी सुरक्षा से है। इस प्रकार की विधियाँ चाहे देखने में प्रत्यक्षतः गंगा के दिव्य स्वरूप से सम्बन्धित तथा उसकी पवित्रता और मर्यादा की सुरक्षा से सम्बद्ध लगें लेकिन हम उन्हीं वर्णनों के वास्तविक उद्देश्य के तौर पर अपने पूर्वजों द्वारा गंगा के मूल स्वरूप की सुरक्षा तथा उसकी अविरलता की चिन्ता के दर्शन भी कर सकते हैं जिनकी उपेक्षा से नदी की पारिस्थितिकी बिगड़ती है और उसपर आधारित प्राणी संकटापन्नहो जाते हैं। गंगापरक वर्णनों में सूचित पारिस्थितिकीय निहितार्थों की चर्चा आगे की जा रही है :

1. नदियों में अपने अन्तर्गत बाहर से आए हुए प्रदूषण को विलीन कर लेने की स्वाभाविक क्षमता होती है। यह क्षमता है उनका वेग। शास्त्रों में यह प्रेक्षण मिलता है–कि नदियाँ अपने वेग के द्वारा शुद्ध होती हैं—नदी वेगेन शुद्धयति।[20] नदियों की अपनी पारिस्थितिकी सचल प्रकृति की होती है। उसकी गतिज ऊर्जा तथा उसमें विद्यमान जीवों की सहायता से सीमित मात्रा का प्रदूषण धीरे–धीरे विलीन हो जाता है। इस कारण नदी का सबसे महत्त्वपूर्ण जीवनाधायक तत्त्व उसका वेग होता है। गंगा शब्द की प्रवृत्ति ही उसके निरन्तर चलने के कारण है।[21] नदियों के नाम के मूल में नद् धातु है जिसका अर्थ है ध्वनि करना। स्वाभाविक है कि ध्वनि वेगवती नदी में ही होगी। ठहरी हुई नदी तो आवाज़ करने से रही। हमारे वेदों में भी प्रार्थना है कि जलीय स्त्रोतों के वेग बरक़रार रहें—शं योरभिस्रवन्तु नः(*अथर्ववेद* 6.1.1) । आजकल विभिन्न बाँधों, अन्य अवैध निर्माणों तथा प्रदूषण द्वारा उसकी वहन क्षमता का विनाश करके नदियों की गति नष्ट कर दी गई है। बाँधों को बना कर जल जमाव करना नदियों की प्रकृति के विपरीत है। ऐसा करने से गतिशील जलतन्त्र में विद्यमान जैव प्रणाली का विनाश हो जाता है, फलतः नदी की बड़ी हानि होती है। वैदिक उपाख्यानों द्वारा स्पष्ट संकेतित है कि नदियों के वेग को रोकना अतीव अपराध है। वृत्र ने यही कार्य किया था। जैसा कि ऋग्वेद में बहुत स्थानों पर वर्णित है— *निरुद्धा आपः पणिनेव गावः*[22] (वृत्र ने जलस्त्रोतों को वैसे ही रोक रखा था जैसे पणि ने गायों को चुराकर बन्द कर दिया था)। जलनिरोध के इसी कारण

से इन्द्र ने उसका वध किया तथा सातों नदियों को बहने के लिए मुक्त किया[23] — यो हत्वाहिम् अरिणात् सप्त सिन्धून्।

2. शास्त्रों में नदियों के स्वायत्त व्यक्तित्व को स्पष्ट करते हुए उनके स्वरूप को 3 भागों में बाँटा गया है—गर्भ, तीर तथा क्षेत्र। इस विभाजन द्वारा नदियों तथा मनुष्यों के सहावस्थान की मर्यादा भी बता दी गई है। गर्भ (अन्तर्वृत्त) नदियों का जलीय क्षेत्र है। बताया गया है कि भादो मास के शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी तिथि को नदी का जल जहाँ तक प्रसारित होता है उसे नदी का गर्भ क्षेत्र कहते हैं। इसी को सामान्य भाषा में डुबान क्षेत्र भी कहते हैं—

   भाद्रशुक्लचतुर्दश्यां यावदाक्रमते जलम्।
   तावद्गर्भं विजानीयात् तदूर्ध्वं तीरमुच्यते॥ (*दानधर्मे,* चक्र 8)

   तीर अथवा तट गर्भ से 150 हाथ (लगभग 75 मीटर) आगे तक होता है।[24] नदी के तट पर किसी भी मानवीय निर्माण अथवा निवास यहाँ तक कि दान या प्रतिग्रह जैसी धार्मिक क्रियाओं का भी निषेध किया गया है—

   तीरं त्यक्त्वा वसेत् क्षेत्रे तीरे वासो न चेष्यते। (*नारदपुराण* 43.119)

   ऐसा करके यह सुनिश्चित किया गया है कि नदी के प्रवाह क्षेत्र का अतिक्रमण किसी भी तरह से न हो ताकि उसका वेग अक्षुण्ण रहे, साथ ही मानवीय जनसंख्या के दूर रहने से नदियों में प्रदूषण की मात्रा भी कम से कम हो। नदियों के तटों पर मनुष्य की बस्तियाँ न हों। इस भूभाग पर देवताओं के नाम पर समर्पित अनेक प्रकार के फलदार और फूलों वाले वृक्षों के बाग लगाने का विधान किया गया है।[25] यह उन तटों को सुरम्य बनाने तथा उनकी जैव पारिस्थितिकी सुधारने की क़वायद है।

   तट के बाद दो कोस अर्थात् लगभग 7 किलोमीटर का भूभाग नदी का क्षेत्र कहलाता है।[26] मनुष्यों की बस्तियाँ केवल यहाँ हो सकती हैं। क्षेत्र से बाहर के सारे भूभाग को नदी की बाह्यभूमि कहते हैं।[27]

   इन सभी विधानों के पीछे *यमस्मृति* का तर्क यह है कि वनों, पर्वतों,

पवित्र नदियों एवं तीर्थों के स्वामी नहीं होते। इनपर किसी का प्रभुत्व नहीं हो सकता। (*काणे,* उद्धृत *गंगा* अंक पृ. 321)। अन्य विवरण के अनुसार गंगा के प्रवाह से लेकर 4 हाथ तक की भूमि के स्वामी स्वयं नारायण होते हैं उनके अतिरिक्त कोई और नहीं।[28]

उपभोक्तावादी संस्कृति के कारण बाँधों तथा भवनों और होटलों के निर्माण से इस शास्त्र वचन का स्पष्ट उल्लंघन हो रहा है जिससे उभयपक्षीय हानि दृष्टिगोचर हो रही है। ऋग्वेद (4.22.2) में उल्लेख है कि इन्द्र के शत्रुओं ने परुष्णी नदी के तटबन्धों को तोड़ डाला था जिसे स्वयं इन्द्र ने सुधारा (ऋ० 7.18.8)। ऐसा करने पर परुष्णी ने इन्द्र की युद्ध में सहायता की (ऋ० 7.18.9)। नदियों के तटबन्धों को तोड़ना अथवा टूटने के लिए उन्हें विवश करना प्राणिमात्र के प्रति शत्रुता का आचरण है।

3. शास्त्रों ने गंगा के गर्भ में किसी भी प्रकार के अमेध्य पातन (गन्दी वस्तु को फेंकने) का कड़ा निषेध किया है। वेदों में नदियों को शुद्धतम रूप में प्रवाहित होने देने की प्रार्थना है— शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु (*अथर्व०* 12.1.30) अमेध्य का शाब्दिक अर्थ है वह वस्तु जिससे यज्ञ न किया जा सके अर्थात् पवित्र। कारखानों के अपशिष्ट पदार्थों की तो बात ही छोड़ दें, शिव तथा विष्णु के अतिरिक्त किसी दूसरे देवता की पूजा में उपयुक्त पूजन सामग्री (निर्माल्य) का भी गंगा में विसर्जन शास्त्रों में निषिद्ध है।

गंगा में स्नान के दौरान शास्त्रों में विहित शिष्टाचार भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इन सबका मन्तव्य यह है कि गंगा में स्नान करने वाला व्यक्ति अपनी उसमें आध्यात्मिक पवित्रता के लिए जाये न कि शारीरिक मलों को नदी में संक्रान्त करने के लिए। विधान यह है कि गंगा को स्पर्श करने से पहले मनुष्य को सुनिश्चित करना चाहिए कि स्वयं स्वच्छ हो।[29] इसलिए कहा गया है कि गंगा में न तो उबटन लगाकर जाये और न ही मलों को शरीर में चिपका कर *(नाभ्यङ्गितः प्रविशेत्तु गङ्गायां च मलार्दितः—स्कन्दपुराण)*। ब्रह्माण्डपुराण में एक जगह 14 नियमों की गणना की गई है जो गंगा में नहीं किए जाने चाहिए—

गंगां पुण्यजलां प्राप्य चतुर्दश विवर्जएत्।
शौचमाचमनं केशं निर्माल्यं मलघर्षणम्॥
गात्रसंवाहनं क्रीडां प्रतिग्रहमथो रतिम्।
अन्यतीर्थरतिं चैव अन्यतीर्थप्रशंसनम्॥
वस्त्रत्यागमथाघातं सन्तारं च विशेषतः॥

पद्मपुराण का आदेश है कि गंगा में अपने पहने हुए वस्त्रों के जलों को भी नहीं निचोड़ना चाहिए। अगर किसी ने गंगा में ग़लती से दातौन कर लिया तो उसे गंगास्नान का फल नहीं मिलेगा। इसलिए उसका उपाय बताया गया है कि सुबह शौच, दन्तधावन इत्यादि अन्यत्र करके, रात के वस्त्रों को बदल कर गंगास्नान करना चाहिए—

प्रभातेऽन्यत्र तां कृत्वा दन्तकाष्ठादिकक्रियाम्।
रात्रिवासः परित्यज्य गङ्गायां स्नानमाचरेत्॥

गंगा के जल में ही नहीं, पुराण का सख़्त आदेश है कि जो गंगा के तट पर भी मल–मूत्र विसर्जित करता है उसका नरक से करोड़ों कल्पों तक भी उद्धार नहीं हो सकता। थूक, आंख के कीचड़ या अन्य किसी भी प्रकार के मल का त्याग करने वाला व्यक्ति नारकी होता है—

मूत्रं वाऽथ पुरीषं वा गङ्गातीरे करोति यः।
न दृष्टा निष्कृतिस्तस्य कल्पकोटिशतैरपि॥
श्लेष्माणं वापि निष्ठीवं दूषिकां वाश्रु वा मलम्।
गङ्गातीरे त्यजेद्यस्तु स नूनं नारकी भवेत्॥

बासी भोजन और कफ आदि को गंगा में मिलाने वाला आततायी होता है उसे ब्रह्महत्या का पाप लगता है और वह घोर नरक में जाता है *(स याति नरकं घोरं ब्रह्महत्यां च विन्दति।)*। इसके अतिरिक्त पशु इत्यादि के खून या माँस भी जल में नहीं डालने चाहिए *(श्लेष्मासृङ्मांस संचयम्)*[30]।

सम्भवतः अर्वाचीन काल से पहले गंगा के प्रति आजकल की तरह संगठित प्रदूषण नहीं हुआ करते थे इसलिए धर्मशास्त्रों तथा पुराणों में वैयक्तिक निर्देश ही प्राप्त होते हैं। फिर भी मलघर्षण की जगह प्राप्त मलकर्षण (*गं०स्ना०वि० चक्र०* पृ.56) पाठभेद से हम संघटित प्रदूषण के निषेध का अर्थ भी ले सकते हैं।

4. उपर्युक्त वर्णनों से स्पष्ट है कि आजकल तथाकथित धार्मिक दीखने वाले लोग गंगा के प्रति धर्मशास्त्रीय निर्देशों का पालन नहीं करते। धर्म से लोगों का तात्पर्य दिखावा मात्र हो गया है। धर्मशास्त्र इस दिखावे अथवा दम्भ को धर्म का सबसे बड़ा शत्रु मानते हैं— धर्मः क्षरति कीर्तनात। शास्त्रों ने गंगा में मौसलस्नान करने का निर्देश दिया है। शरीर को गंगा में डालकर ऐसे निकाल लिया जाये जैसे खल (हावनदस्ते) में डालकर मुसल को सीधे निकाल लिया जाता है,[31] इसे मौसलस्नान कहते हैं। लोग अज्ञानवश अथवा दम्भवश अविधिपूर्वक स्नान करते हैं और अत्यधिक लाभ लेने के लिए फूलों और पूजा सामग्री को भी गंगा में प्रवाहित कर देते हैं। हम सरस्वती-छाप कपूर की डिब्बी पर लिखा हुआ पाते हैं कि "कल्पया समाप्त होने पर डिब्बे को फेंके न प्रवाह दें"। व्यापारिक प्रतिष्ठानों का यह अनाचार अज्ञानजनित है। शास्त्रों के अनुसार शवों अथवा उनकी राख का विसर्जन भी अधार्मिक है। केवल अस्थिमात्र का चयन और सफाई करके उनके प्रवाहित करने का निर्देश है। आदर्श स्थिति यह है कि व्यक्ति की राख, नख, लोम आदि वायु से स्वतः प्रेरित होकर जाएँ (वायुना प्रेरितानि वै, *चक्र०* पृ. 250) न कि स्वयं उसमें बलात् डाले जाएँ।

5. नदियों के गर्भभाग की पारिस्थिकी को सुरक्षित रखने के लिए भी शास्त्रीय वाङ्मयों में विशेष निर्देश दिय गये हैं। गंगा में विद्यमान जीव जो गंगा की प्राणवत्ता के कारक भी हैं और ज्ञापक भी उनको उद्वेग अथवा हानि न हो इसके लिए शास्त्रों ने बहुत स्थानों पर गंगा प्रवाह को हाथ या पैर से मारने अथवा तैर कर पार करने का निषेध किया है—अपो हस्तपादैर्न ताडयेत् (*ग०मा०सं० 241, चक्र० 23*)। गंगा में स्टीमर या क्रूज़ चलाना कितना बड़ा अपराध है इसकी बस कल्पना हो सकती है। गंगा तथा गंगा में स्थित जीवों का जीवन व्याघ्रवनन्याय के द्वारा एक दूसरे पर आधारित है। अपने मानवीकृतरूपों में नदियाँ हमें हमें जलीय जीवों के आसन पर बैठी मिलती हैं जैसे गंगा नदी मकर पर, यमुना नदी कच्छप पर, कमला नदी रोहू मछली पर, इत्यादि। इसका प्रतीकात्मक आशय यह है कि नदियों का अस्तित्व उनमें होने वाले जलीय जीवों पर आश्रित होता है। ये जलीय जीव उनमें अनिवार्य

रूप से आने वाले प्रदूषण को अपघटित करके उन्हें स्वच्छ तथा प्राणवान् बनाते हैं। गंगा को मकराश्रया कहा गया है। इस शब्द के दो समास हो सकते हैं। समास भेद से गंगा भी मछलियों पर आश्रित है। ध्यातव्य है कि संस्कृत में मकर का अर्थ मगरमच्छ और मछली दोनों होता है।[32]

6. धर्मशास्त्रों में यह निर्देश दिया गया है कि नदी को हाथ से तैर कर पार न करें *(सन्तारं च विशेषतः)*। इसे मानने पर हमारे पास केवल नाव से ही पार करने का विकल्प बचता है। इसे हम गंगा पर आधारित जीविका वाले नाविक केवटों (निषादों) की वृत्ति सुनिश्चित रखने का शास्त्र–कृत प्रयास मान सकते हैं। यह बात भी ध्यातव्य है कि विधियों में नदीजीवियों के द्वारा मछली मारने का निषेध प्राप्त नहीं होता। *अभिज्ञानशाकुन्तलम्* में एक रोचक प्रसंग है, जिसमें सिपाहियों द्वारा पकड़ा गया मछुवारा अपनी जीविका को नीचा दिखाए जाने पर उस सहज कर्म की तुलना ब्राह्मणों द्वारा यज्ञों में पशुहिंसा के साथ करते हुए उसका समर्थन करता है—

   शहजे किल जे विणिन्दिए ण हु तक्कम्म विवज्जणीअए।
   पशुमारणकम्मदारुणं अणुकम्पामिदु एव्व शोत्तिए॥ (6.1)

7. धर्मशास्त्रों ने बार बार चेताया है कि किसी अन्य तीर्थ अथवा देवता के प्रति किए गये अपराध का पाप गंगा में धुल सकता है लेकिन गंगा के प्रति किया गया कथमपि अपराध मर्षणीय नहीं है इसलिए गंगा के साथ किसी भी सम्पर्क के अवसर पर व्यक्ति को नितान्त सावधान रहना चाहिए—

   गङ्गारोधसि यः पापं कुरुते मूढधीर्नरः।
   तदक्षयं भवेन्नूनं नान्यतीर्थेषु शाम्यति॥
   अन्यतीर्थे कृतं पापं गङ्गायां च विनश्यति।
   गङ्गायां यत्कृतं पापं तत्कुत्रापि न शाम्यति॥
   (पद्मपुराण क्रियायोगसारखण्ड)

इस प्रकार हम देखते हैं कि पौराणिक तथा धर्मशास्त्रीय वाङ्मय में नदियों को एक स्वायत्त व्यक्तित्व दिया गया है। उनके प्रति मनुष्यों का व्यवहार कैसा हो इसके लिए शिष्टाचार तय किए गये हैं। ये शिष्टाचार केवल संकेत तक सीमित

न रह कर स्पष्ट निर्देश के रूप में हैं। विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि धर्मशास्त्र द्वारा बताएगये इन नियमों को आधुनिक विज्ञान भी नदियों के स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक समझता है। अत्यन्त दु:खद बात यह है कि तथाकथित धर्म की राजनीति तथा व्यापार की दुरभिसन्धि होने के कारण ये नियम न तो जाने जाते हैं और ज्ञात होने पर भी इनका ठीक-ठीक पालन नहीं होता। मानव समाज ने यदि इन शर्तों का सावधानी पूर्वक पालन नहीं किया तो नदियों से मिलने वाले आध्यात्मिक लाभ की कौन कहे उसे उनसे प्राप्त होने वाले भौतिक लाभ भी उसे नहीं मिल सकेंगे।

सन्दर्भ :

1. गंगालहरी में पंडितराज जगन्नाथ.
2. रघुवंश में रामचन्द्र सरयू का वर्णन उत्तरकोसल की प्रजा की धाय के रूप में करते हैं—सामान्यधात्रीमिव मानसं मे सम्भावत्युत्तरकोसलानाम्। रघुवंश (13.62).
3. उत नः प्रिया प्रियासु सप्तस्वसा सुजुष्टा। सरस्वती स्तोम्याभूत्॥ (ऋग्वेद 6.61.60).
4. देखिए अभिधानराजेन्द्रकोश में 'गंगा' प्रविष्टि के अन्तर्गत.
5. हठयोग में नाड़ियों को गंगा को नाड़ियों के समकक्ष रखा गया है.
6. बहिःस्थितं जलं यद्वन्नारिकेलान्तरे स्थितम्। तथा ब्रह्माण्डबाह्यस्थं परब्रह्माम्बु जाह्नवी॥ (स्कन्दपुराण, काशीखण्ड 27.29).
7. दक्षिण में गोदावरी को दक्षिण की गंगा अथवा गौतमी गंगा, कृष्णा को कृष्णगंगा, महानदी को चित्रोत्पला गंगा, वेणा को वेनगंगा कहा जाता है. गाँवों में जलाशयों अथवा किसी भी प्राकृतिक जलस्रोत अथवा जल स्थान को गंगाजी कह कर सम्मानित करते हैं.
8. प्राचीन भारत में यह शब्दों के संक्रमण की यह प्रविधि बहुत प्रचलित है जिसके द्वारा लक्षणया एक प्रसिद्ध शब्द अपने साथ जुड़े सभी अर्थायामों को दूसरे समान अभिधान से सम्बोध्य वस्तुओं में सरलता से संक्रान्त कर देता था. उदाहरण के लिए वेद शब्द का अन्यान्य पुस्तकों पर अतिदेश कर देना—

   महाभारत पर वेदत्व का अतिदेश-

   1. इतिहासः पुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते (श्रीमद्भागवतम् 1.4.20)
   2. भारतंपञ्चमो वेदःसुपुत्रः सप्तमो रसः। दाता पञ्चदशं रत्नं जामातो दशमो ग्रहः॥ (सुभाषित)

   पुराणों पर वेदत्व का अतिदेश-

   1. भेदैरष्टादशैर्व्यासः पुराणं कृतवान् प्रभुः। योऽयमेकश्चतुष्पादो वेदः पूर्वं पुरातनात्॥ (कूर्मपुराण अध्याय-49)

2. इतिहासः पुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते (श्रीमद्भागवतम् 1.4.20)

नाट्यशास्त्र पर वेदत्व का अतिदेश– योऽयं भगवता सम्यग्ग्रथितो वेदसम्मितः। नाट्यवेदःकथं ब्रह्मन्नुत्पन्नः कस्य वा कृते॥ (नाट्यशास्त्र1.4)

आधुनिक युग में भी महात्मा गाँधी ने तिरुवल्लुवर के प्रसिद्ध नीति ग्रन्थ तिरुक्कुरळ को तमिळवेद कह कर सम्मानित किया था। (मराठी विश्वकोश–तिरुक्कुरळ प्रविष्टि के अन्तर्गत).

9. कलौ तु सर्वतीर्थानि स्वस्ववीर्यं प्रभावतः।
गंगायां प्रतिमुञ्चन्ति सा तु देवी न कुत्रचित्॥ (ब्रह्माण्डपुराण उद्धृत चक्र० पृ.3).
10. सा हि धर्मद्रवो यतः (महाभारत वनपर्व उद्धृत चक्र० पृ. 5), 2. योऽसौ सर्वगतो देवश्चित्स्वरूपी जनार्दनः। स एव द्रवरूपेण गङ्गाम्भो नात्र संशयः॥ (स्कन्दपुराण, चक्र०24) 3. द्रवरूपेण काप्येषा शक्तिः सादाशिवी परा॥ (स्कन्दपुराण, चक्र० 216),
11. सुरसरि सम सब कहँ हित होई। (रामचरितमानस).
12. भुक्तिमुक्तिप्रदायिन्यै भद्रदायै नमोऽस्तु ते। (स्कन्दपुराण, काशीखण्ड 27.162)
13. पातु सर्वनदीश्वरी। (गङ्गाकवचम् 42, चक्र.43).
14. गंगालहरीटीका उपोद्घात में उद्धृत (चक्र.पृ ? 636).
15. ऋग्वेद (1.3.12).
16. मेरुमन्दरमात्रोऽपि राशिः दग्धस्य कर्मणः।
गङ्गास्नानेन दग्धस्य तूलराशिरिवाग्निना॥ (भविष्यपुराण, चक्र०234).
17. धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः। (मनुस्मृति 8.15).
18. गंगामाहात्म्यसंग्रह, गंगाभक्तिप्रकाश आदि।
19. श्रीगंगायाः प्रभवः स्वभावसर्वामरादिरूपत्वे।
वैशिष्ट्यस्मृतिकीर्तनयात्राक्षेत्र प्रमाण संश्रुतयः॥
गतिरभयं वै दर्शननमस्क्रियास्पर्शनावगाहाख्याः।
स्नानं कालविशेषस्नानं मृत्तर्पणजपपूजाश्च॥
दानानि व्रतचर्या श्राद्धं पिण्डक्रिया च जलपाने।
वासो विघ्नाख्यानं प्रतिग्रहा भक्तिदोषौ च॥
प्रायश्चित्ताक्षेपः कृतकृत्यत्वं विपर्ययोऽस्थिविधिः।
नखलोमकेशभस्मादीनां पातः प्रकीर्णकः क्रमशः॥
गङ्गाद्वारादिफलं मुक्तिश्चैवमतिपुण्यमतिरर्थम्।
लिखितं चत्वारिंशत्प्रकरणमिति सोढदेवेन॥ (गङ्गामाहात्म्यसंग्रह1.5, चक्र०पृ०1).
20. वशिष्ठस्मृति 3.54, आंगिरस 42, अत्रिस्मृति 5.38.
21. यद्यपि गंगा की व्युत्पत्तियाँ गाम् गता आदि अनेक प्रकारों से दी जाती हैं लेकिन गम् धातु की निरन्तरता को द्योतित करने वाले द्वित्व से मानना ही अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है.

22. ऋग्वेद (1.32.11).
23. अवासृजत् सर्तवे सप्तसिन्धून्। (ऋग्वेद 2.12.12).
24. सार्धहस्तशतं यावत् गर्भतस्तीरमुच्यते।
न मन्त्रो न विधि कालो न मन्त्रो न च गोमयम्॥ (ब्रह्माण्डपुराण, चक्र० 8).
25. गङ्गातीरे नरो यस्तु जम्ब्वाम्रबकुलाकुलम्। कदलीनारिकेलं च कपित्थाशोकचम्पकैः.. ॥ यावन्ति तेषां वृक्षाणां पत्रपुष्पफलानि च। बीजानि च विचित्राणि तेषां मूलानि वै तथा॥ तावत्कल्पसहस्राणि तेषां तेषां लोके स मोदते॥ (गंगाभक्तितरङ्गिणी 677-681, चक्र०22).
26. तीराद्गव्यूतिमात्रं तु परितः क्षेत्रमुच्यते॥ (नारदपुराण 43.119).
27. बाह्यभूमिमगत्वा यो गङ्गायां स्नानमाचरेत्। गङ्गास्नानफलं सोऽपि सम्पूर्णं च लभेन्न हि॥ (पद्मपुराण क्रियायोगसारखण्ड).
28. प्रवाहमवधिं कृत्वा यावद् हस्तचतुष्टयम। तत्र नारायणः स्वामी नान्यः स्वामी कदाचन॥ (गंगाभक्तिप्रकाश226, चक्र.).
29. शौचं कृत्वा यथान्यायं शुचिर्भूत्वा समाहितः। स्पृशेद्गंगां नरः प्राज्ञो अन्यथादोषभाग् भवेत्॥ (चक्र०55).
30. गंगामाहात्म्य संग्रह 241, उ० चक्र० 23.
31. गङ्गायां मौसलस्नानं महापातकनाशनम्। (गंगामाहात्म्यसंग्रह 132, चक्र० पृ०14; पृ० 237).
32. मकरालया (गंगाष्टोत्तरशतनाम 104).

सरयू नदी की धार्मिक एवं सांस्कृतिक पारिस्थतिकी

महेन्द्र पाठक

मोक्षदायक सप्तपुरियों में परिगणित अयोध्या वाल्मीकि रामायण के अनुसार, किसी समय तीन दिशाओं में सरयू नदी से घिरी हुई थी। इस नदी ने अयोध्या को आर्थिक और सांस्कृतिक पोषण प्रदान किया। लगभग एक हजार अस्सी किलोमीटर लंबी इस नदी का बेसिन एक लाख सत्ताइस हजार नौ सौ पचास वर्ग किलोमीटर में फैला है। तिब्बत, नेपाल और उत्तर प्रदेश से प्रवाहित होते हुए यह बिहार के छपरा में गंगा नदी से मिल जाती है। इस प्रकार सरयू गंगा को भी जीवन देती है। उत्तर प्रदेश से होकर बहने वाली नदियों में यह नदी अपेक्षाकृत बहुत कम प्रदूषित है। ऐतिहासिक रूप से सरयू नदी के तट पर उत्तर भारत की निषाद संस्कृति पल्लवित-पुष्पित होती रही है। आज भी इसके तटवर्ती क्षेत्रों में रहने वाले निषादों की जीविका इस नदी पर आश्रित है।

संस्कृत साहित्य में सरयू और राम का वर्णन मिलता है। उसकी महाकाव्य परम्परा में राम केंद्र में हैं। यहाँ तक कि महाभारत में एक रामोपाख्यान है। प्रकार रामायण के केंद्र में तो राम हैं ही। रामायण में इस नदी का भव्य एवं हृदयग्राही चित्रण महाकवि वाल्मीकि ने किया है : ''जाते-जाते उन महाबली राजकुमारों ने गंगा और सरयू के संगम पर पहुँचकर दिव्या त्रिपथगा गंगा का दर्शन किया'' (तौ प्रयान्तौ महावीर्यौ दिव्यां त्रिपथगा नदीम्। ददृशाते ततस्तत्र सरय्वा : संगमे शुभे)॥[1] ऐतिहासिक रूप से लोगों की स्मृति को भूदृश्य रचते हैं- चाहे वे पर्वत हों, रेगिस्तान हो या नदी। सरयू ने राम के साथ यही किया था। इससे उनके व्यक्तित्त्व का सत्त्व बना था। विश्वामित्र के आश्रम में राक्षसों के उपद्रव को समाप्त करने के लिए जब राम और लक्ष्मण अयोध्या से बाहर निकलते हैं तो विश्वामित्र ने अयोध्या से डेढ़ योजन दूर सरयू के दाहिने तट पर राम को संबोधित

किया था और सभी काम करने से पहले कहा कि सरयू के जल से आचमन कर लो।[2] वे उनको बला और अतिबला नामक मन्त्र समुदाय में दीक्षित कर रहे थे जिससे वे सोते–जागते किसी प्रकार के संकट से निरापद रहें। उन्हें भूख–प्यास परेशान न करे।[3] वाल्मीकि रामायण में सरयू के जल के आचमन से राम का जीवन शुरू होता है। और क्या संयोग है या कवि वाल्मीकि की महाकाव्यात्मक कल्पना कि उनके नायक और आराध्य फिर उसी सरयू में विलीन हो जाते हैं। वास्तव में, सरयू नदी पूरी रामायण में व्याप्त है। वाल्मीकि लिखते हैं कि ''(सरयू के) जल से आचमन करके श्रीराम पवित्र हो गये। उनका मुख प्रसन्नता से खिल उठा।[4] एक नदी राम को पवित्र कर रही है। यह बड़ी बात है कि नदी उस प्रतीक को पवित्र कर रही है जिसके इर्दगिर्द भारतीय साहित्य का एक बड़ा हिस्सा, धर्म और संस्कृति प्रदक्षिणा कर रही है। इसी प्रसंग में हम पाते हैं कि राम और लक्ष्मण ने सरयू और गंगा नदी के के संगम वाली जगह रात बिताई। यहाँ हम उन्हें पहली बार तृण की शैय्या पर सोते हुए देखते हैं।

इसके बाद राम का जीवन बहुत सारी घटनाओं से आच्छादित है। वे जनकनंदिनी सीता को ब्याहने जाते हैं। अयोध्या लौटते हैं और उनको चौदह वर्ष का वनवास मिलता है। अयोध्या से वनवास के लिए जाते समय उनकी मनोदशा देखी जा सकती है। उनकी अनुपस्थिति की कल्पना मात्र से अयोध्यावासी स्त्री–पुरुष यहाँ तक कि पशु–पक्षी व्याकुल हैं। उधर राम भी विचलित हैं। सरयू के तट पर बसी अपनी जन्मभूमि को छोड़कर वे तमसा नदी पार करते हैं, उसके बाद सई नदी पार करते हैं। सई के बाद वे गोमती नदी पार करते हैं। इन तीन नदियों को पार करने के बाद राम को फिर सरयू की याद आती है। वे कहते हैं : मैं फिर कब लौटकर माता–पता से मिलूँगा और सरयू के किनारे पुष्पित वन में शिकार करने के लिए भ्रमण करूँगा?[5]

राम के जीवन के दूसरे भाग में यानी लंका से सीता की मुक्ति के बाद अयोध्या–आगमन के उपरांत सरयू और राम का सम्बन्ध फिर से त्रासदी की तरफ़ लौटता है। जिस तरह राम के वन–गमन दृश्य की चर्चा साहित्यिक जनों और आम जनता के बीच होती रही है, उस तरह से राम के सरयू में जल समाधि की की चर्चा नहीं हुई है, शायद लोग इस दारुण प्रसंग से बचना चाहते हों। वाल्मीकि लिखते हैं : ''चारों वेद ब्राह्मण का रूप धारण करके चल रहे थे। सबकी रक्षा करनेवाली गायत्री देवी, ओंकार और वषट्कार सभी भक्तिभाव से श्रीरामका अनुसरण करते थे। अन्त:पुर की स्त्रियाँ भी बालकों, वृद्धों, दासियों,

खोजों और सेवकों के साथ निकलकर सरयू तट की ओर जाते हुए श्रीराम के पीछे-पीछे जा रही थीं।[6] यह यात्रा मानों चराचर की यात्रा हो। वाल्मीकि आगे लिखते हैं: समस्त मन्त्री और भृत्यवर्ग भी अपने पुत्रों, पशुओं, बन्धुओं तथा अनुचरों सहित हर्षपूर्वक श्रीरामके पीछे-पीछे जा रहे थे। हृष्ट-पुष्ट मनुष्यों से भरे हुए समस्त प्रजाजन श्रीरघुनाथजी के गुणों पर मुग्ध थे; इसलिये वे स्त्री, पुरुष, पशु-पक्षी तथा बन्धु-बान्धवों सहित उस महायात्रा में श्रीरामके अनुगामी हुए। उन सबके हृदय में प्रसन्नता थी और वे सभी पाप से रहित थे। सम्पूर्ण हृष्ट-पुष्ट वानरगण भी स्नान करके बडी प्रसन्नता के साथ किलकारियाँ मारते हुए भगवान् श्रीरामके साथ जा रहे थे वह सारा समुदाय ही श्रीराम का भक्त था।[7]'' यहाँ पर ध्यान देने योग्य है कि सरयू की तरफ़ मनुष्य ही नहीं बल्कि जानवर भी जा रहे हैं। वास्तव में, ऋषियों, कवियों और महात्माओं का स्वभाव होता है कि मनुष्य को ही नहीं बल्कि सबको अपनी करुणा का भागीदार बनाते हैं। वाल्मीकि भी यही करते हैं और यह अवसर सरयू नदी उपलब्ध कराती है। आज प्रकृति के विभिन्न क्षेत्रों से जिस प्रकार पशु-पक्षी बहिष्कृत होते जा रहे हैं, उस समय महाकवि की यह करुणा वरेण्य है। वाल्मीकि लिखते हैं कि उस समय राम विष्णु स्वरूप ग्रहण कर परम धाम को पधार गये और उस समय जो कोई भी रीछ, वानर या राक्षस वहाँ आ गये थे, वे सभी अपने शरीर को सरयू के जलमें डालकर भगवान् के परम धाम में जा पहुँचे।[8]

इसी प्रकार महाभारत के वन पर्व के तीर्थ यात्रा पर्व में कहा गया है कि ऋषभतीर्थ (अयोध्या में प्रथम जैन तीर्थंकर ऋषभदेव के जन्म स्थान के कारण यह नाम पड़ा) में जाकर स्नान के बाद तीन रात तक उपवास करने वाला मनुष्य वाजपेय यज्ञ का फल पाता है। इतना ही नहीं वह हजारों गोदान का फल पाता है और अपने कुल का उद्धार कर देता है।[9] एक तीर्थ के रूप में सरयू के किनारे बसी अयोध्या शास्त्र और लोक पूजित नगरी रही है। हम एक बार रामायण की ओर लौटें तो पाते हैं कि आधुनिक युग के आगमन के पहले, साहित्य के केंद्र में मनुष्य था लेकिन जानवर उससे बाहर नहीं था। जानवर हेय नहीं थे। रामायण में हनुमान, वाली, अंगद, सुग्रीव और जामवंत को बहुत ही आदर के प्रस्तुत किया गया है। हनुमान तो संगीत, व्याकरण और ज्ञान के भंडार हैं। वे सूत्र, वृत्ति, वार्तिक, महाभाष्य और संग्रह के ज्ञाता कहे गये हैं।[10] बाद में साहित्य अत्यधिक मनुष्य केंद्रित होता गया है और उसने जीव-जगत पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करने का प्रयास किया। इस प्रकार वह अपने वातावरण से कटता गया।

कालिदास ने तो सरयू नदी का अपूर्व मानवीकरण किया है। ऐक्ष्वाकु शासकों के लिए सरयू नौका के समान थी, जिससे परिपुष्ट वे लोग संसार रूपी सागर का सन्तरण कर जाते थे। रघुवंश में वह प्रसंग द्रष्टव्य है जब राम सीता से कहते हैं:

यां सैकतोत्सङ्गसुखोचितानां प्राज्यैः पयोभिः परिवर्धितानाम्।
सामान्यधात्रीमिव मानसं मे सम्भावयत्युत्तरकोसलानाम्॥
सेयं मदीया जननीव तेन मान्येन राज्ञा सरयूर्वियुक्ता।
दूरे वसन्तं शिशिरानिलैर्मा तरङ्गहस्तैरुपगूहतीव॥[11]

मैं इस नदी का बड़ा आदर करता हूँ क्योंकि यह उत्तर कोसल के राजाओं की धाय है। इसी की बालू में खेल–खेलकर वे पलते हैं और इसी का मीठा जल पीकर वे परिपुष्ट होते हैं। माननीय महाराज दशरथ से बिछुड़ी हुई मेरी माता के समान यह सरयू अपने ठंडे वायु वाले तरंग रूपी हाथ उठा रही है, जैसे इतने ऊँचे से ही मुझे गले लगा लेना चाहती है। कालिदास का सरयू वर्णन दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। पहला तो यह सरयू नदी की सुषमा को व्यक्त करता है, दूसरा यह उसके जीव–जगत का वर्णन करता है। नदी के साथ मनुष्य का हार्दिक सम्बन्ध साहित्य व्यक्त करता है। यह उसकी बड़ी प्रभावशाली शक्ति है। कालिदास के वर्णन में सरयू नदी अकेले नहीं आती है बल्कि उसके साथ तमाम जीवन रूप भी आते हैं। पहले इसका यह विवरण देखिए :

पयोधरैः पुण्यजनाङ्गनानां निर्विष्टहेमाम्बुजरेणु यस्याः।
ब्राह्म सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति॥
जलानि या तीरनिखातयूपा वहत्ययोध्यामनु राजधानीम्।
तुरङ्गमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि॥[12]

इसका अर्थ कुछ इस प्रकार है : ऋषि लोग कहते हैं कि जैसे अव्यक्त अर्थात् प्रकृति से बुद्धि उत्पन्न हुई, वैसे ही यह सरयू नदी भी उस मानसरोवर से निकली है, जिसके कमलों का पराग यक्षिणियां अपने स्तनों में लगाती हैं। यह नदी इक्ष्वाकुवंशी राजाओं की राजधानी अयोध्या में सटकर बहती है। इसके तट पर यत्र–तत्र यज्ञों के खम्भे गड़े हुए हैं, जिनमें बाँधकर पशुओं की बलि दी जाती थी। अश्वमेध करने के बाद सूर्यवंशी राजाओं ने जो इसमे स्नान किया है, उससे इसका जल पवित्र हो गया है।''

सरयू नदी के उत्पत्ति स्थल के बार में विवाद रहा है लेकिन उत्तर भारतीय नदियों के मर्मज्ञ विद्वान हवलदार त्रिपाठी ने व्यापक परिप्रेक्ष्य में विचार किया

है। उनका मानना है कि स्वामी प्रणवानन्द का अन्वेषण मान लेना चाहिए। उसके अनुसार प्राचीन मान्यताएँ खंडित हो गई हैं। यों तो लोक में प्रचलित विचार के अनुसार, ऐसी तीन नदियाँ हैं, जो अपने-अपने क्षेत्र में सरयू कहलाती हैं। इनमें से एक तो वह है, जो नेपाल के 'राप्ती' अंचल से निकलती है और पश्चिम में बहकर 'भेरी' अंचल के दक्षिणी भाग में आकर और फिर दक्षिण मुड़कर भारत में प्रवेश करती है। नेपाल में इसका नाम 'बबई' है। भारत में आकर यह सरयू कही जाती है और कटाईघाट के पास 'घाघरा' से संगम करती है। कटाईघाट स्थान 'सुहेली' नदी के संगम से 50 मील दक्षिण में है। यह सुहेली लखीमपुर-खीरी जिले के पश्चिमी और उत्तरी भाग से बहकर आती है। अमेरिका से प्रकाशित 'आडेसी वर्ल्ड एटलस' में भी नेपाल की बबई को ही भारतीय भूमि में सरयू लिखा गया है। दूसरी वह नदी सरयू कहीं जाती है, जो कुमाऊँ प्रदेश के 'वागेश्वर' स्थान के उत्तर-पश्चिम में स्थित नन्दा कोट-शिखर से प्रवाहित होती है, और वागेश्वर के पास जब आती है, तब 'गोमती' नामक नदी (लखनऊ वाली गोमती नहीं) को आत्मसात् कर लेती है। इसके बाद अग्निकोण में बहती हुई 'टनकपुर' के पास 'काली' नदी में मिल जाती है। उत्तर प्रदेश के उत्तरी अंचल में तथा कुमाऊँ में यही नदी सरयू कही जाती है। इसी के संगम के बाद 'काली' नदी का नाम मिट जाता है और इसी का नाम 'शारदा' हो जाता है। तीसरा मत यह है कि नेपाल की 'कर्णाली' नदी ही वास्तविक सरयू है और इसकी संपुष्टि वाल्मीकीय रामायण, महाभारत तथा रघुवंश से होती है। इस नदी का उत्स 'राक्षासताल' के दक्षिणी-पश्चिमी कोण में मपुचा चुडो के स्रोत के नाम से प्रसिद्ध है।[13] भौगोलिक रूप से सरयू नदी उत्तराखण्ड के कुमाऊँ मण्डल के मध्य भाग में बहने वाली एक महत्त्वपूर्ण नदी है। इसका उद्गम नन्दा कोट से लगभग 15 किमी दक्षिण में सरमूल नामक स्थान से होता है। यहाँ से यह कपकोट, बागेश्वर, सेराघाट और रामेश्वर होते हुए नेपाल की सीमा पर स्थित चम्पावत ज़िले में पंचेश्वर में काली नदी (शारदा नदी) में मिल जाती है। यही काली नदी जब बहराइच के पास ब्रह्माघाट में घाघरा नदी से मिलती है, तो इनके संगम से बनी नदी को पुनः सरयू कहा जाता है, जिसके तट पर अयोध्या शहर स्थित है।

वास्तव में अधिवास भूमि, जन एवं संस्कृति से जन, जनपद, महाजनपद, राज्य (विषय) राष्ट्र एवं विश्व जैसी भौगोलिक संज्ञाओं का जन्म माना जाता है।[14] यह नदियों के लिए भी सत्य है। सरय नदी ने एक विशिष्ट संस्कृति को जन्म दिया। सरयू, स्यन्दिका एवं सदानीरा की उर्वरा अन्तर्वेदी में जिस राजनीतिक

एवं सांस्कृतिक इकाई की रचना हुई, उसे ही कोसल की संस्कति के रूप में आज भी पहचाना जाता है[15]– ''कोसलो नाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान। निर्विष्टः सरयू तीरे प्रभूत धनधान्यवान॥'' अर्थात् कोसल नाम का एक समृद्ध राज्य है जहाँ धन और अनाज का भंडार है और यह नगर सरयू नदी के किनारे है। वास्तव में, पूर्वकालीन भारत में सरयू की गणना सप्त पुरियों में होती रही है। उसे विष्णु के मस्तक का गौरव तथा ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश की सहज साधना भूमि और अयोध्या को कोशल की राजधानी होने का श्रेय प्राप्त था। अयोध्या का अलंकारिक उल्लेख अथर्ववेद एवं तैत्तिरीय आरण्यक में हुआ है। अथर्ववेद में अयोध्या का सुंदर वर्णन मिलता है : अष्टचक्रा नव द्वारा देवानां पू:अयोध्या/ तस्यां हिरण्यमयं कोशः स्वर्गोज्योतिषावृतः।[16] इसका अभिप्राय आठ चक्र और नौ द्वार वाली देवपुरी अयोध्या स्वीकार किया जाता है। कतिपय विद्वान उपर्युक्त वर्णन को अलंकारिक मानकर अयोध्या की ऐतिहासिकता को अस्वीकार कर देते हैं, परन्तु ठाकुर प्रसाद वर्मा का कथन यहाँ औचित्यपरक है कि यदि उपमान का अस्तित्व ही नहीं होगा तो उपमेय से यह तुलना भला कैसे की जा सकती है? निश्चित ही अयोध्या सरयू किनारे स्थित पुरुषोत्तम राम की लोक विश्रुत लीला भूमि है।[17] महाकाव्यों और पुराण में कोसल का उल्लेख प्राप्त होता है, अतएव अयोध्या और सरयू नदी की पुरातनता पर प्रश्नवाचक चिन्ह पूर्वाग्रह प्रेरित प्रतीत होता है।[18] कोसल के पूर्ववृत्त पर गम्भीर शोध करने वाले वेत्ताओं का मत है कि वैवस्त मनु के समय आयी भयंकर बाढ़ या जल प्रलय का शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख हुआ है।[19] इसी जल प्रलय का हिब्रू, बेबीलोन, सुमेर एवं यूनान के इतिहास में भी उल्लेख हुआ है। प्राच्यविद्या के अनुरागियों का विचार है कि वैवस्वत या सप्तम मनु ने प्रलयकारी बाढ़ से रक्षार्थ हिमालय के शिखर पर आश्रय लिया था। शनैः–शनैः जलस्तर कम होने पर वे नीचे उतरते गये, इसीलिए उक्त पर्वत का नामकरण 'मनोवतरण' किया गया। वस्तुतः तत्कालीन भौगोलिक परिस्थितियों में सरयू नदी के किनारे अवस्थित अयोध्या से उपयुक्त स्थान कोई नहीं हो सकता था। इस प्रकार मनु ने अपने पुत्रइक्ष्वाकु को अयोध्या का शासक बनाया। मनु पुत्र इक्ष्वाकु और इला ने समकालीन वैश्विक परिप्रेक्ष्य में सरयू से तीन तरफ घिरी अयोध्या से ही राजवंश का प्रसार किया।[20] कुँवर लाल जैन का मत औचित्यपरक प्रतीत होता है कि यद्यपि इक्ष्वाकु से सुमित्र तक 115 शासकों के नामोल्लेख प्राप्त होते हैं, तथापि इक्ष्वाकु वंशावली पूर्ण नहीं है।

जल रूपेण ब्रह्मैव सरयू मोक्षदा सदा।
नेवात्र कर्मणां भोगो राम रूपो भवेन्नरः।।

जब तुलसीदास राम चन्द्र से जन्मभूमि का स्तुतिगान कराते हैं तो सरयू को विस्मृत नहीं करते हैं[21]–

जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि, उत्तर दिसि बह सरयू पावनि।
जा मज्जन ते विनहिं प्रयासा, मम समीप नर पावहि बासा॥
अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी, मम धामदा पुरी सुखरासी।
हरषे सब कपि सुनि प्रभु बानी, धन्य अवध जो राम बखानी॥

ऋग्वेद में सरयू नदी का उल्लेख तीन बार हुआ है, जबकि कोसल का एक भी बार नहीं हुआ है। उत्तर वैदिककालीन साहित्य शतपथ ब्राह्मण में सदानीरा या बड़ी गंडक को कोसल और विदेह की सीमा बताया गया है।

सरस्वती सरयूः सिन्धुरूमिमिः महोमहीर व सायन्त वक्षणीः।
देवो रामोमातरः सूदयित्वो घृतमयो मधुमन्नोऽर्चत।।

अर्थात–सरयू यजमान को तेज... बल दें तथा मधुमय घृतवत जल प्रदान करें। सरयू का सरस्वती एवं सिन्धु नदियों के साथ उल्लेख हुआ है, जिसके आधार पर ए०सी० दास, पी०एल० भार्गव एवं राहुल सांकृत्यायन ने सरयू को पंजाब, ईरान या अफगानिस्तान की नदी माना है, जिसका आधार सरयू के तीन सन्दर्भों के विश्लेषण को माना है। सरयू का उल्लेख और आह्वान सरस्वती और सिन्धु नदी के साथ किया गया है। यथा–सरस्वती सरयुः सिन्धु रूर्मिभिम हो महीरवसा यन्तु वक्षणी (1) यदु और तुर्वसु द्वारा इन्द्र की सहायता से नदी संतरित कर सरयूपार क्षेत्र में अर्ण और चित्ररथ को पराजित किया गया। उत्त्या तुर्वशायद अस्तानारा शचीपतिः। इन्द्रोविद्वां अपारयत, उत्त्या सद्य आर्या सारयोरिन्द्र पारतः। उनषा चत्ररथा वघीः (2) सरयू का उल्लेख फैले हुये जल वाली नदी के रूप में कुभा, कूर्म और सिन्धु के साथ भी हुआ है। मा वो रसा नितमा कुभा क्रमुर्मा वा सिन्धुर्निरीरमत, मा वः परिष्ठत्ससरयुः पुरीषिण्येस्मे इत्स्टम्नमस्तु व' (3) तीसरा उल्लेख ऋग्वेद के दसवें मण्डल में सरस्वती, सरयू और सिन्धु की सात–सात सहायक नदियों के रूप में हुआ है। ठाकुर प्रसाद वर्मा ने उक्त सरूय का समीकरण पूर्वी उत्तर प्रदेश की सरयू नदी से किया है। अतः स्पष्ट है कि सरयू की उर्वरा घाटी आदिम मानव आवास की पुष्टि करती है। सरयू नदी के उत्तरी कांठे पर दशरथ ने पुत्रेष्टि यज्ञ का आयोजन किया था।[22]

सरयू की उत्पत्ति का मनोरम विवेचन कालिका महापुराण के तेईसवें अध्याय में हुआ है, जिसका जल स्वादिष्ट, बल और पुष्टिकर है (राज निर्घण्ट–सरयू सलिलं स्वादु बल पुष्टि प्रदायकम्) ।[23] वसिष्ठ और अरून्धती के पाणि ग्रहण के

अवसर पर जो जल आचमन के समय अवशिष्ट रूप में मानसाचल पर च्युत हो गये, वही कन्दराओं में संग्रहित होकर सात भागों में विभक्त होकर प्रदेश की झीलों और सरोवरों में आए। इसको हंसों ने वाडव के निकट एकत्रित किया, जिससे पुण्यतमा सरयू प्रवाहित हुई। ब्रह्माण्ड पुराण में भी सन्दर्भित है कि अतिशय पवित्र सरयू श्वेत मानसर से उद्भूत हुई। श्वेतात् प्रवर्तिते पुण्यम् सरयू मानसाद ध्रुवम्। उपर्युक्त सन्दर्भ के अनुसार 'सप्तधा भूत्वा' निकलने वाली कङ्जम-छू, ल्हा छू, झोङ् छू, तरसेन छू, करखेद छू, डेमा छू एवं खण्ड छू सें सरयू का उद्गम हुआ है। वाल्मीकि एवं ब्यास ने सरयू का उद्गम मान सरोवर में बताया है। हवलदार त्रिपाठी का मत है कि मानसर के 'सर' और तिब्बती 'यूपचा' (नील पर्वत) के यू के योग से ही सरयू का नामकरण हुआ होगा। वस्तुतः कर्णाली (सरयू) का उद्गम न तो मान-सरोवर न ही राक्षस ताल में है। किसी कालखण्ड में मानसरोवर एवं रावणहद एक ही सरोवर थे, जो भौगोलिक परिवर्तन के कारण पृथक-पृथक हो गये। हवलदार त्रिपाठी का मत है कि मानसर का जल रावणह्रद में 'गंगा छू' के द्वारा आता है। रावण हद के नैऋत्य कोण में स्थित 'यूपचा' में यह प्रस्फुटित होता है।

सप्त हरि और 'हर' से अलंकृत, पंच तीर्थंकरों (ऋषभ, अजित, अभिनन्दन, सुभति एवं अनन्त) की साधनाभूमि, बुद्ध की वर्षावासस्थली, ऐक्ष्वाकु यज्ञ भूमि रामचरण दास, युगलानन्द शरण, रघुनाथ दास, शिवराम तैलंग, गोविंद साहब, बनादास और तेग बहादुर की कर्मस्थली अयोध्या के वितान की सरंचना में रामगंगा और सरयू की धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितिकी का अमूल्य योगदान है। सरयू की उर्वरा घाटी में ही मीर बाबर 'अनीस' की मर्सिया, गजल एवं रुबाइयाँ, मुख्तरी बेगम, बेगम अख्तर की संकल्पनायें और पखावज सम्राट बाबा पागलदास का संगीत युवा और प्रखर हुआ। आधुनिक भारत का प्रतीक चिन्ह 'सिंह शीर्ष', लहुरादेव पुरास्थल (धान की पुरातनता, 8000 ई०पू०) लोक कल्याणकारी कार्यों की दृष्टि से, सोहगौरालेख (बॉसगाँव) का अभिलेख, वैदेशिक सम्बन्धों की दृष्टि से कोरिया में अयोध्या की राजमुद्रा एवं प्रतीकों की प्राप्ति, अयोध्या में पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग को प्राप्त विशिष्ट पात्र परम्परा एवं पंचकोसी परिक्रमा पथ से लेकर मूल अयोध्या शहर में विद्यमान 60 से अधिक जातीय मन्दिरों के अवशेश (30 से अधिक मन्दिरों का अद्यावधि सक्रिय होना) आदि ऐसे सन्दर्भ हैं जो भारतीय इतिहास को परिपूर्ण करने में सक्षम हैं। यह तभी सम्भव है जब सरयू की धार्मिक और सांस्कृतिक पारिस्थितिकी के आलोक में विमर्श किया जाय।

सन्दर्भ :

1. वाल्मीकि रामायण (संवत 2079), बालकाण्ड, 23, 5.
2. वाल्मीकि रामायण (संवत 2079), बालकाण्ड, 23, 12.
3. वाल्मीकि रामायण (संवत 2079), बालकाण्ड, 23, 13-16.
4. वाल्मीकि रामायण (संवत 2079), बालकाण्ड, 23, 18.
5. वाल्मीकि रामायण (संवत 2079), अयोध्याकाण्ड, 49, 15.
6. वाल्मीकि रामायण (संवत 2079), उत्तरकांड, 109, 8 एवं 10.
7. वाल्मीकि रामायण (संवत 2079), उत्तरकांड, 109, 13-16.
8. वाल्मीकि रामायण (संवत 2079), उत्तरकांड, 110, 13-16.
9. महाभारत (संवत 2072), वनपर्व (तीर्थ यात्रा पर्व), 9-11.
10. वाल्मीकि रामायण (संवत 2079), उत्तरकांड, 36,45-47.
11. कालिदास-ग्रन्थावली (2012), रघुवंश, 13, 60-63, पृष्ठ 121-22.
12. कालिदास-ग्रन्थावली(2012), रघुवंश, 13, 60-63, पृष्ठ 121-22.
13. हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय '(2012), पृष्ठ 128.
14. हेमचन्द्र, अभिधान चिन्तामणि, पृष्ठ-4.41.
15. वाल्मीकि, रामायण-बालकाण्ड-5.5-6.
16. अथर्ववेद (पैप्लाद संस्करण) 10.2.31 एवं 16.62.3 तै आरण्यक-41.2.7.3 अष्टचक्रा हिरण्यमय: नवद्वारा देवानांपुर योध्या.
17. रामायण, बालकाण्ड- 5.5-6
18. ठाकुर प्रसाद वर्मा.
19. ए.डी. पुषालाकर एवं कीथ.
20. कुँवर लाल जैन, पुराणों में वंशानुक्रमिक कालक्रम, पृष्ठ 378 एवं भगीरथ राज जी कृत अयोध्या दर्पण, पृष्ठ-317.
21. तुलसीदास, राम चरित मानस, उत्तर काण्ड, 1.7.4
22. महाभारत, वनपर्व, 84.71, आरण्यक पर्व-84. एवं वी.एस. अग्रवाल-भारत सावित्री, पृष्ठ-231-247.
23. कालिका महापुराण, अध्याय 23.

खंड तीन

समुदाय के जीवन में नदी

निषाद समुदाय और प्राकृतिक संसाधनों पर हक़दारी : प्रतिरोधी चेतना के स्वर

जितेंद्र सिंह

> ''जिस समाज का इतिहास नहीं होता, वह समाज कभी शासक नहीं बन पाता है, क्योंकि इतिहास से प्रेरणा मिलती है, प्रेरणा से जागृति आती है, जागृति से सोच बनती है, सोच से ताकत बनती है, ताकत से शक्ति बनती है, और शक्ति से शासक बनता है।[1]

सामाजिक परिवर्तन के लिए कोई वंचित समुदाय अपने ऊपर बनी हुई विशिष्ट दबावकारी परिस्थितियों से निबटने के लिए अपने गौरवशाली अतीत, और उससे जुड़ी यादों को अपने सशक्तीकरण के लिए एक उपकरण के रूप में प्रयोग करता है। विभिन्न रणनीतियों के माध्यम से विभिन्न समुदाय अपने वंचना के चक्र को तोड़ना चाहते हैं। समुदाय अपनी अपवंचना की स्थिति को अस्वीकार करते हुए अपनी सामाजिक गढ़ंत को अपने तरीके से पुनर्लिखित करके उस मिथक को तोड़ने में सक्षम हो जाते हैं जो उन्हें पीड़ित के रूप में प्रस्तुत करती है।[2] ऐसी ही वंचनाएँ निषाद समुदाय पर औपनिवेशिक काल से अब तक थोपी गई हैं।[3] इधर हाल के वर्षों में निषादों ने अपनी चुप्पी तोड़ी है। उन्होंने इस धारणा को भी ख़ारिज किया है कि सबाल्टर्न बोल नहीं सकते हैं। इस प्रक्रिया में यह निषाद पार्टी नामक एक राजनैतिक दल के रूप में इसने अपने को अभिव्यक्त किया है। इस परचे में यह देखने का प्रयास किया गया है कि निषाद समुदाय अपना असंतोष और प्रतिरोध किस प्रकार व्यक्त कर रहा है। इसके साथ–साथ उन कारकों का भी पता लगाने की कोशिश की गई है जिसकी वजह से निषाद जाति के लोगों में प्रतिरोध के स्वर पैदा हुए हैं। यह भी देखने का प्रयास किया

गया है कि क्या निषाद पार्टी नदियों पर आश्रित दूसरे समुदायों को साथ लेकर चलने का प्रयास कर रही है या नहीं? इसके लिए हमने इलाहाबाद, बनारस, गोरखपुर और हमीरपुर जिलों का चयन किया है। अध्ययन के सन्दर्भ में यह स्पष्ट उदेश्य था कि निषाद पार्टी और इससे जुड़ी निषादों की उपजातियों के अधिकारों से जुड़े विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करना है। इलाहाबाद और गोरखपुर जिले में स्थित पार्टी कार्यालयों में जाकर लोगों से बातचीत की गई है। विभिन्न जिलों में होने वाली निषाद पार्टी की रैलियों को भी देखने का प्रयास किया गया है। इसके अतिरिक्त बुंदेलखंड के हमीरपुर जिले के ग्रामीण इलाकों में ढीमर समुदाय की संस्कृति की एक झलक से पाठकों को परिचित कराने का प्रयास किया गया है।

निषाद समुदाय का एक परिचय

निषाद जिन्हें मल्लाह और केवट भी कहा जाता है, वे नाविक होते हैं जो उत्तर प्रदेश की सभी प्रमुख नदियों के किनारे और उसके आसपास रहते हैं। केवट शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के कैवर्त्त से हुई है जिसका अर्थ है *पानी के निवासी*। निषाद शब्द को नि: 'विशेष' और षाद का अर्थ 'ज्ञान' का एक यौगिक माना जाता है। इस प्रकार निषाद वह है जो *नेविगेशन* के बारे में विशेष ज्ञान रखते हैं। निषाद अपने मूल को क्षत्रिय परंपरा के शौर्य वंश से जोड़ते हैं। वे अपने निषादराज राज गुह के वंश से जोड़ते हैं जिन्होंने राम के निर्वासन की शुरुआत में कई तरह से उनकी मदद की थी। रामचरित मानस में केवट के कर्त्तव्य और उसकी भक्ति भावना को उजागर किया गया है। वहाँ पर केवट राम के साथ अपने भक्ति सम्बन्ध पर बहुत गर्व करता है। वे अपने आपको सात सामाजिक वर्गों में विभाजित करते हैं। यह विभाजन पौराणिक कथाओं पर आधारित है। निषाद राजा गुह के तीन पुत्र थे, उन तीन पुत्रों के सात पुत्र हुए : बलवर्ण, चय, सोरहिया, कैरता, तियार, बनाफर और ढीमर। समुदाय का यह पौराणिक सामाजिक विभाजन उनके व्यवसायों में भी परिलक्षित होता है। बनाफर या बाथो इलाहाबाद जिले में अधिक हैं और वे खुद को पदानुक्रम में सर्वोच्च मानते हैं। वे नाविक का काम करते रहे हैं और पानी के रास्ते से सामान ले जाने का काम करते हैं। केवट सब्जी का उत्पादन करते हैं।[4] बुंदेलखंड क्षेत्र में ढीमर, कहार मूल रूप से मछुआरे हैं। कहार को ढीमर के नाम से भी जाना

जाता है जोकि संस्कृत के शब्द ''धीवर'' से लिया गया है। तात्पर्य यह है कि कहार और ढीमर एक ही जाति है, न कि अलग–अलग।

बुंदेलखंड में पहले कहार को मछमारा के नाम से भी जाना जाता था। कई अन्य क्षेत्रों में इन्हें सिंघरियाँ भी कहा जाता है।[5] यह नाम इनके द्वारा सिंघाड़े का उत्पादन करने के कारण मिला मिला है। इस क्षेत्र में इनकी संख्या अधिक है। इनकी आजीविका नदियों से मछली पकड़ने और बेचने पर निर्भर है। ये अपने एक विशेष कौशल[6] की वजह से भी काफी लोकप्रिय हैं बुंदेलखंड क्षेत्र में घतोइया बाबा को इस समुदाय का ग्राम देवता माना जाता है जिनकी पूजा वरुण देवता के रूप में होती है। ढीमर, कहार और धोबी जाति के लोगों में ये विशेष पूज्यनीय हैं। नदियों और तालाबों के किनारे इनके चबूतरे पाए जाते हैं। नदी–नाले पार करते समय इनका स्मरण किया जाता है। गाँव से बरात जाते वक़्त इनकी खास पूजा की जाती है, ताकि सभी काम शुभता के साथ हो सके। गाँवों में सहालग (विवाह का मौका) के समय पालकी और डोली धोने में कुछ रकम कमा लिया करते थे, अब इधर छोटे–बड़े सभी लोगों की शादियों में चौपहिया वाहनों का इस्तेमाल होने लगा है, जिससे वे बेरोजगार हो गये हैं। ढीमर जाति से सम्बन्धित लोक नृत्य काफी प्रचलित है, जिसे 'ढिमरयाई नृत्य' के नाम से जाना जाता है जिसे विवाह के समय पुरुष और महिलाओं द्वारा किया जाता है। यह नृत्य बुंदेली वाद यंत्र खंजड़ी, चिमटा, लोटा, घड़ा व ढपली की धुन पर किया जाता है।

प्राकृतिक संसाधनों पर हक़दारी बनाम वंचना

वास्तव में हक़दारी एक ऐसा विषय है जो सीधे राज्य की उत्पत्ति से जुड़ा हुआ है। राज्य मनुष्यों के समूहों को अपनी प्रजा मानता है और उन्हें कुछ अधिकार देता है। उनकी सुरक्षा की जिम्मेदारी लेता है और इस प्रक्रिया में उनके दैनिक जीवन को अपने परिक्षेत्र में खींच लेता है। राज्य निर्माण की प्रक्रियाओं के अंतर्गत आरम्भिक भारत में भी विभिन्न वर्ग राज्य की संरचनाओं के अधीनस्थ होते गये। यह अधीनीकरण सबसे नीचे की जातियों में ज्यादा दृष्टिगोचर होता है क्योंकि उन्हें न केवल उत्पादक कार्यों में संलग्न कर दिया गया बल्कि शारीरिक श्रम को मानसिक श्रम से हीनतर घोषित कर दिया गया। इस थोपी गई हीनता ने उनके ऊपर बहुस्तरीय विभेदों को लाद दिया गया। एक विभेदीकृत संसार में

वे उन प्राकृतिक संसाधनों पर आश्रित होते गये जिसे राज्य ने अपने कर–परिक्षेत्र में शामिल नहीं किया था। सामाजिक पदानुक्रम में नीची समझी जाने वाली जातियाँ संसाधनों की खोज और उनसे जीविका चलाने का उपक्रम करती रही। संसाधन जब मूल्यवान साबित हुए तो राज्य उन पर कर लगाने लगा।[7]

वर्तमान समय में निषाद समुदाय और राज्य के बीच प्राकृतिक संसाधनों की हक़दारी को लेकर संघर्ष देखा जा सकता है। प्रश्न उठता है कि यह हक़ / दावे (क्लेम) कहाँ से लाते है? इस हक़ के समर्थन में दावा प्रस्तुत करने वाला समुदाय कहता है कि ''जब से पृथ्वी है, तब से वहाँ पर रह रहे हैं।'' इसमें लोककथाएँ, सामुदायिक स्मृतियाँ और मौखिक इतिहास भूमिका निभाते हैं। इतिहास के प्रमुख पाठों और युगों में इन समुदायों का संसाधनों के साथ रिश्ता छिपा हुआ है। अध्ययन यह बताने का प्रयास करते है कि समुदायों की लोककथाएँ, सामुदायिक स्मृतियाँ और मौखिक इतिहास इसी से जन्म लेते है और वे हक़दारी प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार निषादों के पास एक ऐसा अतीत है जिसमें वे नदी के राजा थे। यह अतीत उन्हें नदी पर दावा प्रस्तुत करने की शक्ति देता है। वे हक़दारी पेश कर रहे हैं : एक समुदाय के रूप में नदी में नाव चलाने की, नदी में से बालू निकालने के अनन्य अधिकार की, आरक्षण के माँग और अपनी श्रेणी में पारिवर्तन की, निषादों की जीविका का आधार नदी है। नदी में नाव चलाकर अपनी जीविका सुरक्षित करने का प्रयास करते है। वे मछली भी पकड़ते है, नदियों के तट पर सब्जी, सिंघाड़ा और चावल भी उगाते है, नदियों से बालू भी निकालकर बेचते हैं। वे नाव और नाव–पुल के निर्माणों में भी काम करते हैं।

निषाद महिलाएँ 'मूँज' घास से, जो प्राय: नदियों के किनारे उगती है, रस्सियाँ बनाती हैं। अब उनके आर्थिक संसाधन यानी गंगा और यमुना के पानी और घाट को सरकार द्वारा नियंत्रित किया जाता है। वे नदी के तल की रेतीली भूमि पर भी अपना दावा जताते हैं। उनका कहना है कि ज़मींदारी प्रथा के उन्मूलन के बाद उन्हें इस भूमि पर अधिकार दिया जाना चाहिए था। उन्हें जमींदारों को तरबूज, ककड़ी, करेला आदि के उत्पादन का किराया देना पड़ता है। परिवहन, बालू निकालना, रस्सी बनाना, मछली पकड़ना और नदी में तीर्थयात्रियों द्वारा फेंके गये सिक्कों की खोज आदि समुदाय का मुख्य पुश्तैनी व्यवसाय है जिसमें वे राज्य से विशेष रियायत चाहते हैं क्योंकि उनके अनुसार ये सब उन्हें अनादिकाल

से प्राप्त था। निषाद समुदाय को उनके परंपरागत व्यवसाय से व्यवस्थित तरीके से वंचित किया गया है जिससे समुदाय कई तरह की वंचनाओं का शिकार होता गया। इनकी इस वंचना का एक कारण आधुनिकता से उपजा विकास और तकनीकी तंत्र भी है। इस तरह के समुदायों के सन्दर्भ में अपने एक लेख में बद्री नारायण कहते हैं कि जो कारीगर जातियाँ हैं, उनके कौशल इस उदारीकरण के दौर में आप्रासंगिक हो चुके हैं। उनके कौशलों की इस व्यवस्था में अब कोई जगह नहीं रह गई है। ये अपना परम्परागत व्यवसाय भी नहीं छोड़ पा रहे हैं और इनमे वर्तमान समय की माँग के अनुसार इतनी दक्षता नहीं है कि कोई नया व्यवसाय कर पाएँ। ये समुदाय कुछ विशेष कार्यों में दक्ष होने के कारण दिहाड़ी मजदूरी भी नहीं करना चाहते हैं, आज ऐसे समुदाय बाजार के मुहाने पर खड़े हैं।[8]

अपनी पुस्तक 'फ्लेमिंग फीट' में कन्नड़ साहित्यकार और इतिहासकार डी. आर. नागराज ने कहा था कि आधुनिक प्रौद्योगिकी और तकनीक ने पिछड़े और वंचित समुदायों, विशेषकर उन कारीगर जातियों और समुदायों का नुकसान किया है जिनकी आजीविका का केवल एक माध्यम शिल्पकारी / शिल्पों (आर्टीशन) पर आधारित था। इसके लिए उन्होंने 'टेक्नोसाइड' या तकनीकी-संहार की अवधारणा प्रस्तुत की है।[9] उनमें से निषाद समुदाय भी है। इस वंचना में राज्य ने अपनी महती भूमिका निभाई है। सुदीप्त कविराज बताते हैं कि भारतीय सन्दर्भ में, राज्य आधुनिकता और उससे उपजे विकास का प्राथमिक स्त्रोत्र है। यहाँ तक कि उदारवादी अर्थव्यवस्था के युग में भी राज्य की भूमिका कम नहीं हुई है।[10] इस तरह राज्य और तकनीक ने निषाद समुदाय के अपने परम्परागत व्यवसायों से वंचित होने में भूमिका अदा की है।

अतीत से आत्मबोध : अस्मिता की पुनर्सर्जना

अतीत की स्मृतियाँ अक्सर वर्तमान की दमनकारी स्थितियों से उबरने में मदद करती हैं। कई बार ऐसी स्थितियों से उबरने के लिए अतीत को नए—नए रूपों में खोजना पड़ता है। इसका उदाहरण उन बहुत से ऐतिहासिक रूप से उपेक्षित समुदायों में देखा जा सकता है जो अपनी वर्तमान जरूरतों को देखते हुए, और एक बेहतर भविष्य की तरफ बढ़ने के इरादे से, अपने अतीत की व्याख्या करने में जुटे हैं। उपेक्षित समुदाय अपनी जाति के मिथकों, किवदंतियों,

नायकों और जातीय इतिहासों के माध्यम से अपनी पहचान की स्थापना में जुटे हुए हैं। इन समुदायों के कई नायक उनकी पहचान के प्रतीक बन चुके हैं और समुदायों के सदस्यों में गर्व की भावना पैदा करते हैं।[11] ऐसा ही कुछ निषाद समुदाय अपने विस्मृत इतिहास को पुर्नसर्जित कर अपने गौरवशाली अतीत को सामने ला रहा है, और अपने दावों की ऐतिहासिकता के आधार पर गोलबंद होकर अपने आधिकार प्राप्त करने की कोशिश कर रहा है। वे लिखित, मौखिक इतिहास और दंतकथाओं का सहारा लेते हैं। इससे वे आपस में जुड़ते हैं जुड़ाव उन्हें सांस्कृतिक और राजनीतिक गोलबंदी में मदद करता है।[12]

इसे निषाद पार्टी और डॉ. संजय निषाद के मामले से समझा जा सकता है। डॉ. संजय निषाद ने मछुआ समुदाय की उपजातियों को एक मंच पर लाने की मुहिम छेड़ रखी है। निषादों को उनके समृद्ध इतिहास से परिचित कराने के साथ-साथ वे उनके हक़ दिलाने के लिए प्रयासरत रहे हैं। समुदाय के लोगों को इतिहास बोध कराने के उद्देश्य से डॉ. संजय निषाद ने आधा दर्जन से अधिक किताबें लिखी हैं। 'निषाद वंश', 'भारत का असली मालिक कौन', 'भारत के असली मूलवासी', 'आरक्षण के हक़दार सबसे पहले ये लोग' जैसी किताबों से वह निषाद समुदाय के लोगों को यह बताने की कोशिश में हैं कि निषादों का इतिहास अति प्राचीन है। हर काल में वे समाज के अहम अंग रहे हैं। 'निषाद वंश' में वह लिखते हैं कि निषादों का इतिहास बहुत पुराना है। प्राचीन ऋग्वेद में निषादों का उल्लेख है। रामायण और महाभारत में कई-कई बार निषादों का उल्लेख है। महर्षि वाल्मीकि ने जो पहला श्लोक लिखा है, उसमें निषाद शब्द आया है। महाभारत के रचयिता महर्षि वेदव्यास भी एक महान महर्षि निषाद थे। डॉ. संजय निषाद के अनुसार निषादों का इतिहास उस आदि संस्कृति का इतिहास है, जब मानव ने स्थायी आवास बनाकर रहना सीखा था। निषादों का इतिहास हमारी सभ्यता का प्रारम्भिक इतिहास है। सिंधु घाटी सभ्यता के निर्माता 'आद्य निषाद' थे। निषाद एक प्राचीन अनार्य वंश है। निषाद (निः यानी जल और षाद का अर्थ शासन) का अर्थ है जल पर शासन करने वाला। प्राचीन काल में जल, जंगल खनिज, के यही मालिक थे, और जब भारत भूमि पर आर्यों ने आक्रमण किया, उसके पूर्व यहाँ इन्हीं का शासन था। हमारे बहुत सारे दुर्ग-किले थे। जिन्हें आमा, आयसी, उर्वा, शतभुजी, शारदीय आदि नामों से पुकारा जाता था। डॉ. संजय के गोरखपुर स्थित कार्यालय में निषाद समाज के जिन

पूर्वजों की तस्वीर लगी है, उसमें वास्कोडिगामा और कोलंबस भी हैं। उनके मुताबिक यह दोनों नाविक थे, इसलिए ये निषादवंशी हैं। हमारा समुदाय अंतरराष्ट्रीय है। समुद्र, नदी, पोखरों पर जिनकी भी आजीविका और गतिविधि हैं, वह सब निषादवंशी हैं। वह निषादों का इतिहास इसलिए प्रस्तुत कर रहे हैं ताकि समुदाय के सदस्यों को अतीत का स्मरण दिलाकर वर्तमान में इन्हें संगठित करके एक शक्तिशाली वर्ग के रूप में उभर सकें। सार्वजानिक क्षेत्र में अपनी गौरवशाली अस्मिता का पुर्नसर्जन करके दमनकारी परिस्थितियों से बाहर निकल कर व्यवस्था में राजनैतिक परिवर्तन ला सके ?

लोकतंत्र और चुनावी राजनीति

राज्य के नेतृत्व में लोकतंत्र के वर्तमान स्वरूप और सरकारी नीतियों में तेजी से बदलाव हुआ है। वे राजनैतिक संस्थाएँ जिनसे अपेक्षा की गई थी कि जनतंत्र को गहराने में भागीदारी निभाएगी, उन्होंने अपनी राजनीति को ''तोहफों की राजनीति'' में बदल दिया है, जैसे, कंबल बाँटना, सस्ता राशन, विद्यार्थियों के लिए मुफ्त टैबलेट तथा वजीफ़ा और पेंशन आदि। इस प्रकार राजनैतिक दल जनतांत्रिक मूल्यों में रूचि न लेकर वोट बैंक को गोलबंद करने का काम में लगे रहते हैं। इस प्रक्रिया में हाशिये पर खड़ी जातियाँ राजनैतिक दलों से तोहफ़ों की अपेक्षा करती हैं और उनके लिए जनतंत्र का इकलौता अर्थ भी यही है।[13] वे अपने नेता और आवाज़ विकसित करने में पिछड़ जा रही हैं।[14] दूसरी तरफ़, एक उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि मध्यम क्रम की वे जातियाँ जो संख्या की दृष्टि से प्रभावी हैं, जिनके पास गौरवशाली अतीत है और जिन्होंने अपने समुदाय को गोलबंद करके राजनैतिक पार्टी का गठन कर लिया है, वे आज अपनी दावेदारी मुख्यधारा की राजनीति में पेश कर रही हैं। वे राज्य तथा राजनैतिक दलों का अधिक ध्यान आकर्षित करती हैं क्योंकि वे बड़ा वोट बैंक बनाती हैं। निषाद पार्टी ऐसी ही पार्टी है। वे जातियाँ, जो लोकतंत्र, आधुनिकता, विकास के ढाँचे में स्वयं को समाहित करने के लिए खुद को पूरी तरह से तैयार नहीं कर पायी हैं, वे लोकतांत्रिक घाटा सहती हैं। जैसा कि प्रख्यात उत्तर आधुनिकतावादी / संरचनावादी चिंतक देरिदा कहते हैं कि ''अकेली आवाज़ किसी उपस्थिति की गारण्टी नहीं होती है।'' इसमें कई और तत्व भी जोड़े जाने चाहिए और यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि कोई इनकी आवाज़ों को डुबो न सके और गलत तरीके से प्रस्तुत न कर सके।[15]

भारत में 1980 के दशक में एक 'राजनीतिक समाज' ने जन्म लिया। इसके बाद इसमें दो बदलाव लक्षित किए गये : सरकारी प्रदर्शन की अवधारणा का प्रभुत्व और जनसंख्या के कल्याण एवं सुरक्षा का महत्त्व। यह अवधारणा राज्य की संप्रभुता में नागरिकों की सक्रिय भागीदारी से स्वतंत्र थी। इसी के साथ चुनावी कामयाबी के लिए राजनीतिक दलों द्वारा छोटे समूहों को अहमियत दी जाने लगी। पार्थ चटर्जी इस सन्दर्भ में 1977 के संसदीय चुनावों को खास मानते हैं। इन चुनावों में राजनीतिक गोलबंदी और वोट की ताकत को दिखाया।[16] इसके अलावा, प्रतिनिधित्व का सामान्य संवैधानिक रूप जनसंख्या के सभी समूहों को पहचानने और मान्यता देने के लिए पर्याप्त होता तो हम कह सकते थे कि पश्चिमी पूँजीवादी लोकतंत्रों की तरह एक पूर्ण बुजुर्वा लोकतंत्र कायम हो चुका है। लेकिन भारत में आज दोनों ही स्थिति नहीं है। चटर्जी का मानना है कि पिछले 25 वर्षों में एक नई गतिशील तार्किकता सामने आयी है जो राजनीतिक समाज की गतिविधियों को बुर्जुआ नागरिक समाज की प्रभुत्वशाली गतिविधियों से जोड़ती हैं।[17] विद्वानों ने इस बात पर भी जोर दिया है कि कुछ समुदायों को नकारात्मक रूप से राजनीतिक समाज के भीतर रखने से बेहतर है कि नागरिक समाज की अवधारणा का विस्तार सभी समूहों तक किया जाये।[18] इसे सीमांत समुदायों के सन्दर्भ में समझा जा सकता है। आमतौर पर सीमांत समुदाय गवर्नमैंटलिटी के साथ दोहरा सम्बन्ध कायम करती हैं। कई मौकों पर इसके सदस्य इस पर अपना दावा पेश करते हैं लेकिन एक व्यापक अर्थ में ये गवर्नमैंटलिटी के खिलाफ संघर्ष भी करते हैं। राजनीतिक समाज की तरह ये सिर्फ़ तदर्थ किस्म की छूटों या अपनी जीविका के लिए चिंतित नहीं रहते हैं। इनकी चिंता अपने परिवेश के विविध पहलुओं से भी जुड़ी होती है। ये राज्य से सिर्फ़ अपने लिए कुछ छोटी-मोटी सुविधाओं की ही माँग नहीं करते हैं, बल्कि ये एक उत्तम जीवन की संकल्पना के साथ जीते हैं। इसे हासिल करने की इनकी हर कोशिश अधिकांश मौकों पर गवर्नमैंटलिटी और राज्य सत्ता की बढती जकड़ के खिलाफ जाता है।[19]

भारत के सभी भागों में हाशिये पर पड़े लोगों का ऐसा समूह है जिसकी राजनीतिक समाज की मशीनरी तक पहुँच नहीं है। इनकी विशेषता होती है कि यह किसान समाज से अलग होते हैं, इनकी आजीविका प्राकृतिक संसाधनों पर

निर्भर होती है। राजनीतिक समाज या चुनावी लोकतंत्र ने इन समूहों को गवर्नमैंटलिटी प्रभावकारी दावा करने में समर्थ नहीं बनाया है। इस अर्थ में हाशिये पर पड़े ये समूह राजनीतिक समाज की सीमा रेखा के 'आउटसाइड' का प्रतिनिधित्व करते हैं।[20] यहाँ यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि लोकतंत्र में जो आवाज़ें राजनीतिक प्रतिनिधित्व प्राप्त कर लेती हैं, वे आवाजें भी अनसुनी और अनजानी रह सकती हैं। यह आवाज़ें सत्ता में रहने वाले लोगों, राज्य के द्वारा, मीडिया या स्वयं सीमांत समुदायों के अपने नेतृत्व द्वारा जानबूझ कर उपेक्षित की जा सकती हैं। लोकतान्त्रिक स्पेस में प्रतिनिधिमूलक राजनीति की एक महत्त्वपूर्ण सीमा है।[21] लोकतंत्र की इस खामी के बावजूद कुछ सीमांत आवाज़ें स्वयं के प्रयास से निकलकर आ रही हैं और दावेदारी भी पेश कर रही हैं। ऐसे ही आवाज़ें, निषाद पार्टी के माध्यम से उभर रही हैं।

निषाद पार्टी : रणनीति, उदेश्य और हक़दारी

राज्य द्वारा बनाई गई सामाजिक श्रेणियों (अन्य पिछड़ा बर्ग, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति) की सूचियों में कुछ जातियाँ अदृश्य और मूक हैं। वे अपनी अस्मिता की लड़ाई सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक स्तर पर अन्य प्रभुत्वशाली जातियों से लड़ रही हैं। ये कमजोर जातियाँ मुख्यधारा की राजनीति में अपनी पहचान बनाने के लिए संघर्षरत हैं। इस प्रक्रिया में कुछ जातियाँ अपने आप को वंचित महसूस कर रही हैं। इस उपेक्षा और वंचना का ही परिणाम है कि इनमे प्रतिरोधी स्वर पनपने लगा है। इन जातियों/ उपजातियों का आरोप है कि आरक्षण से लेकर कल्याणकारी योजनाओं के लाभ का बड़ा हिस्सा कुछ प्रभुत्वशाली जातियों को ही मिल रहा है। वे ग्रामीण क्षेत्रों में भी राजनीतिक शक्ति के विकेंद्रीकरण के सम्बन्ध में पूर्णतया सीमान्तीकृत महसूस करते हैं। वर्तमान समय में निषाद जाति जो बहुत लम्बे समय से उपेक्षा का शिकार रही है, वह उत्तर भारत में निषाद पार्टी के अंतर्गत लामबंद हो रही हैं। उत्तर प्रदेश की हालिया राजनीति में इस प्रतिरोध को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। फूको (1990) का तर्क है कि प्रतिरोध दमन से निकलता है। इस अध्ययन में उत्तर प्रदेश के ग्रामीण और शहरी सामाजिक परिवेश में निषाद समुदाय का प्रतिरोध लंबे समय के बाद उनके दमन और उत्पीड़न से निकला है। यह प्रतिरोध राज्य में निषाद पार्टी के उदय के साथमुखर हो रहा है। कई गाँवों/ कस्बों / शहरों में निषाद

समुदाय के नायकों की मूर्तियाँ स्थापित की गई हैं। समुदाय के नायकों की जयंती मनाई जाने लगी है और उन्हें बड़े उत्साह और उल्लास के साथ मनाया जाता है।[22]

1996 के आम चुनाव में फूलन देवी को समाजवादी पार्टी ने मिर्जापुर सीट का टिकट देकर चुनाव में उतारा था। इस चुनाव में फूलन देवी ने भारी मतों से अपनी जीत सुनिश्चित की थी। इसी तरह पिछले साल के गोरखपुर लोकसभा क्षेत्र के उपचुनाव परिणाम ने निषादों को एक विशेष पहचान दी है। वे एकजुट और एकस्वर में दिखे। उपचुनाव के परिणामों ने साफ़ संदेश दिया कि पूर्वी उत्तर प्रदेश की राजनीति में निषाद समुदाय को चुनावी रूप से साधे बगैर सफलता नहीं मिल सकती है। योगी आदित्यनाथ के गृह जनपद में प्रवीण निषाद की जीत ने पूरे समाज में जो आत्मविश्वास भरा था, निषाद समाज के राजनीतिक शीर्ष पर पहुँचने के पीछे जिस एक शख़्स की कोशिशों को सबसे ज्यादा श्रेय दिया जा रहा है, वह हैं डॉ. संजय निषाद। उन्होंने निर्बल इंडियन शोषित हमारा आम दलके बैनर तले निषादों की राजनीतिक पहचान पुख्ता की है। डॉ. संजय निषाद ने निषाद जाति के सबलीकरण के लिए निषाद पार्टी का गठन किया। यह जाति वर्तमान में अन्य पिछड़ी जाति के अधीन है। निषादों में 15-16 उपजातियाँ शामिल हैं, जिसमें केवट, मल्लाह, बिंद, कश्यप, धीमर, माँझी, कहार, राजभर, भर, प्रजापति, कुम्हार, मछुआ, तुरैहा, गौड़, बाथम, मझवार, गोडीया, रैकवार, सोरहीया, खुलवट, चाई, कोली, भोई, कीर, तोमर, भील, जलक्षत्री, धुरीया शामिल हैं। उत्तर प्रदेश की राजनीति में यह पार्टी बहुत ही जल्दी सक्रिय होकर अपनी दावेदारी पेश करने लगी है। इसकी स्थापना 2016 में हुई और 2017 में यूपी के विधानसभा चुनावों में 72 सीटों पर अपने प्रत्याशी उतार दिए। 2017 का विधानसभा चुनाव निषाद पार्टी ने पीस पार्टी के साथ मिलकर लड़ा था। लोकसभा के चुनाव में पीस पार्टी शिवपाल यादव की पार्टी साथ चली गई है तो निषाद पार्टी भाजपा के साथ। गोरखपुर में निषाद समुदाय के करीब साढ़े तीन लाख मतदाता है। पहले ही चुनाव में पार्टी ने एक विधायक के साथ खाता खोल दिया।[23]

2019 के लोकसभा चुनाव में सभी बड़ी पार्टियाँ निषाद पार्टी को अपने तरफ करने में जद्दोजहद में लगी रहीं। दरअसल, निषाद पार्टी के साथ गठबंधन कर भाजपा गोरखपुर जैसी प्रतिष्ठित सीट अपने पाले में फिर से लाने की जुगत

में है। भाजपा को विधानसभा चुनाव में यह सीट निषादों के अधिकांश वोट सपा की ओर चले जाने के कारण खोनी पड़ी थी। लोकसभा चुनाव में भाजपा ने गोरखपुर के लिए वहां के दिग्गज निषाद नेता रहे स्व.जमुना प्रसाद निषाद के बेटे अमरेंद्र निषाद को अपने साथ कर लिया। जमुना प्रसाद निषाद की गोरखपुर में निषादों के बीच गहरी पैठ मानी जाती है। निषाद पार्टी अपनी पहचान बनाये रखना चाहती है इसलिए उसने विलय के बजाय गठबंधन पर जोर दिया। डॉ. संजय निषाद ने अपने बेटे प्रवीण को उसी तरह भाजपा में शामिल करा दिया जैसे उपचुनाव के वक़्त सपा में शामिल कराया था। निषाद, कश्यप, बिंद, केवट, मल्लाह इस समुदाय की जातियाँ कई लोकसभा क्षेत्रों में प्रभावी स्थिति में है। इनमे भदोही, मिर्जापुर, देवरिया, बस्ती, फैजाबाद, आजमगढ़, बदायूँ, हमीरपुर, फतेहपुर, महाराजगंज, डुमरियागंज, चंदौली, व अम्बेडकर नगर जैसे क्षेत्र प्रमुख हैं। इस समय पार्टी के अध्यक्ष डॉ. संजय निषाद के बेटे प्रवीण निषाद गोरखपुर से सांसद हैं। उन्होंने समाजवादी पार्टी, बसपा और पीस पार्टी के सहयोग से विधानसभा चुनाव जीता था लेकिन अब वे उसी खेमे में चले गये हैं जिसे चुनाव (भाजपा) में हराया था। पार्टी के अध्यक्ष और सक्रिय कार्यकर्ताओं का मानना है कि राजनीति ही हर ताले की चाबी है।

निषाद पार्टी का उद्देश्य आम राजनीतिक दलों से काफी अलग है। यह पार्टी *'वोट के बदले नोट लेने का मतदाता का अधिकार (वोटरशिप)'* चाहती है। पार्टी का मानना है कि प्राकृतिक सम्पदाएँ जैसे नदियों, पहाड़, पठार, रेगिस्तान, जंगल, कोयला, बालू, मोरंग, सोना-चांदी, लोहा, हीरा-मोती, अभ्रक, यूरेनियम आदि से प्राप्त राष्ट्रीय आय में प्रत्येक मतदाता की आर्थिक हिस्सेदारी होनी चाहिए? इसके विजन में लिखा गया है कि *जब मात्र 2 प्रतिशत ट्रान्जेक्शन 'कर' (टैक्स) लगाकर देश के विकास के लिए 18 लाख 20 हजार करोड़ रुपये जुटाए जा सकते हैं तो फिर 64 प्रकार के गैरजरूरी कर (टैक्स) लगाकर देश के हमारे लोगों की मेहनत की कमाई का लगभग 50 फीसदी हिस्सा लूटने का षड्यंत्र क्यों?* निर्बल इंडियन शोषित हमारा आम दल एक राजनीतिक संगठन हो गया। इसके साथ ही आरएसएस और बामसेफ की तरह पार्टी के लिए जमीनी स्तर पर काम करने वाला संगठन भी संजय निषाद ने खड़ा किया। इसका नाम है *राष्ट्रीय निषाद एकता परिषद।* संजय निषाद कहते है कि *'भारतीय राजनीति में सपा, बसपा, भाजपा तथा कांग्रेस सहित सभी पार्टियाँ वंचित समाज के विकास*

की बातकर, समाज के नेताओं का चेहरा दिखाकर वोट लेती हैं। सरकार बनाती हैं और सरकार बनते ही सभी वंचित, अति पिछड़े एवं विशेषकर मछुआ समाज का हक़/ हिस्सा/ अधिकार देने के मुद्दे को ठंडे बस्ते में डाल देती हैं?'

मुद्दे और हक़दारी की माँग

डॉ. संजय निषाद निषाद जाति को अनुसूचित जाति में शामिल करने की माँग को लेकर संघर्षरत हैं। जून 2015 में इसी मुद्दे को लेकर गोरखपुर में आंदोलन भी हुआ जिसमें एक युवक की मौत भी हो गई। डॉ. संजय निषाद कहते हैं कि निषादवंशीय समाज की सभी जातियाँ संवैधानिक रूप से अनुसूचित जाति में हैं, इस बात को सिर्फ़ परिभाषित करने की जरूरत है जिसे अब तक नहीं किया गया है। गोस्वामी तुलसीदास ने कवितावली में निषादों के जीवन के बारे में विस्तार से लिखा है। तब निषादों के बच्चों को ठीक से वेद की शिक्षा भी नहीं मिल पा रही थी। लेकिन आज समय बदल गया है निषादों के पास डॉ. संजय निषाद हैं जो उन्हें सामाजिक और राजनैतिक नज़रिये से जागरूक कर एकजुट कर रहा है। तुलसी का केवट प्रभु राम से विवाद बढ़ाने में डरता था लेकिन आज का केवट अपने हक़ के लिए मुखर है और हर लड़ाई लड़ने को तैयार भी है। निषाद समाज के प्रमाण–पत्र जारी हो साथ ही निषाद समाज का पुश्तैनी जीविकोपार्जन के संसाधन नदी, ताल, बालू घाट की नीलामी, मत्स्य जीवी सहकारी समितियों को भी दिलाने की व्यवस्था किया जाये। निषादों को जल, जंगल, जमीन से 1878 में एक्ट बनाकर विस्थापित किया गया था। निषाद समाज को पुनर्स्थापित किया जाये, उचित मुआवजा दिया जाये, शिक्षा दीक्षा की व्यवस्था की जाये। वाराणसी के मल्लाह, केवट, निषाद, मछुआरा जातियों के लोगों का कहना है कि सरकार की विभिन्न योजनाओं के कारण उनका पारंपरिक पेशा खत्म हो रहा है और वे बेरोजगार होते जा रहे हैं। सरकार हमारी माँगों के आलोक में कोई कार्रवाई नहीं कर रही है। उनका कहना है कि वाराणसी में नाविक समाज के लोग पहले ही बेरोजगारी की समस्या से परेशान हैं। ऐसे में परंपरागत कामकाज यानी नाव संचालन, मत्स्य पालन व रेत निकालने का कार्य करके हजारों परिवार पीढ़ी–दर–पीढ़ी आत्मनिर्भर ससम्मान रोजी–रोटी कमाकर जीवन बसर कर रहे थे। पिछले कुछ सालों से इनके रोजगारों को छीना जा रहा है। गंगा में क्रूज चलाने की शुरुआत के साथ ही मल्लाहों के रेत निकालने,

किनारों पर खेती करने के परम्परागत रोजगार को रिवर फ्रंट के नाम पर खत्म कर दिया गया है। मछली मारने पर भी रोक लगा दी गई है। रोजगार के अभाव में समुदाय कैसे जीवित रहेगा? वाटर वेज के तहत इलाहाबाद से हल्दिया तक गंगा में बड़े-बड़े मालवाहक़ जहाजों को चलाया जाना है जबकि गंगा में पानी ही नहीं है। यह योजना नदी और इस पर आश्रित पूरी जनसंख्या को विस्थापित करने वाली है। इससे मल्लाह-मछुआरे सब बर्बाद हो जाएँगे और जलीय पर्यावरण और जीवों का भी विनाश निश्चित है। निषाद, वाराणसी के विकास के विरोधी नहीं हैं लेकिन यह कौन-सा विकास है जिसमें वाराणसी के लोग ही शामिल नहीं हैं। उन्होंने यह भी कहा है कि वे गंगा की सफ़ाई में पूर्ण रूप से सहयोग करेंगे। यह आंदोलन मात्र नाविकों की आजीविका ही नहीं बल्कि गंगा के पारंपरिक और सांस्कृतिक पहचान वाले रूप को जिंदा रखने के लिए भी है। उन्होंने लिखा है, *''नरेंद्र मोदी जी आप न केवल देश के प्रधानमंत्री हैं बल्कि बनारस के सांसद भी हैं इस नाते आपकी दोहरी जिम्मेदारी और लोगों की आशा बनती है। वहीं राज्य के मुख्यमंत्री आदित्यनाथ योगी की भी जिम्मेदारी बनती है कि हम लोगों के रोजगार बचे रहें। हम गंगा के साथ सदियों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी रिश्ता बना कर जी रहे हैं।''*

पत्र में निषाद समाज ने अपनी माँगों का उल्लेख किया है, जिनमें मुख्य निम्नांकित हैं[24]:

1. गंगा में क्रूज संचालन बंद हो।
2. नावों के लाइसेंसों का नए नियम के साथ नवीनीकरण हो।
3. निषाद समुदाय के गोताखोरों की नियुक्ति जल पुलिस में स्थायी रूप से हो।
4. बनारस, इलाहाबाद में वाटर स्पोर्ट बंद हो।
5. घाटों / तालाबों पर सरकारी / कम्पनी और अवैध कब्ज़ा हटाया जाये।
6. विलुप्त हो रहे डॉल्फिन एवम अन्य मछलियों के संरक्षण के लिए बड़े जहाज़ों के संचालन की योजना पर रोक लगे।
7. गंगा, यमुना, वरुणा, केन, बेतवा में बह रहे सैंकड़ों नालों, सीवरों को बन्द किया जाये।
8. प्राइवेट कम्पनी / बाहर के व्यापारियों द्वारा नाव चालन से नाविक समाज की जीविका समाप्ति को तुरंत रोका जाये।

9. गंगा के निर्मलीकरण के नाम पर आवंटित बजट की लूट बंद हो, इस काम का क्रियान्वयन समयबद्धता के साथ पूरा हो और गंगा सफाई वाटर वेज के नाम पर सरकार सही तथ्य सामने लाएँ।
10. मल्लाह समाज को गंगा किनारे खेती और वन क्षेत्र के विकास हेतु पट्टे आवंटित किए जाएँ.

निष्कर्षत: हम देखते हैं कि अधीनस्थ समुदायों के योगदान के बारे में प्राय: कोई प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं होता है। ऐसी स्थिति में इनके मिथक, मौखिक इतिहास हमको वास्तविकता के करीब पहुँचाने में काफी मददगार साबित होते हैं। कभी–कभी तो मिथक यथार्थ से भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण साबित होते हैं। निषाद समुदाय अपने गौरवशाली अतीत को आधार बनाकर राजनैतिक दल के माध्यम से अपने परम्परागत सामुदायिक आधिकारों की माँग कर रहे हैं। आज निषाद समुदाय ने अपने अन्दर दावा करने की क्षमता का विकास कर लिया है। उनका कहना है कि यदि गंगा नदी में क्रूज चलने लगे तो इनकी नाव चलाने की आजीविका नष्ट हो जायेगी, जिसका ये कड़े स्वर में विरोध कर रहे हैं। मशीनीकरण की इस प्रक्रिया में एक समुदाय विशेष का इतिहास, संस्कृति, आर्थिकी, आजीविका और उसका कौशल नष्ट हो जायेगा। इनकी तीसरी माँग है कि वे तैराकी और नेविगेशन जैसे कौशल में अनुभवी हैं, इसलिए उन्हें जल पुलिस में सरकारी नौकरी दी जाये। गंगा यमुना में दिनों–दिन बढ़ रहे प्रदूषण को रोक सकने में ये मददगार साबित हो सकते हैं। समुदाय की महिलाएँ नदी की तटीय भूमि पर सरकारी पट्टे की माँग कर रही हैं जिस पर मौसमी सब्जियाँ उगाकर उन्हें अपने पारिवार की जीविका चलाने में सहायता मिलेगी। नदी और उससे निकलने वाली बालू ही उनकी प्रमुख रोजी रोटी है, जिस पर उन्हें अपना अधिकार चाहिए। ये अधिकार इनको मिल जाते है, तो समुदाय वंचना के चक्र से निकल कर बाहर आ सकता है। अब अगर निषाद पार्टी की बात की जाये तो उत्तर प्रदेश में बहुत से जाति आधारित क्षेत्रीय राजनैतिक दल हैं। ये राजनीतिक दल प्रमुख रूप से किसी क्षेत्र विशेष और जातिगत आधार तक ही सीमित हैं। इनकी रणनीति और दृष्टिकोण संकुचित होता है। अपनी डफली, अपना राग अलापते हैं। इस संकुचित दृष्टिकोण में जाति, उपजाति, मजहब, संप्रदाय, भौगोलिक क्षेत्र, भाषा, आर्थिक तथा सामाजिक रूप से विविध एवं बहुरंगी, परस्पर अंतरविरोधी तत्व समाहित रहते हैं। जाहिर सी बात है कि ये अपनी जातियों के हित की

बात ज्यादा सोचेंगे और इस तरह से इनका सोचना तर्कसंगत भी है क्योंकि इन्होंने अपने आप को उपेक्षित महसूस किया है। अभी तक निषाद पार्टी की पहुँच उत्तर प्रदेश के सभी क्षेत्रों की निषाद उपजातियों तक नहीं हो पाई है?

बुंदेलखंड क्षेत्र में निषाद पार्टी के प्रभाव के बारे में अभी कुछ कहना जल्दबाजी होगी। हाँ यह ज़रूर कहा जा सकता है कि निषाद पार्टी ने प्रत्येक जिले में अपने कैडर बनाकर जमीनी स्तर पर कार्य करना शुरू कर दिया है। बुंदेलखंड क्षेत्र की ढीमर, कहार जाति को भान तक नहीं है कि कोई राजनैतिक दल है जो उनके हित के बारे में आवाज बुलंद कर रहा है। ढीमर, कहार जातियाँ इस क्षेत्र में एक बड़ा वोट बैंक बनाती हैं। पार्टी को उन तक पहुँचना होगा और उनको अपने साथ लेकर आगे बढ़ना होगा। अभी पार्टी का प्रयास जारी है, भविष्य में देखते हैं कि क्या ये पार्टी उपेक्षित क्षेत्र की अपनी उपजातियों की आकांक्षों को पूरा कर पाती है या नहीं? उनके लिए किसी तरह की कोई मिसाल कायम कर पाएगी या नहीं? इतनी विविधता भरे देश में सभी वंचित–उपेक्षित तबकों को संतुष्ट करना आसान नहीं है लेकिन ऐसे वर्गों को साथ लेकर चला जा सकता है। निःसंदेह साथ लेकर चलने का मतलब ऐसे वर्गों का वोट हासिल करना नहीं, बल्कि उनके लोगों को सत्ता–संगठन का चेहरा बनाना और उनकी जायज शिकायतें दूर करना है। ऐसा कुछ राष्ट्रीय दल कर सकते हैं। देश की सामाजिक संरचना की वास्तविक झलक इन दलों के आतंरिक ढाँचे में भी दिखनी चाहिए। जिस दल में यह झलक बेहतर दिखेगी, वह न केवल अपना जनाधार और मजबूत करेगा, बल्कि नित नए दलों के निर्माण के सिलसिले को रोकने में सहायक भी बनेगा। अभी तक तो निषाद जन और पार्टी दोनों अपने खुद के परिवर्तन की चाह के लिए राज्य की आंतरिक व्यवस्था के दबाबों को सहते हुए अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं।

सन्दर्भ :

1. उत्तर प्रदेश की भूतपूर्व मुख्यमंत्री मायावती (2003), द जर्नी ऑफ़ सोशल चेंज, पैम्फलेट, पृष्ठ 1.
2. अर्चना सिंह (2019), पृष्ठ 129.
3. अपराधी जाति अधिनियम, 1871 के तहत निषाद जाति को अपराधी जाति घोषित किया गया था. उन्होंने 1857 में उत्तर प्रदेश में कई स्थानों पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ाई लड़ी और उन कठिन समय में नदियों को पार करने में अंग्रेज़ों

के लिए बहुत परेशानी पैदा की.नतीजतन, अंग्रेजों ने उन्हें कुछ जिलों में 'आपराधिक जनजाति' के रूप में चिन्हित किया.

4. के.एस. सिंह (2005), पृष्ठ 776-777.
5. डब्लू. क्रुक (1974), पृष्ठ 125.
6. इनके पास एक विशेष कौशल है ''कुँओं में खोये हुए घरेलू बर्तन'' को खोज निकालने का। इसी कौशल की वजह से ये काफी लोकप्रिय भी हैं.
7. रमाशंकर सिंह (2015), पृष्ठ 260.
8. बद्री नारायण (2017), ''पुराने कौशल नए असमंजस'', अमर उजाला, 17 जून, इलाहाबाद.
9. डी. आर. नागराज (2018), पृष्ठ 179-181.
10. सुदप्ति कविराज (2005), पृष्ठ 2.
11. बद्री नारायण (2014), पृष्ठ 9.
12. रमाशंकर सिंह (2018).
13. बद्री नारायण (2018), पृष्ठ 82.
14. बद्री नारायण (2006).
15. वही.
16. पार्थ चटर्जी (2004), पृष्ठ 47.
17. पार्थ चटर्जी (2004), पृष्ठ 307.
18. अपर्णा सुंदर और नंदिनी सुंदर (2012).
19. कमल नयन चौबे (2015), पृष्ठ 49-50.
20. पार्थ चटर्जी (2008), पृष्ठ 43, 53-62.
21. निक कोल्ड्री (2010), पृष्ठ 17.
22. बद्री नारायण (2006).
23. यह परचा 2019 में पढ़ा गया था, इसलिए उस दौर तक की निषाद पार्टी की चुनावी और राजनीतिक यात्रा की एक बानगी पेश करता है- सम्पादक.
24. https://www.forwardpress.in/2019/01/banaras-navik-samaj-mallah-nishad-pm-narendra-modi

निषाद समुदाय की सामाजिक भौगोलिकी का अध्ययन : आजीविका और संस्कृति का सन्दर्भ

नेहा राय और सीमा यादव

भारतीय समाज के आरंभिक युगों से निषाद समुदाय आखेट और नौकायन के साथ समुद्री यात्राओं से जुड़ा रहा है। निषाद को मल्लाह के नाम से भी जाना जाता है किन्तु इसमे मतभेद हैं। कई बार मल्लाह को निषाद समुदाय की उपजाति भी कहा जाता है, जो उनके पेशे से जुड़ा है।[1] कुबेरनाथ राय ने अपने पुस्तक 'निषाद बाँसुरी' में निषादों की उत्त्पति और उनके व्यवसायों के बारे में बताया है कि भारतीय खेती का सूत्रपात करने, गुड़ बनाने, पान का प्रयोग, कौड़ी (बीस) में गिनने की पद्धति आदि की शुरुआत का श्रेय निषादों को ही जाता है।[2] रिजले (1891) के अनुसार कैवर्त्त नाम से यह जाति असम में भी पायी जाती थी। शब्दों के व्युत्पत्ति पर ध्यान दिया जाय तो 'कैवर्त्त' दो शब्दों 'का' (पानी) और 'वर्त्त' (जीविका) से मिलकर बना है, जिन्हें 1912 से पहले 'नदीला', 'जलीला' और 'जलिया' नाम से भी बुलाया जाता था। ये लोग असम में ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे रहते थे।[3] कैबर्त्त, संस्कृत या प्राकृत रूप से बंगाली भाषा से लिया गया है जबकि बिहार तक आते आते इसका तद्भव रूप केवट प्रयोग किया जाने लगा जिसे के. एस. सिंह भी कैवर्त का संक्षिप्त रूप बताते हैं, वहीं निषाद शब्द को नि: 'विशेष' और सद का अर्थ 'ज्ञान' का यौगिक माना जाता है। अत: निषाद वह है जो नौकायन के विशेष ज्ञान का अधिकारी है।[4] स्मिता-तिवारी जस्सल का मानना है कि यह समुदाय युद्ध की कला में अपनी बहादुरी और कौशल के लिए प्रसिद्ध रहा है। उन्होंने 1857 में उत्तर प्रदेश में कई स्थानों पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ाई लड़ी और उस कठिन समय में नदियों

को पार करने में अंग्रेज़ों के लिए बहुत परेशानी पैदा की। परिणामस्वरूप अंग्रेज़ों ने उन्हें 'आपराधिक जनजाति' के रूप में चिन्हित कर दिया।[5] इस समुदाय का जीवन नदी के इर्द-गिर्द घूमता है और अपने जीवन यापन के लिए वे नदी पर निर्भर रहे हैं। वे नाव चलाना, बालू निकलना, मछली मारना, गोताखोरी जैसे कार्यों में संलग्न रहे है और किन्तु वर्तमान समय में इनके व्यवसायों में राज्य द्वारा सेंध लगा दी गई है जिसके कारण ये अपने पारंपरिक अधिकारों से बेदखल हो रहे हैं। वे पारम्परिक व्यवसायों को छोड़कर अन्य रोजगारों की तरफ़ जाने को बाध्य हुए हैं। प्रस्तुत लेख में निषादों की नदी पर निर्भरता का वर्णन करते हुए इनके आजीविका में आने वाले परिवर्तनों का विश्लेषण किया गया है जिसके लिए अंतरविषयी दृष्टिकोण को अपनाते हुए संबंधित समुदायों का अध्ययन किया गया है। इसके लिए लेखक-द्वय ने ग्राउंडेड सिद्धांत का प्रयोग किया है। यह लेख प्रयागराज जिले में गंगा और यमुना नदियों के किनारे रहने वाले समुदायों के रोजगार, उनकी सामाजिक-सांस्कृतिक दशाओं को समझने की कोशिश है कि कैसे नदी किसी समूह को जीवन जीने में सहायक होती है। यह शोधपत्र तीन भागों में विभक्त है जिसमें निषादों की अस्मिता निर्मिति, उनकी बसावट और अपवंचना तथा अंत में इस समुदाय की आजीविका में आए हुए परिवर्तनों की पड़ताल की गई है।

प्रयागराज को अध्ययन क्षेत्र के लिए चुनने का मुख्य कारण गंगा और यमुना के संगम पर बसा होना है। व्यापक रूप से माघ व कुम्भ मेले के आयोजन के कारण से इसका धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक महत्त्व है। इन नदियों के किनारे 44 घाट हैं जिसमें 21 गंगा के, 21 यमुना के और 2 टोंस नदी के हैं।[6] अध्ययन के लिए गंगा नदी और यमुना पार के इलाक़ों को लिया गया है। नदी पार के दो क्षेत्र जिसमें भदकार गाँव, जो कि नागेश्वर घाट के पास स्थित है और संगम से 10 किलोमीटर की दूरी पर ग्रामीण क्षेत्र में है, वहीं दारागंज में स्थित बस्ती नगरीय पृष्ठभूमि को दर्शाती है तथा संगम से 3 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। यमुना पार क्षेत्र में मलाही बस्ती कीडगंज में यमुना से 2 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है, को लिया गया है। अध्ययन में पुरुष और महिला दोनों को चुना गया है जिससे नदी पर अन्योन्याश्रित संबंधों और सांस्कृतिक जुड़ाव में जेंडर की भूमिकाओं को समझा जा सके।

निषादों की अस्मिता निर्मिति

इरविन गोफमैन ने अस्मिता निर्मिति को समाजीकरण तथा समाज द्वारा प्रदत्त भूमिकाओं के रूप में एक परिवर्तित प्रक्रिया माना है।[7] निषाद समुदाय ने भी अपनी अस्मिता निर्मिति के लिए शौर्य गाथाओं और पौराणिक कथाओं का सहारा लिया है[8] जिसमें उसने समाज द्वारा दिए गये कुछ तथ्यों को अपने हिसाब से परिवर्तित करने के साथ नए तथ्यों को जोड़ दिया है। अकादमिक विमर्शों में इसे अस्मिता की राजनीति के रूप में देखा गया है। यह विमर्श लिंग, जाति और धर्म आदि के आधार पर हाशियाकृत व्यक्तियों और समूहों की गलत व्याख्या को समझने का प्रयास करती है जो अब सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनीतिक आधार पर अलग समुदाय बनाकर अपनी राजनीतिक दावेदारी प्रस्तुत करती है। औपनिवेशिक काल में जब खुले अवसरों और समाज सुधार जैसे आन्दोलनों की शुरुआत हुई तब कई अपवंचित समुदायों में अपनी अस्मिता के पुनर्निर्माण के लिए विद्रोह के स्वर तेज किए और अपने राजनीतिक, सामाजिक, और आर्थिक अधिकारों के लिए माँग की।[9] निषाद समुदाय भी धीरे-धीरे अपनी अस्मिता को राम, एकलव्य, वाल्मीकि जैसे व्यक्तियों से जोड़कर अपने समुदाय को गौरवान्वित करने का प्रयास करते हैं जिससे यह समुदाय अपना सामाजिक दायरा तलाश सके लेकिन अभी भी वे पूर्णतः अपनी पुरानी पहचान से मुक्त नहीं हुए हैं और अस्मिता निर्मिति की यह प्रक्रिया चल रही है। विनोद निषाद (35) ने अपनी पहचान को ब्राह्मण समुदाय से उत्कृष्ट बताते हुए कहा कि *''पाथर पूजे चू..या हाथ जोड़ घिघियाय, निषाद पूजे आत्मा मुह बोले मुह खाय* अर्थात हम मूर्खों की तरह पत्थर को नहीं पूजते हैं, हाथ जोड़कर दया की भीख नहीं माँगते, हम तो आत्मा की पूजा करते हैं। हम प्यार से बोलते हैं और प्यार से दिया हुआ खाते हैं।'' वे आगे यह भी कहना नहीं भूलते कि 'अगर हम दो-चार लोगों की जान नदी में बचा देते हैं, तो वे हमें ज़िंदगी भर नहीं भूलते। ब्राह्मण तो पूजा करके दान लेता है और हम जान बचाने की कीमत नहीं लेते हैं। हम निषाद राम से बड़े हैं, राम चैत्र नवमी को पैदा हुए थे जबकि निषाद राजा तो पंचमी को पैदा हुए थे।' आगे एक और नाविक दिनेश (45) जो नदी के किनारे फूल बेचने का काम करते हैं, वे बताते हैं कि हमारे पास तो भगवान का दिया हुआ गुण है जिसके लिए सरकार ट्रेनिंग कैम्प लगवाती है, वह हमारे

खून में ही होता है। आपने सुना होगा कि *'ऊपर अल्लाह नीचे मल्लाह'*...जिस तरह जल भगवान बिष्णु का निवास स्थल है उसी तरह निषाद का भी जल ही घर है और जल में भगवान के बाद मल्लाह ही होता है जान बचाने वाला।[10] जब कभी भी सृष्टि डूबेगी तो धरती पर सिर्फ़ मल्लाह और उसकी नाव ही बचेगी जो लोगों का उद्धार करेगी।[11] लेकिन अखबार में अगर किसी की जान बचाने की खबर छपती है तो नाम और फोटो दोनों पुलिस का होता है। सरकार हम लोगों पर भरोसा नहीं दिखाती। हमने आज़ादी की लड़ाई में भी अहम भूमिका निभाई थी। हमारे पूर्वज लोचन निषाद और समाधान निषाद ने 27 जून 1857 को करीब 167 अंग्रेज़ों को नदी में डुबाकर मारा था जो 27 जून को शहादत दिवस के रूप में मनाया जाता है। इस बार भी कानपुर में सतीचौरा के पास भी निषाद समाज ने यह दिवस मनाया लेकिन सरकार अभी भी हम लोगों के ऊपर कोई ध्यान नहीं देती।[12] हमारे रोजगार के जो साधन थे, वह बिचौलियों के आ जाने से खत्म होते जा रहे हैं जबकि नदी के रख-रखाव, जल इंस्पेक्टर की भर्ती और नदी से जुड़े सभी कार्यों को निषादों को सौंपा जाना चाहिए। इस तरह पारम्परिक व्यवसाय भी बना रहेगा और नदी से सीधे जुड़े रहने के कारण हम मन से काम भी करेंगे। जब तक सरकार ऐसा नहीं करेगी, तब तक हम उन्हें अपना इतिहास याद दिलाते रहेंगे क्योंकि कुछ दलित जातियों ने अपनी आवाज़ के माध्यम से सरकार में अपनी जगह बना ली है।' इन सारी आवाज़ों को यदि ध्यानपूर्वक सुनें और उन पर विचार करें तो स्पष्ट होता है कि निषाद समुदाय अपने इतिहास, वर्तमान पेशे और भविष्य को लेकर एक स्पष्ट नज़रिया रखता है और वह अपनी अस्मिता निर्मिति को लेकर जागरूक है। इसको वह अपने राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक अधिकारों को प्राप्त करने के लिए समुदाय की लामबंदी में प्रयुक्त कर रहा है।

निषादों की रहनवारी और सामाजिक अपवंचना

किसी एक भौगोलिक परिवेश में समुदायों के बीच एवं समुदाय के अन्दर सदस्यों के बीच सम्बन्ध उस विशिष्ट भौगोलिक परिवेश द्वारा निर्धारित होते हैं। समुदायों की अपने वातावरण के साथ अन्योन्क्रिया से उनकी सामाजिक भौगोलिकी जन्म लेती है। सामाजिक भूगोल की एक स्वतंत्र शाखा है जो स्थान से जुड़े

सामाजिक महत्त्व उसक व्यापक स्वरूप, स्थानिक संरचनाओं, संबंधों का अध्ययन तथा उससे उत्पन्न असमानताओं का अध्ययन करती है। इस तरह नदीय तंत्र के समीप पनपने वाले समुदायों का नदी के साथ अन्तर्सम्बन्ध उनकी जीवन पद्धति को निर्धारित करता है। नदी इन विशेष समुदायों को मछली और झींगा जैसे खाद्य पदार्थ, बालू और मोरंग जैसे भवन निर्माण सामग्री, मौसमी फसलें उगाने के लिए उपजाऊ भूमि एवं जल एवं नदी परिवहन के रूप में लोगों को रोजगार उपलब्ध कराती है। अकादमिक विमर्शों में स्पेस या दायरे को अंतर-अनुशासनात्मक विषयों ने अपनी-अपनी समझ से प्रयोग किया है। विभिन्न विद्वानों ने इसकी व्याख्या की है लेकिन मौलिक रूप से स्पेस का प्रयोग भौतिक जगत को समझने में ही किया जाता रहा है। वैसे तो इस अवधारणा की खोज दार्शनिकों ने की लेकिन प्रयोग भूगोल के क्षेत्र में हुआ।[13] यहाँ यह जानना रोचक होगा कि स्पेस का अर्थ पहले ज्यामितीय रूप में प्रयोग किया जाता था जिसका अर्थ 'खाली स्थान' होता है परन्तु इसके साथ ही स्पेस को इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करना अर्थात देखने, राजनीतिक स्पेस आदि अर्थों में भी समझ सकते हैं। बाद में समाजशास्त्रियों ने इसे सामाजिक संरचना से जोड़ कर देखा।

इलाहाबाद में निषादों की जनसंख्या का कोई निश्चित अनुमान नहीं है और न तो किसी सरकारी सर्वे ने यह पता लगाने की कोशिश की गई है। चुनावों के समय कुछ अनुमान प्रस्तुत किए जाते हैं लेकिन उनका कोई प्रामाणिक आधार नहीं होता है। इस समय प्रत्येक समुदाय अपनी संख्या बढ़ा-चढ़ाकर बताता है। निषाद समुदाय की जनसंख्या गंगा नदी और यमुना के आस-पास देखी जा सकती है। भदकार गाँव में अध्ययन के दौरान हमने पाया कि गंगा नदी के किनारे निषादों की ज्यादा संख्या दारागंज, झूँसी, सिरसा, नीवी कला, भदकार, मोहब्बतगंज तथा यमुना के किनारे बसने वाले निषादों की बस्ती महेवा, मीरापुर, अंगई, अरैल, मदौखा, बंसवार और सदियापुर में है। वे अस्थायी नाव-पुल और अन्य निर्माण मजदूरों के रूप में भी काम करते हैं। धीवर मूल रूप से मछुआरे हैं। वे मछली पकड़ने का जाल तैयार करके भी कमाते हैं। सोरहिया मछुआरे हैं। वे पानी की गहराई के आधार पर विभिन्न मौसमों में सिंघाड़ा और चावल पैदा करते हैं। वास्तव में, एक लंबे समय से नदियाँ उनका आश्रय स्थल रही हैं और नदी, उसके पानी, बालू और किनारे ने उनके सामाजिक-आर्थिक जीवन को रूप दिया है। उत्तर वैदिक काल से ही चौथे वर्ण में गिनी जानी वाली विभिन्न जातियाँ

प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर थीं और वे नदियों और वनों की सीमा में, तथा मुख्य भौगोलिक सीमा से दूर निवास करने लगीं।[14] हमने अपने उत्तर भारतीय सामाजिक अनुभवों से जाना है कि गाँवों में निम्न जातियों की बसावट दक्षिण दिशा में पायी जाती है। ब्राह्मणवादी परंपरा में दक्षिण दिशा को अशुभ माना गया। इस तथ्य की पुष्टि डॉ. तुलसीराम (2010) और ओमप्रकाश वाल्मीकि (1997) की आत्मकथाओं से भी की जा सकती है। अत: निम्न समुदायों की भौगोलिक बसावट भी उनके सामाजिक अपवर्जना को दर्शाती है। इस प्रकार निम्न जातियों के जीवन निर्मिति में 'स्थान' महत्त्वपूर्ण हो जाता है। ड्यूमा ने भारत में दलितों के बसावट की इस विशेषता को शुद्धता और प्रदूषण से जोड़कर देखा है।[15] इस परम्परा की जड़ें इतनी गहरी हैं कि नदी जो सबसे ज्यादा पवित्र मानी जाती है, उनके साथ हमेशा रहने वाले निषाद जनों को सोपनीय व्यवस्था में अभी भी अपवित्र माना जाता है जबकि बौधायन धर्म सूत्र में कहा गया है कि शरीर को जल स्वच्छ रखता है[16] लेकिन नदियों की जलराशि उन्हें पवित्र नहीं कर पाती है। अमर्त्य सेन ने अक्षमता, अभाव, सतत बेरोजगारी, निर्धनता के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक बहिष्कार को परिभाषित किया है। सामाजिक बहिष्कार से जुड़े दो मुद्दों–वंचना और गरीबी की विभिन्न घटनाओं की बेहतर समझ को कैसे प्राप्त किया जाये तथा इस समझ को नीतिगत प्रभाव में परिवर्तित करके नीति– निर्माण प्रक्रिया में कैसे सुधार किया जाय, इसको उन्होंने समझाने का प्रयत्न किया है।[17] वास्तव में सामाजिक बहिष्कार राज्य की नकारात्मक भूमिका को प्रदर्शित करता है, चाहे वह संसाधन आवंटन व्यवस्था के रूप में हो या शक्ति सम्बन्धों या सांस्कृतिक तथा सामाजिक एजेंसियों के पहचान के रूप में हो। सामाजिक बहिष्कार को व्यक्तियों के जीवन की व्यक्तिपरक विशेषताओं के रूप में भी माना जा सकता है, उदाहारण के लिए, हीनता की भावना भी किसी व्यक्ति के अंदर उसके भौतिक वस्तुओं की वंचना को प्रदर्शित करती है। सेन बहिष्कार को सक्रिय व निष्क्रिय दो तरह से देखते हैं, जिसमें वे बताते हैं कि सक्रिय बहिष्कार में सरकार जान बूझकर व निष्क्रिय बहिष्कार में कुछ नीतियों के कारण कोई भी समूह अनजाने में हाशिये पर चले जाते हैं। ठीक इसी तरह, राज्य के हस्तक्षेप के कारण निषाद अपने पारम्परिक पेशे से विमुख हो जाते हैं जिसके बारे में आगे बताया गया है। राज्य के पास इन समुदायों के लिए सही नीति

न होने के कारण ऐतिहासिक महत्त्व रखते हुए भी ये समुदाय दिन प्रतिदिन हाशिये की तरफ बढ़ रहे हैं।

समुदाय और नदी की सांस्कृतिक संलग्नता

भारतीय लोकमानस प्राकृतिक स्रोतों को हमेशा पवित्र वस्तुओं के रूप में देखता है और प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण धार्मिक अनुष्ठानों के द्वारा करता रहा है। पौराणिक कथाओं के अनुसार, मनुष्य का अस्तित्त्व ब्रह्मांड में निहित पाँच मूल तत्वों वायु, पृथ्वी, जल, अंतरिक्ष और अग्नि से मिलकर बना है। यदि हम भारतीय तीर्थ स्थलों, पवित्र स्थानों और मंदिरों की भौगोलिक स्थिति का अध्ययन करते हैं, तो प्राय: पहाड़ों, नदियों, जंगलों और पेड़ों के आसपास स्थित होते हैं। आदिवासी समुदाय की प्राकृतिक शक्तियों से डरने, उनकी पूजा करने तथा उन्हें कभी नष्ट न करने को दुर्खीम ने वर्जना और टोटम के रूप में सिद्धान्तीकरण किया है।[18] इसी तरह नदी निषादों के दैनिक जीवन में शामिल है। वे अपना जीवन चलाने के लिए तथा उसके जीवन को बचाने के अनेक उपाय करते हैं। उसकी रक्षा करना तथा उसे अपने तरीके से उपयोग करने को अपना पारम्परिक अधिकार मानते हैं। अत: यह समुदाय अपने अधिकार स्वरूप नदी मे अपना आर्थिक जीवन यापन करते हैं तथा उसको संरक्षित करने की जुगत भी करते हैं। नाविक नाव चलाते समय यात्रियों को खाने-पीने के सामान को नदी में प्रवाहित करने से मना करके अपने नाव में रख लेते हैं और बाहर आकर उसका निस्तारण करते हैं। दिनेश (30) कहते भी हैं कि हमें नदी और उसके पानी की शुद्धता पर पूरा विश्वास है। हम उसमे थूकते हैं तो उसका पानी भी पीते हैं। एक व्यक्ति जो नाव चलने के साथ-साथ नाव में चाय-कॉफ़ी बेचने का काम करता है, जिससे वह अपनी नाव में लिए ज्यादा सैलानियों को बैठने के लिए आकर्षित कर सके और प्लास्टिक की गिलास को नदी में न बहाकर उसे बाहर कचरे के डब्बे में ही फेंकता है। मछुआरे भी दावा करते हैं कि जब वे जाल फेंकते हैं तो बस मछली ही नहीं पकड़ते हैं, जितना प्लास्टिक की बोतलें या पॉलीथीन की थैलियाँ मिलती हैं, उसे भी बाहर करते हैं। इसके अलावा वे वर्तमान सरकार के स्वच्छता अभियान की पहल को सकारत्मक मानते हुए कहते हैं कि हमारा काम उन्होंने आसान कर दिया हालाँकि, अभी बहुत कुछ किया जाना बाकी है। गंगा में नाव चला रहे एक नाविक ने हमें एक गीत सुनाया :

"अरे गंगा के अचरे में कचरा न फेंका, गंगा के हम निर्मल बनउबे, उनके अचरे में दुनियां इ सारा हिन्दुस्तान जाने, सारा संसार जाने" (गंगा के आँचल में कचरा न फेंकिए। हम गंगा को निर्मल बनाएँगे। उनके आँचल में पूरी दुनिया है और यह बात पूरा हिन्दुस्तान जानता है)। वे नाव चलाते समय ऐसे गीत गाते रहते हैं जिससे लोगों को नदी को स्वच्छ रखने के लिए जागरूक किया जा सके।

निषाद महिलाएँ अपने धार्मिक अनुष्ठानों के माध्यम से नदी को पोषित करती हैं जिसका एकमात्र कारण नदी का जीवनदायिनी और जीविकोपार्जन का साधन होना बताया गया है। जब उनके घरों में पहली बार नाव आती है तो उसे नदी दर्शन के लिए ले जाते हैं और नदी के किनारे उसका पूजन करके फिर नदी में उतारते हैं। यह उनके लिए महत्त्वपूर्ण क्षण होता है। सामान्यत: नदी और उससे जुड़ी बातें उनके गीतों से भी स्पष्ट होती है कि नदी कैसे उनके दैनिक जीवन से जुड़ी है। निषाद महिलाएँ बताती है कि "हमारा और नदी का साथ जन्म से लेकर मृत्यु तक का है।" हमारे यहाँ जब भी कोई बच्चा पैदा होता है तो उसे हम नदी दर्शन के लिए ले जाते हैं। वहाँ जाकर बच्चे के शरीर से नदी के पानी को स्पर्श करवाते हैं और कहते हैं कि उसके जीवन की रक्षा अब तुम्हारे हाथ में है कि जब वह उनके शरण में जाय (नाव चलाने) तो उसकी रक्षा करें। अपने हर शुभ कार्य या अच्छे कर्मों के लिए हम नदी को ही उत्तरदायी मानते हैं। और उन्हें धन्यवाद देने के स्वरूप हम हर वर्ष *'निशान'* अर्पित करते हैं निशान देने का अर्थ है कि समुदाय के सभी लोग एक दिन तय करके गाँव में पूजा करते है तथा बाँस का एक लंबा-सा ध्वज प्रतीक स्वरूप लेकर अपने गाँव से निकलते हैं जिसमें महिला-पुरुष सभी भाग लेते हैं। महिलाएँ नदी से सम्बंधित गीत जैसे गंगा गीत गाते हुए तट तक जाती हैं जहाँ वह ध्वज नदी को वस्त्र स्वरूप अर्पित कर देते हैं। इसके अलावा वे गंगा दशहरा भी मनाते हैं। समुदाय के अनुसार राजा भागीरथ के तप से उनके पूर्वजों के मोक्ष देने हेतु जिस दिन गंगा पृथ्वी पर अवतरित हुई थीं, उस ख़ुशी में हम यह त्यौहार मनाते हैं। इस दिन घर के सभी लोग गंगा नदी से जल लाकर अपने अपने घरों में पूजा करते हैं तथा उस जल में अपने घर का जल मिलाकर फिर नदी नदी में डाल देते हैं। इस अनुष्ठान की व्याख्या करते हुए एक महिला ने हमें बताया कि "हमें नदी से जो मिलता है, हम उसे फिर से उसको अर्पण कर देते हैं जिससे भविष्य में वह हमें और दे। अगर हम किसी से उधार ले लेते हैं और उसको नहीं लौटायेंगे

तो क्या फिर वो हमको देगा?'' इस तरह यह महिलाएँ नदी से देने का भाव भी सीखती हैं। महिलाएँ नदी का जल तो खर्च करती हैं लेकिन उसमें जल को बचाए रखने का भाव भी है जिससे आने वाली पीढ़ियों को नदी का पानी उपलब्ध रहे। नदी की पूजा करते समय निषाद महिलाएँ नदी से संबंधित जो गीत गाती हैं, उन्हें धार्मिक आचरण मानकर ज्यादा ध्यान नहीं दिया जाता किन्तु जब इन लोक अनुष्ठानों के दूसरे पक्ष को देखते हैं, तो उनमें नदी संरक्षण की पहल दिखाई देती है। इस तरह की क्रियाओं को अकादमिक विमर्श में पारिस्थितिकी नारीवाद के रूप में परिकल्पित किया गया है। हालाँकि, पर्यावरण संरक्षण में लोक व्यवहारों की भूमिका को मजबूत ढंग से नहीं दर्ज किया गया है। हम नीचे दो नदी गीत प्रस्तुत कर रहे हैं जो निषाद महिलाओं ने हमें सुनाया था :

गंगा जी से मटिया मंगाउबे घर लिपउबे
गंगा मैया के लाल पियर असनी लगाउब और गंगा के बोलाउब

हिन्दू मान्यताओं में शुभ कार्य में सबसे पहले गणेश पूजन किया जाता है लेकिन निषाद समुदाय नदी की पूजा सबसे पहले करता है। समुदाय में जब भी किसी का विवाह होता है तो सबसे पहला निमंत्रण पत्र वे नदी में ले जाकर प्रवाहित करते हैं और नदी को आमंत्रित करते हैं :

''गंगा सोनवा मढ़उबे तोहरा घाट, पूजन हम अउबे हो
गंगा एक मंगन हम माँगब, मंगन हमे देबू मंगन हमई देबू
तोहरा घाट होरिले मंगन मंगेयु, लालन मगन मंगेयु हो हमें मागन देबू हो''

इस गाने में स्त्रियाँ नदी से प्रार्थना करती हैं कि उन्हें पुत्र की प्राप्ति हुई तो वे धन्यवाद स्वरूप उनकी पूजा करेंगी तथा नदी के घाट पर पूजा करने आएँगी और घाट को सोने से मढ़वा देंगी। नदी के वर्तमान स्वरूप पर बात करते हुए वे कहती हैं कि जैसा अब आदमी है, नदी भी वैसी हो गई है। हम जब उसे दुःख देंगे तो वह भी हमें दुःख देगी। एक समय था जब वे हमारे बुलाने पर आयी थीं लेकिन अब तो यह हाल है और वे एक गीत सुनाती हैं: *''नदी-नदी गोहरावे नदी नहीं बोलिहे हो''* अर्थात अब हम नदी-नदी बुलाते हैं लेकिन नदियाँ सूख रहीं हैं। अब वे जीवनदायिनी नहीं रही। अब नहीं बोलती है। *''पानी से जीव पैदा भईल आउर पानीये में मरि जाई''*....यदि हमने अभी भी ध्यान नहीं दिया तो हम जल्दी ही खत्म होने के कगार पर चले जाएँगे क्योंकि अगर पानी हमे जीवन दिया है तो पानी मनुष्य को समाप्त भी कर देगा। किन्तु जब मनुष्य

उसे सुखी नहीं रखेंगे तो नदी आवाज लगाने पर भी नहीं आएगी। इन गीतों को ध्यान से सुनने पर सहज ही पता लगता है कि जब नदी में भरपूर पानी था, मनुष्य का जीवन सुखी था और उससे मनुष्यों के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी। दूसरा गीत यह दिखाता है कि अगर हम आने वाले समय में प्राकृतिक स्रोतों जैसे नदियों और तालाबों को संरक्षित नहीं करेंगे तो जिस जल से मानव सभ्यता की उत्पत्ति हुई है और वही इस सभ्यता के पतन का कारण भी बनेगा। महिलाओं का यह गीत पर्यावरणीय संकट की तरफ भी इशारा करता है।

उदारीकरण के बाद निषादों की आजीविका में हुए बदलाव

आजीविका उन संसाधनों तक पहुँचने का एक तरीका है जिससे मनुष्य अपना अस्तित्व बनाये रखने का प्रयास करता है और इसके माध्यम से वह संघर्ष द्वारा उत्पन्न खतरे को कम करता है। आजीविका में भौतिक और सामाजिक दोनों तरह की क्षमताएं, संसाधन और अनुक्रियाएँ शामिल हैं, जो जीवन के लिए आवश्यक हैं। अतः आजीविका मुख्यतः आर्थिक क्रिया या वह युक्ति है जिससे मनुष्य अपने या अपने परिवार की जरूरतों की पूर्ति करता है। निषादों की आजीविका और उसके पारम्परिक अधिकार पर बात करने से पहले सम्पति के प्रकारों और उसके अधिकार के बारे में जानना आवश्यक है। कमलनयन चौबे ने मैकफर्सन के हवाले से कहा है कि संपत्ति को कभी एक रूप में नहीं देखा जा सकता। उन्होंने व्यक्तिगत, साझा, और राज्य संपत्ति में अंतर करते हुए कहा है कि व्यक्तिगत संपत्ति के उपयोग से दूसरों को वंचित किया जा सकता है जबकि साझा संपत्ति में किसी व्यक्ति को किसी विशेष वस्तु के उपयोग से वंचित नहीं किया जा सकता। राज्य संपत्ति में व्यक्तियों का कोई अधिकार नहीं होता है।[19] आज़ादी के उपरान्त भारतीय संविधान की पाँचवी और छठी अनुसूची[20] में जो समुदाय प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर थे उन्हें अनुसुचित जनजाति के अंतर्गत रख कर उनके अधिकारों की तो बात की गई किन्तु जो गैर–आदिवासी, जो पूर्णतः प्राकृतिक संसाधन पर निर्भर थे, उनके बारे में कुछ स्पष्ट नहीं कहा गया है। भारत के कल्याणकारी राज्यसत्ता ने गैर–अदिवासियों के प्राकृतिक संसाधनों पर समुदायों के अधिकार को न मानकर ऐसे सभी संसाधन जिनपर किसी का निजी स्वामित्व नहीं है, उसे राज्य के अधिकार के अंतर्गत स्वीकार

किया। ऐतिहासिक रूप से निषाद समुदाय आजीविका के लिए नदी पर आश्रित रहे हैं। उनकी स्थिति भारत के औपनिवेशीकरण के पहले तक कमोवेश यही थी किन्तु ब्रिटिश शासन आने पर 1857 के स्वाधीनता संग्राम में अंग्रेज़ों को नदी पार करने में परेशान करने के कारण ब्रिटिश सरकार ने इन्हें अपराधी घोषित करके इन्हें हाशिये पर लाने का काम शुरू कर दिया था। उनकी स्थिति में ज्यादा परिवर्तन तब आया जब अंग्रेज़ी शासन ने जंगल, पहाड़ और नदियों पर से सामुदायिक अधिकार को खत्म करके इन्हें राज्य के अधीन ला दिया।[21] ब्रिटिश सरकार अपनी साम्राज्यवादी नीतियों को बढ़ाने तथा और भारतीय पूँजी व संसाधनो को इंग्लैंड ले जाने के लिए रेलवे निर्माण के लिए ऐसी सभी भूमि (बंजर, वन) जिन पर किसी का निजी स्वामित्व नहीं था, उसे राज्य के अधीन कर दिया। आज़ादी के बाद भारत सरकार ने भी इस नीति को जारी रखा क्योंकि देश के विकास के लिए प्राकृतिक संसाधन आवश्यक हैं और उन पर राज्य के स्वामित्व से ज्यादा से ज्यादा लोगों की आजीविका चल सकती है तथा साथ ही किसी एक व्यक्ति या समुदाय के अकेले इन संसाधनों पर अतिक्रमण के खतरे से बचा जा सकता है। इसलिए नदी पर राज्य के अधिकार के अधीन निषादों की आजीविका नदी से जुड़ी रही क्योंकि निषाद समुदाय नदियों से व्यक्तिगत तौर पर अपने परिवार के लिए रोजी–रोटी का जुगाड़ कर रहे थे। हालाँकि, उदारीकरण के बाद पिछले लगभग तीस सालों में भारत की अर्थव्यवस्था में काफी कुछ बदलाव आए हैं। भारत ने अपनी अर्थव्यवस्था के दरवाजे वैश्विक पूँजी के लिए खोल दिए जिससे उत्पादन के साधन और उत्पादन तकनीक में व्यापक बदलाव आए फलस्वरूप भारत के सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि हुई है। अर्थव्यवस्था के इस रूपांतरण और देश की तरक्की में समाज के निचले पायदान पर स्थित साधनहीन समुदायों को हिस्सेदारी नहीं मिल सकी जबकि इस उदारीकरण के लाभ पहले से ही सुविधा संपन्न कुछ ऊँची जातियों तक सीमित रहे। बीसवीं सदी के अंतिम दशक में अपनाई गई नई आर्थिक नीति के अंतर्गत उदारीकरण के साथ निजीकरण पर भी बल दिया जाने लगा जिसके कारण संपत्ति के स्वामित्व का नया रूप सामने आया और राज्य की संपत्ति को दीर्घ काल के लिए निजी मुनाफे के लिए दिया जाने लगा। विभिन्न परियोजनायों को लोक–निजी भागीदारी के माध्यम से क्रियान्वित किया जाने लगा, इससे कई ऐसी सरकारी संपत्तियाँ जो अब तक राज्य के सीधे नियंत्रण में थी वो अब निजी

हाथों में चली गई जिससे उनपर निर्भर हजारों लोगों को अपनी आजीविका से वंचित होना पड़ा।[22]

यहाँ पर यह बताना समीचीन होगा कि भारत में 1990 के बाद से नगरीकरण तेजी से बढ़ा है। 1991 में जहाँ देश में 218 मिलियन लोग शहरों में रह रहे थे, वहीं 2011 यह संख्या बढ़कर 377.11 मिलियन हो चुकी है। वर्तमान में यह जनसँख्या 460 मिलियन के लगभग अनुमानित की गई है।[23] नगरीकरण के कारण भवन निर्माण उद्योग और अवसंरचनात्मक विकास एवं सन 2000 के बाद देश में आए ''रियल एस्टेट बूम'' को बढ़ावा मिलना शुरू हुआ जिससे बालू की माँग में वृद्धि हुई। परिणामस्वरूप निषादों की आर्थिक स्थिति में सुधार होना शुरू तो हुआ किन्तु इसमें मुनाफे कमाने को लालायित प्रभावशाली ऊँची जातियों के आने से इनके परम्परागत एकाधिकार को धक्का लगा और ये केवल दिहाड़ी मजदूर बन कर रह गये। इसके साथ ही उदारीकरण के साथ आयी आधुनिक तकनीक जैसे जेसीबी मशीन और डम्पर ने मानव के आर्थिक जीवन में दखल देना आरंभ किया। तकनीक ने जहाँ मानव जीवन को आरामदायक, सुविधासंपन्न तथा लागत को किफायती बनाया है वहीं इसके दुष्परिणाम उन समुदाय विशेष पर देखे गये जिनके पेशे श्रम आधारित उत्पादन प्रणाली से जुड़े थे।[24]

रामकुमार निषाद[25] ने हमें बताया कि ''वर्तमान समय में बालू निकलना बहुत मुश्किल हो गया है क्योंकि हम गरीब हैं और हमारी ऊपर तक पहुँच नहीं हैं जिससे हम बालू खनन और बेचने के काम से दूर होते जा रहे हैं वैसे तो पट्टा हमारे नाम से जारी होता है और बालू निकालने का अधिकार हमारा है लेकिन दूसरी तरफ उच्च वर्ग और जाति यादव समुदाय के कुछ सबंग लोग एवं माफिया किस्म के लोग हमारे व्यवसाय पर अधिकार करके हमें सिर्फ़ मजदूर बना दिए हैं जहाँ हम बालू लादने और उतारने का काम करते हैं। जो काम हम हाथ से करते हैं, वह काम मशीन बहुत ही कम समय में कर देती है। एक निषाद एक बार में नाव के माप से 8 फीट भर ही बालू निकाल सकते हैं लेकिन जेसीबी होने से थोड़े समय में बालू निकल आता है जो अपेक्षाकृत सस्ते लागत का होता है जिससे हमारे श्रम का सही मूल्य नहीं मिल पाता है।'' वास्तव में औद्योगिक क्रांति और मशीनीकरण ने मानव श्रम को पश्चिम में बहुत पहले स्थानापन्न करना

आरम्भ कर दिया था जिससे श्रमिकों की आजीविका पर बुरा प्रभाव पड़ा।[26] इसे भारत में बिल्कुल शुरुआत से ही देखा गया जब मशीनीकरण आरम्भ हुआ। बालू निकालने के लिए आवश्यक अन्य मशीनरी और पूँजी का अभाव निषाद समुदाय को इस दायरे से बाहर कर देता है, इसी के साथ उच्च जातियों और वर्गों के लोग इस व्यवसाय में बहुत आसानी से प्रवेश करने में सफल हो जाते हैं। निषाद समुदाय के लोग अपनी निर्धनता एवं प्रशासनिक मशीनरी में नगण्य भागीदारी से उत्पन्न ''लिंकेज डेफिसिट''[27] के शिकार होकर रोजगार के अवसरों से बाहर हो जाते हैं। ऐसा माना जाता रहा है कि उदारीकरण ने आमजनों के लिए रोजगार के दरवाजे खोले हैं लेकिन यह समुदाय अन्य पिछड़ी जातियों की तरह उदारीकरण के लाभों से प्राय: वंचित रहा है और वर्तमान में गरीबी, अपवंचना, अशिक्षा जैसे अधिकारों के लिए जूझ रहा है। प्रधानपति गोरेलाल निषाद (45) का कहना था कि ''हमारे लोग शिक्षा पर ध्यान नहीं देना चाहते। हमने कितनी बार कोशिश कि चंदा इकठ्ठा कर बच्चों की पढ़ाई की व्यवस्था की जाये पर कोई पैसा नहीं खर्च करना चाहता और दूसरी बात यह भी है जिनके पास रोजगार का मजबूत साधन नहीं है और उन्हें रोज कमाना और रोज खाना है तो वे भला कैसे अपने बच्चों को पढ़ाई की तरफ भेजेंगे।''

इसी के साथ,वर्तमान समय में निषाद समुदाय की भूमिका नदी से स्थानांतरित हो रही है। वे नदी में नाव चलाने का काम, मछली पकड़ने का काम, नदी से बालू निकालने का काम, तथा इसके अलावा कभी-कभी सोना ढूँढ़ना, निजी गोताखोर के रूप में कार्यरत तो हैं लेकिन इनका दायरा सीमित होता जा रहा है। कुछ साधन संपन्न निषाद घरों के लोग सेना और शिक्षण जैसे सरकारी नौकरी में गये हैं लेकिन उनकी संख्या बहुत कम है और इसके साथ इस समुदाय में शिक्षा की दर बहुत कम है और ज्यादातर लोग प्राथमिक शिक्षा या हाई स्कूल के बाद पढ़ाई छोड़कर परिवार चलाने के काम में जुट जाते हैं। वे नदी के किनारे आवंटित भूमि में सब्जी उगाने का काम करते हैं तथा उसे बाज़ार में बेचते हैं। गंगा नदी के अपेक्षा यमुना किनारे जो लोग सब्जी की खेती करते हैं वे ज्यादा मुनाफ़ा कमाते हैं। इसके कारण वे बताते हैं कि वहाँ संगम की अपेक्षा रोक टोक कम है।[28] पुरुषों के साथ औरतें भी इस कार्य में संलग्न हैं। परन्तु ज्यादातर औरतें मुख्यत: घर के कामों में ही संलग्न हैं। कुछ औरतें ऐसी भी हैं जो गरीबी के कारण गारा-मिट्टी का काम, फसल काटने तथा सब्जी बेचने का काम करती

हैं। सब्जी उगाने का काम अस्थायी होता है जो साल के 2 से 3 महीने नदी और यमुना के कछार में की जाती है परन्तु बरसात आते ही यह काम बंद हो जाता है। संगम क्षेत्र के पास रहने वाली महिलाएँ बताती हैं कि मछली पकड़ने का काम प्रतिबंधित होने से आजीविका और खाद्य पदार्थ दोनों से उन्हें वंचित होना पड़ा और जबकि वे स्वयं को कश्यप के अवतार होने के कारण मछली पकड़ने और खाने को अपना धर्म मानते हैं और ऐसा विश्वास है उनका कि यदि वे मछली को नहीं खाते तो उसे दूसरी योनि में जन्म नहीं मिलेगा और वो अभिशप्त रहेंगे।[29] वे यह भी बताती हैं कि 'म' से मल्लाह, 'म' से मछली अर्थात् हम एक ही हैं। वे दो-चार पैसे और जोड़ने के लिए नदी के किनारे फूल, पूजा सामग्री आदि बेचने का भी काम करती हैं।[30]

रोजगार की अनिश्चितताओं के कारण निषाद अपने पारंपरिक व्यवसाय से दूर जाना चाह रहे है। उनका कहना है कि काम बहुत होता है और पारिश्रमिक बहुत कम मिलता है और मशीनों के आ जाने से भी हमारी जरूरत नहीं रही। यदि बालू निकालने का फैसला हमारे हक़ में आ भी गया तो अवैधानिक तरीके से माफियाओं का ही इस पर कब्ज़ा रहेगा। विनोद (35) बताते हैं कि वर्तमान समय में गुंडा टैक्स[31] के कारण नाविकों की आमदनी पहले से कम होती जा रही है क्योंकि कुछ दबंग और माफिया किस्म के लोग नाविकों से नदी में नाव चलाने का कर वसूलते हैं। हर चक्कर का उन्हें 100 रूपए देना होता है। ''मेहनत हमारी और, बदन हमारा टूटे पर हमारी छाती पर महल ये दबंग लोग बनाते हैं और हमें एक जून की रोटी के लिए भी मोहताज़ होना पड़ता है।''[32] दुखई (45), ''जब हमारे नाम पर ये पट्टा करवा सकते हैं तो ये कुछ भी कर सकते हैं। बेहतर यही होगा कि किसी दूसरे कामों पर भी ध्यान लगाया जाय और आने वाली पीढ़ियाँ इन्ही परेशानियों को देखते हुए इस काम से दूर भाग रही है कोई संघर्ष नहीं करना चाहता''। इस समुदाय के अधिकतर लोग पारंपरिक व्यवसाय से हटकर दिहाड़ी मजदूर, पुताई, ईंट भट्टे में बेलदारी का काम, दूसरों के खेतों में फसल काटने, निजी किराना स्टोर चलाने जैसे कामों में लगे हैं।[33] इसके अलावा निषाद समुदाय के लोग नदी से जुड़े रोजगार न मिल पाने के कारण चाय-चाट की दुकान, अंडे बेचने का काम, मोमोज बेचने और मौसमी कार्यों से जुड़ रहे हैं।[34]

निष्कर्षत: निषाद समुदाय अपनी अस्मिता निर्मित्ति के लिए रोज नए ऐतिहासिक

तथ्यों की खोज कर रहा है जिससे अपने समुदाय का राजनीतिक प्रतिनिधित्व बना कर अपनी बातें और जरूरतें सरकारों तक पहुँचा सकें और सामाजिक संरचनाओं में अपनी स्थिति सुदृढ़ कर सके। उनकी ज्यादातर जनसंख्या अशिक्षा, रोजगार के संकट से जूझ रही है। प्राकृतिक संसाधन निषादों के जीवन के मूल्य थे, उसके अपर्याप्त वितरण व राज्य के हस्तक्षेप के कारण वे पारंपरिक अधिकारों से विमुख होने के साथ साथ अन्य रोजगार की तरफ जा रहे हैं। वे यह दावा कर रहे हैं कि सरकार को नदी के रख-रखाव और उससे जुड़े सभी कार्य, मछली पकड़ने, बालू खनन, जल पुलिस भर्ती, नाव चलाने का अधिकार, नदी को स्वच्छ रखने जैसे सरकारी नीतियों में उनकी पूर्णतः भागीदारी होनी चाहिए। सरकार ने जो कौशल विकास योजना की नीति बनायीं है उसमे उन्हें पारम्परिक व्यवसाय को प्रोत्साहित करते हुए इस समुदाय के लोगों को जल इंस्पेक्टर, गोताखोर, नदी सफाईकर्मी के रूप में भर्ती करने के लिए प्राथमिकता देनी चाहिए। निषाद महिलाओं के दैनिक जीवन से यह दृष्टिगत होता है कि वे लोक परम्पराओं को अपनाते हुए नदी को संरक्षित करने में भूमिका अदा करती हैं जिसे वे आचरण गीतों माध्यम से विभिन्न अनुष्ठानों में गाती और जागरूक करती हैं। यह सर्वविदित है कि जब किसी समुदाय का जीवन प्राकृतिक संसाधन से जुड़ा होता है तो उसके पास उस संसाधन को संरक्षित करने का कौशल और दृढ़ शक्ति भी होती है। जैसे आदिवासी समुदायों को पता होता है कि किस पौधे की क्या उपयोगिता है या वे दुबारा न उगने वाले पेड़ पौधे को वे नष्ट नहीं करते हैं। इसी तरह निषाद समुदाय को नदी के बारे में ज्यादा पता होता। यदि नदियों के संरक्षण का अधिकार उन्हें दे दिया जाय तो समुदाय नदी को संरक्षित कर और स्वयं को सुरक्षित महसूस करेगा और नदियों से सम्बन्धित देशज ज्ञान को प्रोत्साहन भी मिलेगा।

सन्दर्भ :

1. के. एस. सिंह (1998), पृष्ठ 1451.
2. कुबेरनाथ राय (1982).
3. के. एस. सिंह (1998).
4. के.एस. सिंह (2005).
5. स्मिता तिवारी-जस्सल (2001), पृष्ठ 319-354.
6. उत्तर प्रदेश जिला गजेटियर (1986), पृष्ठ 95.
7. इरविन गोफमैन (1959).

8. स्मिता तिवारी–जस्सल (2001), पृष्ठ 319–354.
9. बद्री नारायण व अन्य (2006),पृष्ठ 9.
10. फ़ील्ड डायरी, जून 2019.
11. फ़ील्ड डायरी, जुलाई 2019.
12. फ़ील्ड डायरी,जून 2019.
13. डेविड हार्वे (2001).
14. रमाशंकर सिंह (2016), पृष्ठ 64.
15. लुई ड्यूमा (1965).
16. रमाशंकर सिंह (2016).
17. अमर्त्य सेन (2000).
18. दुर्खीम (1995).
19. कमल नयन चौबे (2015),जंगल की हकदारी: राजनीति और संघर्ष, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.
20. देखें अनुसूची V एवं VI, भारत का संविधान.
21. चन्दन कुमार शर्माऔरभाश्वती बौर्गोइन (2019).
22. रॉब जेन्किन्स (1999).
23. www.worldometers.info/world-population/india-population/
24. रमाशंकर सिंह (2016).
25. पहचान को गोपनीय रखने के लिए उत्तरदाताओं के नाम परवर्तित कर दिए गये हैं. इसी के साथ यह भी देखिए http://elegali&.allahabadhighcourt.in/elegalix/WebShowJudgement.do
26. एरिक हॉब्सबाम (1999), पृष्ठ 6–22.
27. लिंकेज डेफिसिट का अर्थ यहाँ समुदाय की प्रशासन में अन्दर तक पहुँच से है जिससे सरकारी कामकाज में उन्हें लाभ मिल सकता है.
28. कामरत्ती देवी, फ़ील्ड डायरी, मई–जून, 2019.
29. भूमि निषाद की बातों पर आधारित.
30. सुशीला की बात, मलाही बस्ती, फ़ील्ड डायरी, अप्रैल, 2019.
31. दबंग किस्म के लोग जो अपना अधिपत्य जमाने के लिए नाविकों से अवैध तरीकों से कर वसूलते हैं.
32. सुरेन्द्र ''द बोट मैन'' द्वारा कही गई बातें. यहाँ बोट मैन शब्द का प्रयोग उन्ही नाविकों द्वारा किया गया है वो स्वयं को इसी नाम से से संबोधित करते हैं.
33. भदकार गाँव के सन्दर्भ में, फ़ील्ड डायरी, जून 2019.
34. यमुनापार मलाही बस्ती के सन्दर्भ में, जो नगरीय परिदृश्य से प्रभावित है और लोग मलिन बस्ती में निवास करते हैं.

उत्तर बिहार की नदियाँ और मल्लाहों का जीवन

पुष्यमित्र

मैं जब भी किसी साहसी इंसान की परिकल्पना करता हूँ तो मेरे जेहन में कोई घुड़सवार नहीं बल्कि नाविक नजर आते हैं। मैं उस पहले नाविक की कल्पना करके हैरत में पड़ जाता हूँ जिसने पहली बार अथाह समुद्र में अपनी नौका उतारी होगी और चल पड़े होंगे दुनिया की तलाश में। इससे बड़े साहस का कोई काम मुझे नहीं लगता। इन्हीं नाविकों ने धरती के हर कोने को एक दूसरे से जोड़ा। अगर भारत में धम्म विजय के लिए सम्राट अशोक का नाम लिया जाता है तो उसके पीछे उन नाविकों की हिम्मत और मेहनत है, जो आज से इक्कीस सौ साल पहले अपनी नाव लेकर श्रीलंका, कोरिया, इंडोनेशिया, कंबोडिया और जापान जैसे मुल्कों की तरफ निकल पड़े थे बौद्ध धर्म का प्रचार प्रसार करने। उन नाविकों की वजह से ही इस इलाके में भारतीय संस्कृति हर जगह नजर आती है।

फिर मुझे वे नाविक याद आते हैं, जिन्होंने यूरोप को भारतीय मसालों का स्वाद चखाया। और प्राचीन भारत, खास तौर पर दक्षिण का बोलबाला हर जगह कायम किया। इनके साहस की क्या मिसाल दी जाये। इन्हीं नाविकों ने मध्यकाल के बाद यूरोप खास कर इंग्लैंड, पुर्तगाल, फ्रांस आदि मुल्कों को पूरी दुनिया में फैल जाने में मदद दी और इंग्लैंड जैसा छोटा सा मुल्क दुनिया का सिरमौर बना। कोलबंस और वास्को डिमागा जैसे नाविक इन देशों के लिए नायक सरीखे हैं। मगर अफसोस अपने देश में हमारी स्मृति में कोई भी नाविक नायक की तरह नहीं बसा है। ले–देकर हम रामायण के पात्र निषादराज केवट का ज़िक्र करते हैं, जो नायक राम का भक्त था। उसकी छवि काफी कमजोर है। वास्को

डिगामा या कोलंबस जैसी नहीं है। यह अलग बात है, तब निषाद कम से कम राजा था, आज तो वह निर्धनतम समुदाय में बदल चुका है। मेरे इस आलेख में इस साहसी जाति के उत्तर बिहार के इलाके में निर्धनतम समुदाय में बदल जाने के सवाल को ही सामने रखने की कोशिश की गई है।

उत्तर बिहार नदियों का इलाका है। हिमालय से बड़ी संख्या में छोटी-बड़ी नदियाँ नेपाल के रास्ते बिहार में प्रवेश करती है और फिर इनमें से अधिकतर गंगा नदी में मिल जाती है। इन्हीं नदियों द्वारा लायी गई मिट्टी और पानी से यह पूरा इलाका विकसित हुआ है। बिहार की नदियों पर शोध करने वाले लेखक हवलदार त्रिपाठी सहृदय की पुस्तक बिहार की नदियाँ के मुताबिक उत्तर बिहार में कोसी, गंडक, कमला, बागमती समेत आठ बड़ी नदियों के साथ-साथ 80 सहायक नदियाँ बहती हैं। इसके अलावा इस इलाके में झील और चौर भी हमेशा से बहुतायत में रहे हैं। 1950 के दशक तक हर गाँव का छह से दस फीसदी हिस्सा चौरों का हुआ करता था। जल संपदा से भरपूर इस क्षेत्र में जल से जुड़े पेशे को अपनाने वाली निषाद जाति की संख्या भी प्रभावी स्थिति में है। ये नाव चलाते हैं, मछलियाँ पकड़ते हैं, और ऐसी ही कई गतिविधियों से जुड़े हैं। प्राचीन काल में इस इलाके में निषाद जाति का काफी प्रभाव था, क्योंकि उस वक़्त जल मार्ग पर इनका कब्जा हुआ करता था। ये व्यापारिक गतिविधियों से भी जुड़े थे। मगर हाल के दिनों में नदियों के साथ हुए छेड़छाड़ की वजह से इस जाति की आजीविका छिनती जा रही है। इन पर गरीबी का असर दिखता है और ये अपने पारंपरिक पेशे को छोड़कर खेती और निर्माण कार्य से जुड़ते जा रहे हैं।

बिहार के समस्तीपुर में रहने वाले डॉ कुमार श्री एक आलेख में लिखते हैं, 'उत्तर बिहार में मल्लाह आज अनेक उपजातियों में विभक्त हैं। ये हैं- बीन, बांतर, बनपर, सोरहिया, तियर, नोनफर, गोंढ़, खुनौट, पछिमा, चाभ, केबोट, काल्ह, कठौतिया, जेठौतिया, खरकट आदि। बीन और बांतर एक पृथक उपजाति है, जो बाँस के बर्तन आदि बनाकर अपना गुजारा करते हैं। नोनफर जाति के लोग नमक बनाया करते थे। ये नोनिया भी कहलाते थे।' इससे पता चलता है कि निषाद जाति का मुख्य पेशा जरूर जल से जुड़ा है, मगर वे समय के साथ अन्य रोजगारों की तरफ भी आकर्षित हुए और वहाँ अलग पहचान बनायी। मगर मूलतः उनका प्रवास नदियों के किनारे रहा और नदियों, झीलों और चौरों

के संपर्क में रहकर उन्होंने ठीक-ठाक समृद्धि, साहस और शारिरिक बल हासिल किया। उसी आलेख में कुमारश्री लिखते हैं, 'मलाह अरबी शब्द है, जिसका अर्थ होता है खेने वाला अर्थात नाविक। यह एक व्यावसायिक जाति है। इस शब्द के प्रचलन से पूर्व यह जाति धीवर, कैवर्त और निषाद कही जाती थी। मिथिला में धिम्मर नामक एक पृथक व्यवसायिक जाति है, जो जल व्यवसायी के रूप में खाद्य पदार्थों का व्यापार किया करती थी।'

इन विवरणों से गुजरते हुए अगर हम उत्तर बिहार में आज के वक़्त रहने वाली निषाद जाति के लोगों को देखें तो आश्चर्य होता है। वे अमूमन गरीबी और अशिक्षा से घिरे हैं। कभी नदियों की लहरों की सवारी करने और मछलियों को आहार बनाने वाली इस जाति के लोगों ने जो साहस और शरीर सौष्ठव हासिल किया था, वह भी अब नजर नहीं आता। इस जाति के बच्चों में कुपोषण की दर काफी है। यह देख कर सहज विश्वास नहीं होता कि कभी इस जाति में दुलरा दयाल जैसे नायक और बहुरा गोढ़िन जैसी नायिका हुआ करती थी। हालाँकि, दुलरा दयाल और बहुरा गोढ़िन कोई असली किरदार नहीं हैं, ये लोककथा के पात्र हैं। मगर छठी शताब्दी के दौर की इस लोक कथा से गुजरने के बाद निषाद जाति के साहस और उसकी समृद्धि का असली पता चलता है। इस कथा के मुताबिक दुलरा दयाल जिसका एक नाम नटुआ दयाल है, को मिथिलांचल से होकर बहने वाली कमला नदी का उपासक और मानस पुत्र माना जाता है। कहा जाता है कि जिस तरह भागीरथ ने गंगा को धरती पर लाया, उसी तरह कमला को धरती पर लाने का श्रेय नटुआ दयाल को जाता है। वह कमला नदी पर अपनी नाव लेकर व्यापार के लिए दूर देश जाया करता था। वर्तमान बेगुसराय जिले के बखरी प्रखंड में रहने वाली बहुरा गोढ़िन जो रिश्ते में उसकी सास भी हुआ करती थी, दुलरा दयाल की समृद्धि से बहुरा गोढ़िन के दबदबे में फर्क पड़ने लगा था, जिस वजह से दोनों के बीच तंत्र युद्ध हुआ, जिसमें बाद में दुलरा दयाल विजयी हुई।

दुलरा दयाल की लोककथा का यही प्रसंग है। मगर इस कथा से गुजरने के बाद उस वक़्त की मल्लाह जाति की हैसियत का अंदाजा लगता है और आज के मल्लाहों को देखकर उस गिरावट को समझना आसान होता है जो पिछले कुछ दशकों की पर्यावरण सम्बन्धी गड़बड़ियों की वजह से इस जाति के जीवन में आया। इस बात में मुझे कोई संशय नहीं लगता कि उत्तर बिहार

की निषाद संस्कृति के ऐतिहासिक संदर्भों को समझने के लिए दुलरा दयाल की कथा सबसे उचित माध्यम है। यह कथा मुझे इस इलाके में रहने वाले निषाद जाति का स्वर्णकाल लगती है। मैथिली लेखक ब्रजकिशोर वर्मा मणिपद्म लिखते हैं–

> ''दुलरा दयाल का रचनाकाल छठी–सातवीं सदी का है। उस समय तक जलमार्ग का उपयोग काफी बढ़ गया था। देश–देशांतर की यात्राएं, विजय अभियान और वाणिज्य व्यापार की स्मृतियाँ पहली सदी से बारहवीं सदी तक के पुरावशेषों–जलपोत, अश्वारोही सैनिक, राजा और सैन्यकर्मी, जल लक्ष्मी आदि में उपलब्ध है।''

इस गाथा में जलजीवी, जल व्यापार, जलमार्ग, घाट–वाट, जल शासन, सुरक्षा प्रबंध, तुला लक्ष्मी, तलवारों की विद्युत छटा और पाल पतवारों का अभियान सम्मोहक रूप में वर्णित है। कोलरिज के राइम ऑफ द एन्सिएंट मैरिनर से यह तुलनीय है।

नाविक प्रधान सार्थवाहक को नौकाचालन, असिचालन, चिकित्सा, ज्योतिष, सामुद्रिक दिशा ज्ञान, ऋतु ज्ञान, जलदस्यु, नदी–द्वीप, जल जीव–जंतु से रक्षा, संगीत–नृत्य, पूजा अनुष्ठान, रत्न आदि का ज्ञान आवश्यक माना जाता है। सार्थवाह गोहिल मल्ल (तीयर) ने अजोध ग्राह के चंगुल से राज हाथी को बचाया था। सार्थवाह प्रधान दुलरा दिशाकाक के द्वारा चारो दिशाओं पर सतर्क दृष्टि रखता था। एक बार रोसड़ा के नौकाश्रय पर राजा कंदर्प देव ने कमलाभक्त दयाल को छल से बंदी बना कर उसे मार डालना चाहा था, मगर उसका हाथ उठा ही रह गया। राजा का नाभिकुंड सूख गया। अंत में वह नटुआ दयाल के चरणों में गिर गया। कमला नटुआ दयाल पर सहाय थी। राजा ने कमला की पूजा की और आदर के साथ उन्हें विदा किया।''

''दुलरा दयाल की श्यामलवर्णी काया, पीली धोती, लाल गमछा, घुंघराले बाल, कलाइयों में सोने के कड़े, कानों में कुंडल। इनके चारित्रिक विकास में भक्ति, योग और अभियान का मिश्रण हुआ है। माँ कमला की खोज में एक ओर हिमगिरी का अभियान तो दूसरी ओर कमला की कृपा से व्यापारिक बेड़ा लेकर स्वर्णदीप–यवद्वीप की ओर सागर अभियान। अन्य पुरुष पात्रों में गाहर मल्ल, गोहिल मल्ल और विजय मल्ल श्रेष्ठ किस्म के सार्थवाह हैं। गाहर मल्ल और गोहिल मल्ल नदी और सागर में जलपोतों का बेड़ा लेकर चलते हैं। दोनों

महा तीयर हैं, जबकि विजय मल्ल राजा और व्यापारी हैं। गांगेय महान गंगा भक्त हैं, और कोयल वीर तथा रन्नूवीर दोनों दुर्धर्ष श्रमिक तथा कमला भक्त हैं।'' ये वर्णन निश्चित तौर पर उत्तर बिहार की निषाद जाति की समृद्धि की गाथा कहते हैं। हालाँकि सच यह भी है कि वह वक़्त भारतीय नाविकों की श्रेष्ठता का वक़्त था। पहले मगध के नाविकों ने एशिया के अलग-अलग देशों में जाकर बौद्ध धर्म के प्रचार प्रसार में मदद की, फिर दक्षिण भारत के नाविकों ने चोल और दूसरे राजवंशों की ताकत को मजबूत किया। दक्षिण भारतीय नाविकों ने वाणिज्य और व्यापार में भारत का झंडा बुलंद किया। ऐसे में उत्तर बिहार के मल्लाहों का भी इस परंपरा का अनुशरण करते हुए देश विदेश में व्यापार करने जाना कोई हैरत की बात नहीं थी। मगर यह चिंता की बात जरूर है कि कभी वणिक समुदाय का हिस्सा रहे उत्तर बिहार के निषाद आखिर बीसवीं सदी आते-आते मजदूर बनकर क्यों रह गये।

सवाल यह भी है कि भारतीय नाविक जो प्राचीन कला में दुनिया भर में छाए हुए थे, वे क्यों सोलहवीं सदी आते-आते दुनिया के नक्शे से गायब हो गये। और उनकी जगह यूरोप के नाविकों ने ले ली, जिनके साहस और हिम्मत की वजह से यूरोप बीसवीं सदी तक दुनिया का सिरमौर बना रहा। खास कर पुर्तगाल, इंगलैंड और फ्रांस के नाविक जिनकी वजह से इन छोटे-छोटे देशों ने लगभग पूरी दुनिया को अपना उपनिवेश बना लिया। कहीं उसकी वजह यह तो नहीं कि एक वक़्त के बाद हमने अपने देश के इन साहसी नाविकों को उनकी उपलब्धियों के हिसाब से सम्मानित करना कम कर दिया? कहीं इसके पीछे भारत की भाग्यवादी दार्शनिक परंपरा तो नहीं थी, जिसकी वजह से कर्म को उपेक्षा मिलने लगी? कहीं यह भारत की जाति प्रथा का असर तो नहीं, जिसने निषादों को महत्त्वहीन बनाकर रखा और धीरे-धीरे उस साहसिक पेशे के प्रति लोगों का आकर्षण कम होता चला गया।

यह बात इसलिए भी दिमाग में आती है, क्योंकि यूरोप अपने नाविकों कोलंबस, वास्को डिमागा आदि को नायकों जैसा सम्मान देता है, मगर हमारे पूरे इतिहास में किसी साहसी नाविक का नाम सुनने को नहीं मिलता। कोई ऐसा नाविक जो दक्षिण भारत से मसाले लेकर यूरोप जाता हो, या जो बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए कोरिया या जापान गया हो। दुलरा दयाल जैसे नाविक भी लोक कथाओं में अपनी ही जाति के बीच जिंदा हैं। इन्हें शास्त्रों में जगह नहीं मिली।

जैसे कमला का उपासक दुलरा दयाल मिथिला के इलाके में लोक स्मृतियों में जिंदा हैं, उसी तरह कोसी के इलाके में रन्नू सरदार नामक नायक लोक कथाओं में जिंदा है। वह कोसी का उपासक नहीं, बल्कि उसका प्रेमी माना जाता है। कहते हैं कि वह कुदाल से रास्ता बनाता जाता था और कोसी उसके पीछे उमड़ी चली आती थी। कोसी नदी की छवि एक पारंपरिक भारतीय स्त्री की नहीं बल्कि एक बागी औरत की है और उसका प्रेमी रन्नू सरदार भी संभवत: निषाद जाति का ही प्रतिनिधि है। यह अलग बात है कि शास्त्रों में कोसी नदी की उत्पत्ति के पीछे महर्षि विश्वामित्र का हाथ बताया जाता है। वह विश्वामित्र की बहन मानी जाती है। हालाँकि, बीसवीं सदी के मध्य में मल्लाहों के जीवन पर मायानंद मिश्र द्वारा एक बेहतरीन उपन्यास लिखा गया, माटी के लोग, सोने की नैया।[1] कोसी के तट पर रहने वाले मल्लाहों के जीवन रचित यह बेहतरीन उपन्यास है। मगर इस उपन्यास से गुजरने के बाद समझ में आता है कि बीसवीं सदी आते-आते इन मल्लाहों का जीवन कैसा हो गया। इनके जीवन पर गरीबी और बदहाली के निशान साफ नजर आने लगे थे। हालाँकि उनका शरीर सौष्ठव तब भी बरकरार था। नदी के लहरों का मुकाबला करने का उनका हौसला जीवित था।

यह तब खत्म होने लगा जब मानवीय हस्तक्षेप की वजह से उत्तर बिहार के इलाकों की नदियाँ, चौर, धार, झील, तालाब मिटने लगे। इसने इनकी आजीविका पर असर डाला। यह बदलाव गजब का था। अगर आँकड़ों में समझें तो आज़ादी के दौर तक बिहार में दो लाख से अधिक तालाब थे, जो अब बमुश्किल 98 हजार रह गये हैं। एक वक़्त में नेपाल से उत्तर प्रदेश और बिहार के इलाके में पांच से छह हजार धाराएँ प्रवेश करती थीं। इनमें बिहार के इलाके में इनकी बड़ी संख्या थी। अब ये दो सौ भी नहीं हैं, ये भी लगातार सूख रहे हैं। चौर यानी वेटलैंड बिहार की खास पहचान हुआ करते थे, 1954 तक हर गाँव में छह से दस फीसदी जमीन चौर की हुआ करती थी, जहाँ स्थायी जलजमाव होता था, मगर पिछली सदी के आठवें-नौवें दशक के दौरान सरकार ने बकायदा चौर सुखाओ अभियान चलाया ताकि उस अतिरिक्त जमीन पर खेती की जा सके। बिहार की दो बड़ी झील काबर और कुशेश्वर स्थान लगातार सूख रहा है और अब मूल आकार का एक तिहाई रह गया है। सरकार इन संरक्षित झीलों का आकार घटाने का प्रस्ताव भेज रही है। मगर इस वजह से हजारों मल्लाह बेरोजगार

हो रहे हैं, इसके बारे में कोई सोच नहीं रहा। छोटी नदियाँ तो लगातार सूख रही है और खेतों में बदल रही है।

इनकी आजीविका को खत्म करने के पीछे राज्य की तटबंध पालिसी भी है। बाढ़ नियंत्रण के नाम पर राज्य की तेरह बड़ी नदियों पर 3700 किमी से अधिक तटबंध बन गये हैं। इन तटबंधों की वजह से अब मल्लाह मछली पकड़ने के लिए इन नदियों में प्रवेश नहीं कर पाते हैं। 2015 के बिहार विधान सभा चुनाव के दौरान मैं मुजफ्फरपुर जिले के गायघाट इलाके के गाँव धनौर में गया। यहाँ मल्लाहों की बड़ी बस्ती थी। मैंने देखा कि वहाँ उनके जाल फेंके हुए थे। वे कहीं बिस्तर का काम कर रहे थे तो कहीं किचेन गार्डेन की घेराबंदी के काम आ रहे थे। महज कुछ साल पहले तक मछली पकड़ने के धंधे से जुड़े वहाँ के मल्लाह अब खेतिहर या निर्माण मजदूर बनने के लिए मजबूर थे।

लोगों ने बताया कि यह सब कुछ वर्ष पहले उस इलाके में बागमती पर बने तटबंध की वजह से हुआ। तटबंधों की वजह से एक तो उन पर नदी में उतरने पर रोक लग गई, वहीं बाढ़ का पानी उनके गाँव में आना बंद हो गया, जिससे गाँव के सभी तालाब सूख गये। अब वे कहाँ मछली पकड़ते। मल्लाहों के लिए मछली पकड़ने का व्यवसाय उनकी आत्मनिर्भरता की वजह तो है ही क्योंकि यह काम करते हुए वे किसी की मर्जी का गुलाम नहीं होते, अपनी मर्जी से मछलियाँ पकड़ते और अपनी कीमत पर बाजार में बेचते हैं। सबसे बड़ा लाभ उन्हें यह होता है कि उनके घरों में पौष्टिक भोजन की कमी नहीं होती, जो आम तौर पर दूसरे दलित समुदायों के घर में साफ दिखती है। अब जबकि उनके जीवन में पेशेगत बदलाव आ रहा है तो उनकी आय कम हो रही है, वे दूसरों की मर्जी का गुलाम हो रहे हैं, वहीं उनके घरों में अब ढंग का खाना मिलना बंद हो गया है। खास कर मछलियाँ जो पौष्टिकता से परिपूर्ण होती हैं। यही वजह है कि उनके बच्चों में भी अब कुपोषण खूब नजर आने लगा है। निषाद जाति के बच्चों के बीच बढ़ता कुपोषण और चमकी बुखार में उनके बच्चों का लगातार पीड़ित होना चिंताजनक है। क्योंकि महज तीन चार दशक पहले तक निषाद जाति के लोगों का शरीर सौष्ठव दर्शनीय हुआ करता था। न सिर्फ़ पुरुषों बल्कि स्त्रियों का भी। मायानंद मिश्र के उपन्यास 'माटी के लोग, सोने की नैया' और राजकमल चौधरी की कथा मलाह टोली में इस बात का ज़िक्र खूब हुआ है। मगर अब इस समुदाय के लोग भी कमजोर हुआ कर रहे हैं, बच्चे कुपोषित।

ऐसा माना जा सकता है कि इसकी वजह इन जातियों के खान पान में हाल के वर्षों में आया बदलाव है।

जब निषाद जातियाँ जल से जुड़े व्यवसाय में संलग्न थीं, उस वक़्त उनके घरों में मछली, घोघा, केकड़ा आदि माँसाहारी भोजन नियमित पकता था। गरीबी के बावजूद यह भोजन उन्हें प्रकृति से मुफ्त मिल जाता था। मगर जब से जल सम्पदा का नुक्सान होने लगा और निषाद जाति के लोग अपना पेशा बदलने लगे। उनके भोजन सामग्रियों में बदलाव आने लगा है। अब वे भी अन्य दलित और गरीब लोगों की तरह केवल चावल या रोटी पर दिन काटने लगे हैं। दाल और सब्जी महंगाई के कारण उनकी क्षमता से बाहर की चीज हो गई है और मछली, घोघा आदि माँसाहारी जन उनके लिए अनुपलब्ध हो गया है।

हालाँकि, इसका कोई सटीक अध्ययन नहीं हुआ है कि आज़ादी के बाद निषाद जाति के जीवन में किस तरह की गिरावट आयी है। खास कर आर्थिक, सामाजिक और शारिरिक मसलों पर। मगर पिछले कुछ सालों से इस जाति के लोग खुद को अनुसूचित जाति–जनजाति वाली श्रेणी में शामिल कराने की माँग कर रहे हैं। विकासशील इंसान पार्टी के नाम से एक राजनीतिक दल उठ खड़ा हुआ है, जो निषादों की सभी उपजातियों के प्रतिनिधित्व का दावा करता है और कहता है कि उनकी आबादी बिहार की कुल जनसंख्या का 14 फीसदी है और उन्हें उनका हक मिलना चाहिए। 2019 के लोकसभा चुनाव के दौरान वह विपक्षी महा गठबंधन का हिस्सा था। मगर उसकी हिस्सेदारी का कोई खास फर्क समझ नहीं आया। निषाद जाति के लोग उसकी पार्टी के खुद का कितना जुड़ाव महसूस करते हैं, यह भी कहना मुश्किल है। मगर यह सच है कि निषादों के बीच राजनीतिक सजगता की बेहतर संभावना है। इससे पहले भी एक युवक ने निषादों को जोड़कर नाव छाप के आधार पर राजनीतिक दल को खड़ा करने की कोशिश की। कई सीटों पर चुनाव भी लड़े, मगर सफलता नगण्य रही। राजनीतिक दल की बात छोड़ दी जाये तब भी यह बात खास तौर पर उल्लेखनीय है कि निषाद जाति के लोग खुद को पिछड़े से दलित वर्ग का हिस्सा बनाना चाहते हैं, यानी वे महसूस करते हैं कि उनकी स्थिति में गिरावट आयी है। और इस गिरावट के पीछे कहीं–न–कहीं उनकी आजीविका का नष्ट होना है।

इन विपरीत परिस्थितियों में भी आज़ादी के बाद निषादों के इतिहास में एक बड़ा सकारात्मक अध्याय है। वह है 1982 में भागलपुर में हुआ गंगा मुक्ति

आंदोलन। इस आंदोलन में मल्लाहों ने मिलकर गंगा नदी को ज़मींदारी प्रथा से मुक्त कराने की लड़ाई लड़ी थी। यह आंदोलन सफल रहा और उन्हें गंगा में मछली पकड़ने का अधिकार मिला। उस सफल लड़ाई को याद करके अगर उत्तर बिहार के निषाद आंदोलन करें तो वह सफल हो सकता है और उनका जीवन भी बेहतर हो सकता है। इस बीच एक बात ध्यान रखने की है। आज की तारीख में निषादों का कोई भी आंदोलन सिर्फ़ उनका आंदोलन नहीं होगा, वह पर्यावरण से जुड़ा आंदोलन भी होगा, वह नदियों–तालाबों–झीलों को बचाने का आंदोलन भी होगा। क्योंकि यह एक ऐसी जाति है जिसका जीवन नदी–तालाब और पर्यावरण से सीधा जुड़ा हुआ है। अगर उत्तर बिहार की जलशक्ति बचेगी तो निषाद भी बचेंगे।

सन्दर्भ :

1. मायानंद मिश्र (1967).

नदी के दावेदार : वाराणसी के निषाद

हरिश्चन्द्र बिंद

आदि काल से नदी और निषाद एक दूसरे के पूरक रहे हैं। प्राचीन काल से ही निषाद समुदाय और इसमें आने वाली उपजातियाँ जैसे माँझी, मल्लाह, बिंद, कश्यप, मझवार, नाविक, रैकवार, लोध, लोधी, धुरिया, कहार, बेलदार और तुरैहा आदिनदियों, झीलों, तालाबों, पोखरों के किनारे निवास करते चले आ रहे हैं। उनसे इन समुदायों का जीवन का आधार निर्मित होता है तथा निषादों की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक क्रियाएँ उनसे जुड़ी हैं। नदी घाटी सभ्यताओं के समय से ही निषादों का अस्तित्व और उनकी एक विशिष्ट संस्कृति का प्रमाण मिलता है। इसकी पुष्टि प्रयागराज के श्रृंगवेरपुर से उत्खनन में प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर की जा सकती है। भारतीय प्राचीन इतिहास को जानने के लिए प्रमुख धर्म ग्रंथों जैसे वेद, रामायण, महाभारत और पुराणों में निषादों का वर्णन मिलता है। प्राचीन काल से ही निषाद समाज के लोग जल, जंगल और जमीन पर जीवनयापन करने के साथ प्रकृतिप्रेमी, शांतिप्रिय, कुशल, शासक, योद्धा, पर्यावरण संरक्षक, किसान, निर्माण श्रमिक और व्यापारी रहे हैं। निषाद समाज के लोगों का इतिहास रहा है कि वे अपनी शरण में आए मित्र और शत्रु सबके संरक्षक बनते हैं। गुलाम भारत के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में निषाद समाज के लोगों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है जिनमें जुब्बा साहनी, तिलका माँझी, लोचन निषाद, वीरांगना अवंती बाई लोधी प्रमुख हैं। कहा जाता है कि कानपुर का सती चौरा घाट काण्ड में निषाद समाज के 200 से अधिक लोगों को कच्ची फाँसी दी गई।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में यदि देखा जाये तो देश की आज़ादी के सात दशक

बाद भी निषाद समाज के लोग जस–का–तस उपेक्षित जीवनयापन करने को मजबूर हैं। देश में सरकारें बनीं– बिगड़ीं किंतु इस वर्ग के ऊपर किसी भी सरकार ने विशेष ध्यान नहीं दिया, उल्टे इनके परंपरागत व्यवसायों पर बढ़ते सरकारी नियंत्रण और निजी क्षेत्रों के प्रभाव से इनकी रोजी–रोटी पर संकट आ खड़ा हुआ है। साथ इनकी परंपरागत जीवन शैली और संस्कृति भी प्रभावित हुई है। तेजी से बढ़ते हुए नगरीकरण के कारण अतिक्रमण भी बढ़ा है जिससे तमाम जल स्रोत समाप्त हो चुके हैं। नदियों के जल में लगातार बढ़ रहे प्रदूषण के कारण निषादों के जीवनयापन की कठिनाइयाँ भी बढ़ती जा रही हैं। नदियों तथा अन्य जलस्त्रोतों मे बढ़ते प्रदूषण के कारण निषाद समाज के लोगों में गंभीर बीमारियाँ पैदा हो रही हैं। सरकारी उपेक्षा का दंश झेल रहे निषाद समाज के लोग नारकीय जीवन व्यतीत करने को मजबूर हैं जोकि देश के नागरिक होने के नाते उनके मूलभूत अधिकारों का हनन है। आज देश में लगभग हर वर्ग समुदाय जैसे–दलित, आदिवासी, पिछड़े, ट्रांसजेंडर, मुस्लिम आदि की चर्चा की जाती है और उनके हक़–अधिकारों के संरक्षण के लिए सरकार और तमाम गैर सामाजिक संस्थाएँ कार्य कर रही है किंतु संख्याबल के हिसाब से महत्त्वपूर्ण होने के बावजूद निषाद–नाविक–मल्लाह–मछुआरा की चिंता किसी को नहीं है। यदि उत्तर प्रदेश के सन्दर्भ में बात की जाये तो आज़ादी के इतने सालों के बाद कोई एक भी योजना निषादों के कल्याण के लिए नहीं बनी जो निषादों के जीवन स्तर को ऊपर उठा सके। हाँ, सरकारों ने इनके परम्परागत मूल अधिकारों पर अतिक्रमण जरूर किया है और उनको उजाड़ने की कोशिश भी।

बनारस के पर्यटन विकास में निषादों की भूमिका

बनारस दो नदियों वरूणा और अस्सी के नदियों के नामों के योग से बना है तथा पूरा शहर माँ गंगा के पतित पावन तट पर बसा हुआ है, और एक पुरानी कहावत है कि ''जहाँ नदी है, वहाँ निषाद है और जहाँ निषाद है, वहाँ नदी है''— इस तरह नदी और निषाद एक दूसरे के पूरक हैं। काशी प्राचीन शहर होने के साथ ही अध्यात्म, योग, साहित्य और संस्कृति का जीवंत शहर है। बनारस को गलियों का नगर घाटों का शहर, नावों का नगर, आध्यात्मिक शहर, देवों की भूमि आदि–आदि नामों से समूचे विश्व में जाना जाता है। काशी की संस्कृति अध्यात्म, योग, के प्रचार प्रसार में निषादों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है वे एक

स्थान से दूसरे स्थान तक संस्कृतियों के प्रसार तथा आदान–प्रदान में अहम भूमिका निर्वहन करते चले आ रहे हैं। प्राचीन काल से ही बनारस में निषाद समाज के लोग काशी में आने वाले देश–विदेश के दर्शनार्थियों, पर्यटकों को काशी की प्राचीनता, अध्यात्म, पंचकोशी यात्रा के साथ अन्य महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ उपलब्ध करा रहे हैं। काशी की प्राचीन धरोहरों जैसे मंदिरों, घाटों, तालाबों, कूपों, कुण्डों, इमारतों,महलों और किलों आदि के निर्माण में निषाद समाज के पूर्वजों का योगदान रहा है। बड़ी–बड़ी इमारतों को बनाने में जो पत्थर लगे हुए हैं, उसे नाविकों द्वारा अपनी नाव से दूर–दूर से ढुलाई करके लाया गया है और अपनी भुजाओं के बल पर विशालकाय पत्थरों को दुर्गम स्थानों तक ले जाया गया जो आज के तकनीकी युग में भी संभव नहीं है। इससे निषादों की निर्माण कला और पौरुष का परिचय होता है। निषादों की एक उपजाति बेलदार केवट बिंद के नाम से भी जानी जाती है जो प्राचीन काल से थी वास्तुकला में निपुण थी जिसके द्वारा निर्मित कुण्ड, तालाब और पोखरे मानव जीवन का आधार हुआ करते थे और जिनके जल का प्रयोग दिनचर्या को पूरा करने में किया जाता था। यह कुंदन तालाब पोखरे प्राकृतिक जल स्रोतों जिसे सामान्य भाषा में गरवन (अपने आप निकलने वाले प्राकृतिक जल स्रोत) कहा जाता है, से जुड़े होते थे।

वर्तमान समय बनारस के नाविक निषाद मल्लाह समाज के लोग अपने परंपरागत पेशे नौकायन के द्वारा देश विदेश से आने वाले पर्यटक को को नौकायन कराने के साथ ही काशी की प्राचीनता, अध्यात्म, पौराणिक कथा उनकी भाषा में बताने का कार्य कर रहे हैं। यह जानकर बड़ा आश्चर्य होता है कि निषाद समाज में शिक्षा का अभाव होने के बावजूद भी लोग अलग–अलग भाषाएँ ऐसे बोलते हैं कि लगता है कि उन भाषाओं पर उन्होंने गहन अध्ययन किया हो। घाटों के किनारे आपको तमिल, तेलुगु, बांग्ला, मराठी, गुजराती, फ्रेंच, जर्मन, कोरियन, अंग्रेज़ी, जापानी और चाइनीज आदि भाषाएँ बोलने–समझने वाले निषाद समाज के लोग मिल जाएँगे। इस प्रकार माझी समाज के लोग अनेक भाषी लोगों को उनकी ही भाषा में काशी दर्शन कराते हैं। अपनी इस विशेषता के कारण निषाद समाज के लोग देश–विदेश से आने वाले पर्यटकों को उनके आवश्यकतानुसार रहने खाने जैसी अन्य सुविधाओं को उपलब्ध कराने में मदद करते हैं। वर्तमान समय में कुछ टूर गाइड भी इस कार्य को कर रहे हैं किंतु वे असफल हैं। इसके

पीछे कारण है कि जहाँ एक ओर निषाद समाज के लोगों की पर्यटकों को घुमाने और यात्रा कराने की परंपरा ही रही है, तो समझ सकते हैं कि उनसे बेहतर ऐतिहासिक, धार्मिक, आध्यात्मिक कथाओं का वर्णन कौन कर सकता है?

देश–विदेश से आये दर्शनार्थियों को काशी की प्राचीनता के दर्शन तथा पंचकोशी की यात्रा संपन्न कराने के अतिरिक्त निषाद समाज के लोग आपदा की स्थिति में आसपास के क्षेत्रों में भी बचाव का कार्य करते हैं। जब भी कोई गंगा में डूबता है या पुल से आत्महत्या करता है या करने की कोशिश करता है तो यही निषाद समाज के लोग उसको बचाने का कार्य करते हैं जिसके पीछे उनका कोई स्वार्थ नहीं होता। बिना पुरस्कार की भावना से ही निषाद समाज के लोग अपने प्राणों की चिंता किए बगैर लोगों के भलाई के लिए हर मौसम में, हमेशा तत्पर रहते हैं। इस प्रकार निषाद समाज के लोग दर्शनार्थियों को सुरक्षा भी देते हैं जो उनकी संस्कृति का एक हिस्सा है।

बनारस के निषाद समाज की आजीविका के साधन

बनारस के निषाद समाज की आजीविका के सम्बन्ध में बात की जाय तो हम पाते हैं कि यहाँ उत्तर प्रदेश के अन्य क्षेत्रों से परिस्थितियाँ थोड़ी अलग हैं क्योंकि बनारस के आध्यात्मिक शहर होने के नाते यहाँ देश–विदेश से पर्यटकों का आवागमन होता रहता है। पर्यटन से होने वाली आय उनके जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। निषाद समाज के आजीविका के साधन को हम निम्न रूपों में देख सकते हैं–

1) नौकायन कर जीवन यापन करने वाले निषाद।
2) मत्स्य आखेट कर जीवन यापन करने वाले निषाद।
3) घाट ऊपर फूल–माला बेचकर जीवन यापन करने वाले निषाद।
4) देश–विदेश से आए पर्यटकों को काशी दर्शन कराकर तथा उनकी जरूरत की वस्तुएँ उपलब्ध कराकर, प्राप्त आय से जीवन यापन करने वाले निषाद।
5) गंगा किनारे की गंग बरार वाली भूमि पर खेती कर जीवन यापन करने वाले निषाद।

सामान्यता मछली मारने, नौकायन कराने और पर्यटकों को घुमाने के कार्य को पुरुष वर्ग द्वारा किया जाता है लेकिन खेती और अन्य छोटी–छोटी दुकानों

में महिलाएँ भी योगदान देती हैं। वर्तमान समय में बनारस के निषाद समाज के लोगों को कई समस्याओं से जूझना पड़ रहा है जिसमें प्रशासनिक और सरकारी हस्तक्षेप प्रमुख हैं। बढ़ते हुए प्रदूषण के कारण जलीय जीवों की घटती हुई संख्या को देखते हुए सरकारों द्वारा कई योजनाएँ चलाई जा रही हैं लेकिन प्रदूषण की समस्या जस की तस बनी हुई है। आए दिन बनारस के मल्लाहों का प्रशासनिक उत्पीड़न आम बात है। कभी मछली मारने पर लगी फर्जी रोक के आधार पर तो कभी मोटर वोटों से निकलने वाले धुएँ के आधार पर, तो कभी नौकाओं के लाइसेंस नहीं होने के आधार पर, तो कभी अपने रिश्तेदारों को नाव की मुफ्त सवारी कराने से मना करने के आधार पर। पिछले कुछ सालों से बनारस में निजी क्षेत्र का हस्तक्षेप बढ़ा है जिसके कारण बनारस के माँझी समाज को ज्यादा कठिनाइयाँ झेलनी पड़ रही हैं। बदलते परिवेश में दूषित होती नदियाँ और लगातार हो रहे उत्पीड़न से निषाद समाज अपनी अस्मिता को लेकर भयभीत है, और हो भी क्यों न, उनका डर जायज है क्योंकि उनके पास अन्य कोई साधन नहीं है जिससे वे अपनी आजीविका चला सके।

लोकप्रिय संस्कृति के विकास में निषाद समाज की भूमिका

अधिकांश प्राचीन सभ्यताओं का विकास नदियों के किनारे हुआ है, नदियाँ व्यापार का सुगम मार्ग उपलब्ध कराती थीं तथा एक स्थान से दूसरे स्थान तक व्यापार कार्य किया जाता था इस प्रकार एक दूसरे की संस्कृति, भाषा, चिकित्सा पद्धति, वेशभूषा, पहनावा,रीति-रिवाज, गीत-संगीत,अध्यात्म, निर्माणकला आदि का आदान-प्रदान हुआ। निषाद समाज में कई उत्सव मनाए जाते रहे हैं जिनमें नदियों के किनारे अपने कुलदेवता की प्रतिमा या किसी विशेष स्थान या पेड़ आदि को पूजा जाता है। नई नौकाओं के निर्माण की शुरुआत से लेकर पूरा होने तक कई पूजा की जाती है। जब किसी मल्लाह की नौका बननी होती है तो वह लोगों से सहयोग लेता है। इसके पीछे यह कारण नहीं कि वह धनाभाव में ऐसा करता है, बल्कि यह इस समाज के भीतर छिपा आपसी सहयोग का एक पहलू है। ऐसी मान्यता है कि माँ गंगा में नौका का संचालन नौका की पूजा करके ही किया जाता है और पूजा लोगों के सहयोग से प्राप्त वस्तुओं से सम्पादित की जाती है जिनमें पुजारी खुद निषाद होता है और वह अपनी विधि से माँ गंगा को चढ़ावा चढ़ाता है। इस प्रकार माँझी समाज की स्त्रियाँ माँ गंगा को

समर्पित कई गीत गाती हैं जिनमें माँ गंगा की पवित्रता, प्राचीनता, महत्त्व और आम जनमानस में उनके लिए प्रेम का बखान होता है। आज भी कई जिलों जैसे मिर्जापुर, गाजीपुर और प्रयागराज में माँ गंगा के तटवर्ती क्षेत्रों में बसे निषाद समाज के गाँवों में यह गीत सुनाई देते हैं। सामान्यता निषादों के हर उत्सव के गीत अलग अलग होते हैं।

निषाद समाज और सामाजिक न्याय

यदि वर्तमान सन्दर्भ में बात की जाये तो आज निषाद समाज राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक रूप से काफी पिछड़ा हुआ है। जहाँ एक ओर आजाद भारत में दबी–कुचली शोषित, वंचित, सभी जातियों का सामाजिक राजनीतिक आर्थिक उत्थान तेजी से हुआ, वहीं निषाद समाज के लोग सरकारी उपेक्षा का दंश झेलते रहे। राजनीतिक प्रतिनिधित्व नहीं होने के कारण इनकी समस्याओं को उठाने की जहमत किसी ने नहीं उठाई जिससे यह आज आज़ादी के इतने सालों बाद भी वहीं के वहीं हैं। निषाद समाज निरंतर गरीबी के दलदल में धंसता चला जा रहा है। आज जहाँ अन्य पिछड़े समाज के लोग सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक रूप से काफी विकास कर चुके हैं, वहीं निषाद समाज विकास की इस दौड़ में हजारों मील पीछे रेंग रहा है। निषाद समाज के लोगों में शिक्षा का अभाव है। कहने का आशय है कि निषादों के पास अपनी परंपरागत शिक्षा तो है किंतु वर्तमान समय के अक्षर ज्ञान की शिक्षा से भारी संख्या में वंचित है। मजबूत नेतृत्व न होने के कारण निषाद समाज के लोगों को कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है। निषाद समाज के लोग अपने मूल अधिकार आरक्षण से हमेशा से ही वंचित रहे हैं।

नदियों के बिगड़ते स्वास्थ्य के कारण पर्यावरण और निषाद समाज के लोगों पर पड़ने वाला प्रभाव

बढ़ते शहरीकरण और उद्योगों से निकलने वाले अपशिष्ट पदार्थों से नदियों का स्वास्थ्य निरंतर बिगड़ता ही जा रहा है। नदियों में रसायनों और शहर से निकलने वाले मानव मल को सीधे जल में मिला दिया जा रहा है। जहरीले जल में ऑक्सीजन की कमी के कारण कई जीव जैसे गंगा की डॉल्फिन, कछुए, विभिन्न प्रकार की मछलियाँ और अन्य जलीय जीव लुप्त होने के कगार पर

पहुँच चुके हैं। कई जलीय जीव तो विलुप्त भी हो गये हैं। नदियों के जल को बड़े-बड़े बाँध बनाकर रोका गया है जिससे नदी की अविरल धारा प्रभावित हुई है। इसी सम्बन्ध में एक जनहित याचिका का जवाब देते हुए माननीय उच्च न्यायालय इलाहाबाद ने एक आदेश जारी किया जिसमें कहा गया कि गंगा का जल आचमन करने लायक नहीं है और राज्य सरकारों को बकायदा नोटिस जारी करके कहा कि नदियों के किनारे बोर्ड पर लिखा जाये की माँ गंगा का जल छूने लायक भी नहीं है। सवाल यह उठता है कि इतना हानिकारक जल होने के बावजूद भी निषाद समाज के लोग माँ गंगा में पूर्व की भाँति ही अपने क्रियाकलापों को अंजाम देते चले आ रहे हैं, जिससे निषादों में त्वचा सम्बन्धित कई बीमारियाँ तेजी से फैल रही हैं और जहरीले पानी के संपर्क में रहने के कारण निषाद समाज के लोग जहरीली मछलियों का भी सेवन कर रहे हैं। आने वाले दिनों में निषाद समाज के लोगों को गंभीर परिणाम भुगतने होंगे क्योंकि प्रदूषित जल में पलने वाली मछलियाँ कई रोगों का शिकार हो चुकी हैं। इस प्रकार नदियों के बिगड़ते हुए स्वास्थ्य और जलीय जीवों के समाप्त होने से एक तरफ पारिस्थितिकी तंत्र बिगड़ा है, वहीं उस पर निर्भर लोगों का जीवन भी प्रभावित हो रहा है। नदियों के स्वास्थ्य के साथ-साथ निषादों का भी स्वास्थ्य तेजी से बिगड़ रहा है और साथ ही पर्यावरण का भी संतुलन बिगड़ चुका है। जिसका प्रमाण हर साल आने वाली प्राकृतिक आपदाओं जिनमें बाढ़, सूखा, नदियों के किनारों की मिट्टी का कटान आदि प्रमुख हैं। इन प्राकृतिक आपदाओं से माँ गंगा तथा अन्य दूसरी अन्य नदियों के किनारों पर रहने वाले तथा मिट्टी के मकानों में निवास करने वाले निषाद समाज के लोगों को दो-चार होना पड़ता है। कहीं-कहीं तो गंगा तथा नदियों के कटान से हजारों निषाद समाज के लोग बेघर हो चुके हैं।

निषाद समाज किए जाने वाले आंदोलन

पिछले कुछ दशकों से निषाद समाज के लोगों में सामाजिक और राजनीतिक चेतना का विकास तेजी से हुआ है। लोगों में अपने हक और अधिकारों के प्रति जागरूकता आई है। लोगों ने धीरे-धीरे अपनी आवाज़ बुलंद करना शुरू किया है। माँ गंगा निषादों के लिए नदी और जल से भी बढ़कर महत्त्व रखती है और ये सम्बन्ध निषादों के जन्म से लेकर मृत्यु तक बना रहता है। गंगा को निषाद

समाज माँ का दर्ज़ा देता है और माँ गंगा के किनारे किसी भी अवैध कार्य जो उसे प्रदूषित करता हो, उसका विरोध सबसे पहले माझी मल्लाह नाविक निषाद समाज के लोगों द्वारा किया जाता है। नदियों के बारे में जितनी जानकारी निषादों को है, उतनी जानकारी शायद ही किसी और को हो। वे नदियों के बहाव से जल की गहराई बताने का काम, वर्षा और बाढ़ के भीषण दशा में नावों तथा स्वयं तैरकर लोगों की हिफ़ाज़त करते है जिसके लिए न तो कोई सरकारी मदद मिलती है और न ही सुविधा। आये दिन डूबने वाले लोगों को बचाने या मृत हो जाने पर उनके शवों की तलाश बिना किसी सुरक्षा व्यवस्था के जबरदस्ती कराया जाता है। मजदूरी के नाम पर गालियाँ दी जाती हैं और सबसे बड़ी बात यह कि आपदा प्रबंधन विभाग सिर्फ़ दिखावे के लिए होता है जो महज खानापूर्ति करता है जबकि अधिकांश कार्य निषाद समाज के लोगों द्वारा किया जाता है। जब कभी भी निषाद समाज के लोगों ने अपने हक़ की बात की तो उसे निराशा हाथ लगी। नियमत: निषाद समाज के लोगों को उनके कार्यों की मजदूरी मिलनी ही चाहिए और देश का नागरिक होने के नाते उनके सुरक्षा की व्यवस्था भी प्रशासन को करना चाहिए। पिछले वर्षों में इन्ही सब माँगों को लेकर तथा प्रशासनिक उत्पीड़न से तंग आकर बनारस के निषाद समाज के लोगों ने 'माँ गंगा निषाद राज सेवा समिति वाराणसी' के नेतृत्व में बड़ा आंदोलन किया। बनारस के माँझी मल्लाह नाविक निषाद समाज के लोगों ने नौ दिनों तक अपनी नावें बंद रखीं और लगातार धरना प्रदर्शन जारी रखा। बात बनारस के चालीस हजार नाविक परिवारों की रोजी-रोटी से जुड़ी हुई थी। पूर्व में भी अपनी माँगों को लेकर निषाद समाज के लोगों ने संघर्ष किया था किन्तु इस बार स्थिति ज्यादा गम्भीर थी। मुद्दा माँ गंगा में परम्परागत तरीके से चलने वाली नावों के स्थान पर निजी लोगों के बड़े बड़े जहाज के आने का था और उससे भी बड़ी बात यह थी कि यह सब नियमों को ताक पर रखकर सरकारी संरक्षण में किया जा रहा था। एक तरफ़ चालीस हजार गरीब मल्लाहों की रोजी-रोटी छिनी जा रही थी, वहीं वहीं दूसरी तरफ़ बिना किसी की परवाह किये मनमाने तरीके से लग्ज़री क्रूज़ को चलाया जा रहा था। इन आंदोलनों से निषाद समाज ने निम्नलिखित माँगें समय-समय पर प्रस्तुत की हैं :

1. गंगा मे गिरने वाले नाले बंद हों, तथा माँ गंगा की अविरलता के लिए बाँधों को खोला जाये।

2. जलीय जीवों की अनदेखी बंद करके गंगा की डाल्फिन तथा अन्य दुर्लभ प्रजातियों का संरक्षण हो।
3. नावों के लाइसेंस का रिन्युअल किया जाये।
4. मछली मारने पर लगी रोक हटाई जाये।
5. गंग बरार की भूमि पर खेती करने से रोक हटाई जाये
6. जल पुलिस में गोताखोरों की नियुक्ति नियमित की जाये।
7. माँ गंगा में परम्परागत तरीके से चलने वाली नावों के अलावा अन्य निजी क्षेत्र के क्रूज़ों को तत्काल हटाया जाये।
8. निषाद समाज के लोगों के लिए रोजगार परक शिक्षा की व्यवस्था की जाये।
9. नदियों पर होने वाले खनन, तालाबों, पोखरों, झीलों आदि का ठेका पूर्व की भाँति निषादों को आवंटित किए जायें।
10. सरकार द्वारा सब्सिडी की व्यवस्था हो जिससे नावों का आधुनिकीकरण किया जा सके।

नदी, निषाद और उनका जीवन : सरयू नदी और उसके किनारे बसे एक गाँव का सन्दर्भ

गोविंद निषाद

सरयू नदी भारत की एक आदरणीय नदी है। इसका बहुत सुंदर वर्णन रामायण में मिलता है। यह आज भी उत्तर भारत के करोड़ों लोगों की श्रद्धा का केंद्र है। भौगोलिक रूप से इसे घाघरा भी कहते हैं। देश की अन्य नदियों की तरह घाघरा (सरयू) नदी के किनारे निषाद समुदाय सदियों से रहता आया है। वह इस नदी में नाव चलाता रहा है, नदी के तल से बालू निकालता रहा है, उसने घाघरा नदी के परितंत्र को सुरक्षित रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, वह घाघरा नदी पर अपनी दावेदारी लगातार वर्षों से करता रहा है। निषाद समुदाय के जीवन बोध के निर्माण में घाघरा नदी ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। निषाद समुदाय और नदी के बीच उपर्युक्त सम्बन्ध में स्वातंत्र्योत्तर भारत में कई परिवर्तन आए हैं। इन परिवर्तनों को घाघरा नदी के किनारे बसे गोरखपुर जिले में स्थित निषाद बाहुल्य गाँव 'रापतपुर' में चिन्हित करने का प्रयास किया गया है। इस गाँव में निषाद जाति की 'केवट' उपजाति का अधिवास है। इस लेख में इस गाँव के निषाद समुदाय का घाघरा नदी के साथ उनके अंतर्सम्बन्धों, उनसे घाघरा नदी से जुड़ाव, उनके जीवनबोध के निर्माण में इस नदी की क्या भूमिका निभाई है? को देखने का प्रयास किया गया है।

निषादों के अध्ययन में एक समस्या रही है कि उत्तर प्रदेश में उनका अध्ययन इलाहाबाद में संगम और वाराणसी के घाटों तक केन्द्रित होकर रह जाता है, वह अन्य नदियों या क्षेत्रों तक बहुत कम पहुँच पाता है। चूँकि इलाहाबाद और वाराणसी भारत के प्रसिद्ध तीर्थ हैं, तो निषाद अपनी जीविका नाव वहाँ पारम्परिक कार्य नौचालन से करते है जो कि सदियों से करते आ रहे हैं। अक्सर निषादों

का नाव, नदी और मछली मारने से सम्बन्ध इन्ही दोनों स्थानों के आधार पर व्याख्यायित किया जाता है। निषादों का अन्य स्थानों पर अपने पारम्परिक कार्यों के साथ सम्बन्धों में लगातार परिवर्तन आ रहे हैं, जिसे रेखांकित किया जाना जरूरी है। बनारस के घाटों पर आधारित अपने मानवशास्त्रीय कार्य में अस्सा डोरोन ने मल्लाह समुदाय की गंगा पर निर्भरता, राज्य द्वारा उनकी सीमांतीकरण की प्रक्रिया तथा पहचान के लिए उनके संघर्षों की गहराई से पड़ताल की है। उनका यह कार्य मल्लाहों के नौकायन के उनके पैतृक, वंशानुगत नियमों की व्याख्या तथा मल्लाहों द्वारा घाटों पर किये जाने वाले धार्मिक अनुष्ठानों की विवेचना करता है। इलाहाबाद और चंदौली के बीच के निषाद समुदाय के सामुदायिक अधिकारों, नदी पर उनकी दावेदारी तथा बालू खनन की सांस्कृतिक-आर्थिकी पर रमाशंकर सिंह ने दिखाया है कि अपनी ऐतिहासिक स्मृतियों और वर्तमान राजनीतिक गोलबंदियों के द्वारा वे किस प्रकार की राजनीति विकसित कर रहे हैं।[1] यह अध्ययन मुख्यत: गंगा नदी के किनारे के इलाक़ों पर केंद्रित हैं जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में एक भिन्न प्रकार की सामाजिक-सांस्कृतिक अवस्था काम रही है। उसे भी देखा जाना चाहिए। इसके लिए मैं आपको सरयू नदी के किनारे स्थित एक छोटे से गाँव में ले जाना चाहूँगा।

सरयू नदी दक्षिणी तिब्बत के ऊँचे पर्वत शिखरों से निकलती है, जहाँ इसका नाम कर्णाली है। इसके बाद यह नेपाल से होकर बहती हुई भारत के उत्तर प्रदेश और बिहार में प्रवाहित होती है। लगभग 970 किलोमीटर की यात्रा के बाद बलिया और छपरा के बीच यह गंगा नदी में मिल जाती है। इसे घाघरा, सरजू, शारदा आदि नामों से भी जाना जाता है। यह बहराइच, सीतापुर, गोंडा, अयोध्या, अम्बेडकर नगर, गोरखपुर, बलिया और आजमगढ़ आदि जिलों से होकर गुजरती है। इस नदी की गहरी धारा गोरखपुर जिले की दक्षिणी सीमा निर्धारित करती है। नदी पहले गोरखपुर जिले के परगना 'धुरियापुर' में 'मझादीप' को छूती है। पुन: पूर्व की ओर गोला बाजार तथा बड़हलगंज कस्बों को छूती हुई आगे बढ़ जाती है।[2] रापतपुर गाँव गोरखपुर ज़िले के परगना धुरियापार और विकासखंड बेलघाट में अवस्थित है। यह गाँव कई खंडों (पुरवों) में बँटा हुआ है जैसे—करमा, बगियाई और चितकहवा।[3] इस गाँव की कुल जनसँख्या लगभग 3604 के करीब है।[4] इसमें लगभग कुल 2800 के करीब आबादी निषाद जाति की केवट/मल्लाह उपजाति से सम्बन्धित है। शेष आबादी में ब्राह्मण, यादव और मौर्या जातियों के लोग शामिल हैं। इस गाँव की दक्षिणी सीमा, पूर्वी सीमा तथा

दक्षिणी पश्चिमी सीमा सरयू नदी द्वारा निर्धारित होती है, जिसकी लंम्बाई आठ किलोमीटर के करीब है। इसके उत्तर में सिसवा बाबू, पूर्वोत्तर में मंझारिया, पश्चिम में मझादीप तथा पश्चिमोत्तर में नर्गड़ा गाँव स्थित है।[5]

इन जातियों को अपने शोध में चुनने का एक बड़ा कारण मेरा स्वयं इस जाति से होना है। हाल के वर्षों में 'ऑटो एथ्नोग्राफ़ी' का महत्त्व समाज अध्ययन के क्षेत्र में बढ़ा है जिसमें शोधकर्ता अपने अनुभवों की गहराई से जाँच करता है। इसमें उसकी भावनाएँ, विचार और प्रतिक्रियाएँ शामिल होती हैं। इस आत्म निरीक्षण का उद्देश्य उन अंतर्दृष्टियों को उजागर करना है जो अन्य शोध विधियों के माध्यम से सुलभ नहीं हो सकती हैं। वह व्यक्तिगत आख्यानों को सांस्कृतिक संदर्भों से जोड़ता है, तथा यह जाँच करता है कि किस प्रकार व्यक्तिगत अनुभव बड़े सामाजिक प्रतिमानों को प्रतिबिंबित करते हैं और प्रभावित करते हैं।[6] शोधकर्ता ने इस शोधपत्र में अपने पूर्वजों, परिवार तथा स्वयं के बारे में तथा उनका नदी, तालाब तथा जल से जुड़ाव को अनुभवमूलक ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। मेरे पूर्वज विस्थापित होकर इस गाँव में आए थे। अपने अंतिम पूर्वज जिसके बारे में मुझे अपने परिवार से मौखिक रूप से जानकारी मिलती है, वे हैं मेरे परदादा। मेरे परदादा जिनका नाम 'गजाधर' था, उनके नाम के साथ एक किवदंती जुड़ी हुई है कि उनके पास एक हाथी के बराबर बल था इसलिए उनका नाम 'गजाधर' पड़ गया। मेरे परदादा अपने जातिगत पारम्परिक कार्य मछली मारने, पालकी ढोने, मिट्टी के घर बनाने, कुएँ खोदने के साथ हलवाही का कार्य करते थे। इसमें ज्यादातर जलाधारित कार्य में उनकी संलग्नता थी। चूँकि निषादों का जल के साथ अटूट सम्बन्ध रहा है, उसके बिना उनकी कल्पना करना मुश्किल था। मेरे पूर्वज जहाँ पहले रहा करते थे, वहाँ किसी कारणवश जल की उपलब्धता कम होती जा रही थी। अत: मेरे पूर्वजों को नया जलक्षेत्र ढूँढ़ना आवश्यक हो गया था। 1850 के आसपास मेरे पूर्वज एक नए जल स्रोत की तलाश में वर्तमान निवास स्थल पर आकर बस गये। उनको नए गाँव में जगह दिलाने में जजमानी प्रथा ने भूमिका निभाई। चूँकि गाँव में अन्य पारम्परिक पेशों से जुड़े लोग का अधिवास हो चुका था, गाँव में हलवाही करने वाले लोगों की कमी थी, इसलिए ब्राह्मण समुदाय ने गाँव में बसने की अनुमति दे दी। इस नए स्थान पर जल की भरपूर उपलब्धता थी। गाँव के पश्चिमी छोर पर एक छोटी-सी नदी जो वर्तमान में सूखी रहती है, वह उस समय बहती थी। इसके चारों तरफ फैला एक बड़ा जलक्षेत्र था। मेरे पूर्वज, दादाजी और पिता जी ने 1970 के दशक तक इस नदी

में मछली मारने का कार्य किया। मेरे घर के सामने भी एक बड़ा तालाब था जिसमें मछलियों की भरमार होती थी। धीरे-धीरे यह तालाब अपना अस्तित्त्व खोता गया और समाप्त हो गया।

गाँव में ब्राह्मण समुदाय को खेती के लिए शारीरिक रूप से बलिष्ठ मजदूर चाहिए थे। इस कारण से उन्होंने मेरे पूर्वजों को गाँव में बसने की जगह दे दी। धीरे-धीरे यह एक परिवार बढ़कर आज कई परिवार बन गया है। गाँव में बसने के पश्चात वे अपने पारम्परिक कार्य मछली मारने के अतिरिक्त अन्य कार्य जैसे हलवाही करने, मिट्टी के घर बनाने, पालकी ढोने तथा मजदूरी का कार्य करने लगे। निषाद जाति के लोग बलिष्ठ होने के कारण कुएँ खोदने में किसी अन्य जाति की अपेक्षा ज्यादा सक्षम होते थे। ऐसा ही एक कठिन कार्य था मिट्टी के घर बनाना जो हमारे पूर्वजों और पिता ने किया। पालकी ढोने का मेहनतकश कार्य भी वे करते थे। इन सब के अतिरिक्त हमारे पूर्वज और पिता मजदूरी जैसे-गल्ले को सिर ढोना, भारी सामान की ढुलाई करना आदि कार्यों में भी संलग्न थे। वर्तमान में भी मेरे पूर्वजों द्वारा बनाए गये कुएँ, मिट्टी के घर तथा पालकी ढोने के ढाँचे का एक छोटा अंश आज भी विद्यमान है। मेरे पूर्वजों का जल के साथ उनके अंतर्सम्बन्धों को लेकर कई मौखिक विवरण आज भी घर और गाँव के लोगों द्वारा बताया जाता है, जैसे कि मेरे बाबा जी के बारे में मेरी दादी जी बताती थीं कि वह जब भी नदी या तालाब में मछली पकड़ने उतरते थे जब तक वे दोनों हाथ, पाँव, मुँह में मछली नहीं पकड़ लेते थे, तब तक बाहर नहीं आते थे।

उपर्युक्त कार्यों के बदले में जो मजदूरी मिलती थी, वह अत्यन्त कम होती थी। ज्यादातर मजदूरी का भुगतान अनाज में मिलता था। कभी-कभी सिर्फ़ भोजन के एवज़ में मजदूरी का कार्य किया जाता था। चूँकि गाँव में उन्हें इन्ही सब कार्यों के लिए बसाया गया था इसलिए उन्हें अनिवार्यत: यह सब करने पड़ते थे। स्वतंत्रता के बाद भूमि सुधार के तहत चकबंदी का कार्यक्रम सरकार के मुख्य एजेंडे में शामिल था। चकबंदी के परिणामस्वरूप मेरे परिवार को भी कुछ भूमि कृषि कार्य हेतु आंवटित की गई। देश में ज़मींदारी प्रथा का उन्मूलन हो रहा था, यही वह मोड़ था जब मेरे परिवार का जल से जुड़ाव कम होना शुरू हो गया और धीरे-धीरे वह एक खेतिहर समुदाय में परिवर्तित हो गया। नदी में मछलियों की मात्रा कम होती जा रही थी। चूँकि नदी छोटी थी इसलिए बरसात के दिनों के इतर यह सूख जाने लगी, तथा इससे लगा हुआ जलप्लावन

क्षेत्र भी सूख गया। वही दूसरी तरफ़ सरकार द्वारा कृषि को बढ़ावा देने वाली कई परियोजनायों का शुभारम्भ किया गया जिसके परिणामस्वरूप कृषि पैदावार में बढ़ोत्तरी होने लगी। मेरे परिवार का झुकाव कृषि की तरफ बढ़ने लगा। इसके विपरीत जल तथा मछली से उनका जुड़ाव कम होते–होते वर्तमान समय में खत्म हो गया है। आज मेरा परिवार पूर्णतः कृषि पर आश्रित हो चुका है। पारम्परिक कार्यों से उनका नाता दूर–दूर तक नहीं है।

मेरे पूर्वजों को सामाजिक बहिष्कार तथा शोषण का वह दंश नहीं झेलना पड़ा जो अछूत जातियों के लोगों को झेलना पड़ा लेकिन फिर भी मेरे पूर्वज जातीय अपमान तथा लांछन से नहीं बच पाए। चूँकि गाँवों में उन्हें जजमानी प्रथा के तहत बसाया गया था इसलिए गाँव की उच्च जाति का जैसे उन पर एकाधिकार होता था। कार्य करने का बुलावा कभी भी आ सकता था। समय पर काम न करने या कार्यस्थल पर न पहुँचने पर गालियाँ या अपमानजनक शब्द कहना आम बात थी। घर की जीविका उन्ही लोगों के रहमोकरम पर चलती थी। अगर हम आधुनिक शिक्षा की बात करें तो यह एक खास वर्ग तक सीमित थी। मेरे पूर्वजों में कभी कोई विद्यालय नहीं गया। हमारी वर्तमान पीढ़ी ने पहली बार 1990 के दशक में विद्यालय की चौखट को लाँघा। मैं अपने कुल का पहला लड़का हूँ जिसने विश्वविद्यालय से अपनी उच्च शिक्षा प्राप्त की है।

मेरे पिता जल से अपनी जीविका पर बहुत दिनों तक निर्भर रहे और गाँव में हलवाही और अन्य कार्यों को करते रहे लेकिन एक समय ऐसा आया जब परिवार चलाना मुश्किल हो गया तो उन्होंने शहर की तरफ पलायन किया लेकिन कुछ खास नहीं कर पाए और गाँव वापस आ गये। चूँकि उस समय आवागमन के ज्यादा साधन उपलब्ध नहीं थे इसलिए रोजगार की ज्यादा संभावना देखकर उन्होंने रिक्शा खरीदा और घर की जीविका चलने लगी। कुछ वर्षों बाद स्थिति तब खराब होने लगी, जब गाँव में ईंधन चालित आटो रिक्शा आ गये। पिता आजमगढ़ शहर में रिक्शा चलाने लगे और शहर में कोई आशियाना नहीं होने के कारण रात में फुटपाथ पर गुजारा कर लेते थे। हमारा मकान छप्पर का था। बरसात होने पर मुसीबतों का पहाड़ टूट पड़ता था। सर्दियों में पिता जी ईंट–भट्ठे पर ईंट बनाने का काम करने लगे। मैं और मेरा भाई भट्ठे पर कोयला फोड़ते और जलने के बाद जब ईंट निकल जाती, तब नीचे दबे कोयला को भट्ठे से निकालते। हमने कोयला लेकर इकट्ठा करना शुरू किया। जब गर्मियों में कारखाना बंद हो गया तब मेरे पिता जी ने चाय की एक छोटी–सी दुकान खोल दी। मैंने

पिताजी के साथ इस दुकान को दो वर्ष तक चलाया लेकिन लागत भी नहीं निकल पाने के कारण दुकान पिताजी ने बंद कर दी। यह दुकान मेरे लिए दुनिया की सबसे खूबसूरत जगह साबित हुई क्योंकि यहाँ आने वाला अख़बार मुझको दुनिया से मिलाने लगा। इस अख़बार को पढकर मैने बहुत कुछ जाना। जब दुकान बंद हो गई तब मैं बाजार जाकर अख़बार पढ़ने लगा। अब पिता का शरीर रिक्शा चलाने के अनूकूल नहीं बचा था। मै दसवीं की परीक्षा दे चुका था। आगे की पढ़ाई जारी रखने के लिए पैसों को जुटाने के लिए मै कुछ दिन दिल्ली मजदूरी करने चला गया। वहाँ मैने तीन महीने मजदूरी करके कुछ पैसे बचाकर आगे की पढ़ाई जारी रखी। इसके बाद मुझे इलाहाबाद विश्वविद्यालय में पढ़ने का मौका मिला। स्नातक के दौरान भी मैने छुट्टियों में कुछ दिन मजदूरी करने का काम किया। इस दौरान मुझे बार–बार लोगों के सामने 'निषाद' उपनाम को व्याख्यायित करना पड़ता था जिससे मुझे बहुत ग्लानि होती थी। आगे सफर जारी है लेकिन मेरा परिवार जातिगत कार्यों से दूर चला गया है, जल सिर्फ़ उसके स्मृतिलोक में बसा हुआ है।

रापतपुर गाँव के निषाद

किसी भी समुदाय को देखने तथा समझने का उस समुदाय के अनुभवी तथा बुज़ुर्ग लोगों का अपना एक नजरिया होता है। निषाद समुदाय के अतीत तथा जाति उत्पत्ति के बारे में निषाद समुदाय के बुज़ुर्गों का अपना एक निश्चित मत है कि निषाद इस धरती के सबसे प्राचीन आदिम निवासी हैं।[7] निषाद इस धरती पर तब से हैं जब से नदियाँ और जल इस धरती पर आए हैं। इन्हीं नदियों के किनारे ही सभ्यताओं का जन्म हुआ। पहले मानव नदियों के किनारे ही बसा और इन बसावटों में ही निषादों का प्रादुर्भाव हुआ है, इन्ही नदियों के किनारे हमारे पुरखों ने अपना निवास बनाया और इन्ही में अपना भोजन तलाशा। निषाद जाति की उत्पत्ति के विषय में गाँव के लगभग सभी बुज़ुर्ग और अनुभवी व्यक्ति अपना सम्बन्ध तुलसीदास कृत रामचरित मानस के पात्र निषादराज गुह से जोड़ते हैं और बड़े गर्व से कहते है कि भगवान राम को हमारे पुरखों ने गंगा पार कराई थी। वह लगभग प्रत्येक बात में खुद को राजा बताने की कोशिश करते हैं। जैसे कि पहले हम राजा हुआ करते थे देश के कई हिस्सों में हमारा शासन हुआ करता था, कालान्तर में उनसे छलकपट द्वारा उनका राज्य छीन लिया गया। हालाँकि

ऐसा कहते समय वह किसी राजा, राज्य तथा स्थान का उल्लेख नहीं कर पाते हैं। उनके पास ऐसी कई मिथकीय कथायें हैं जिससे वह अपनी क्षत्रिय पहचान को स्थापित करने की कोशिश करते हैं। जब कोई समुदाय अपने मानवीय विकास क्रम में वृद्धि करता है तब उसकी पहले की पीढ़ी और उसके बाद आने वाली पीढ़ी में अपने पूर्वजों की कुछ अवधारणाओं को लेकर बदलाव आ जाते हैं। निषादों की वर्तमान पीढ़ी आधुनिक शिक्षा प्राप्त कर रही है, उसकी राय अपने बुज़ुर्गों की राय से बदलने लगी है या उसमें कुछ नया जोड़ रही है। गाँव के नवयुवक अपनी पहचान को आधुनिक प्रतीकों के माध्यम से निर्मित करने की कोशिश कर रहे हैं। वे रेखांकित करते हैं कि हमारे पूर्वजों ने सम्पूर्ण दुनिया को खोजा, इसके उदाहरण में वे वास्कोडिगामा और कोलम्बस का नाम लेते हैं। वे मिथकीय प्रतीकों में भी नए-नए प्रतीक जोड़ रहे हैं। वे कहते हैं कि हम पहले राजा थे, हिरण्यकश्यपु, बलि तथा कई अन्य असुर राजाओं से अपना सम्बन्ध स्थापित करके वे अपने बुज़ुर्ग की बात को पूरा करने की कोशिश करते हैं। जाति उत्पत्ति तथा निषादराज गुह के सम्बन्ध में वे अपने बुज़ुर्ग के विचार से सहमति जताते हैं। ऐसी बातों के द्वारा निषाद समुदाय अपनी सामुदायिक पहचान को स्थापित करने की कोशिश करता है। वर्तमान पीढ़ी अपनी सामुदायिक पहचान का निर्माण में निषादराज गुह के प्रतीक का जमकर प्रयोग कर रही है। निषादराज गुह के इस प्रतीक ने निषादों की सामुदायिक पहचान को स्थापित करने में न केवल महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है बल्कि निषादों के राजनीतिक सशक्तीकरण में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है।[8]

निषाद समुदाय के जीवन में नदी

इस गाँव के निषाद समुदाय के लोगों का सरयू नदी के साथ अपने सांस्कृतिक तथा धार्मिक सम्बन्धों में पूर्व की अपेक्षा वर्तमान में परिवर्तन देखने को मिलता है। सरयू नदी के किनारे निषादों के आवासीय संकुल है। नदियों के साथ उनकी यह निकटता प्राचीन है, जिसके कारण नदियों का उनके साथ एक भावनात्मक लगाव है लेकिन जो निषादों को नदियों से अटूट रूप से जोड़ता है वह है-नदी पर निषादों की निर्भरता। निषाद समुदाय अपने दैनिक खानपान से लेकर आजीविका के अन्य साधनों के लिए नदियों पर आश्रित रहा है। निषादों ने नदियों में नौकाएँ चलाकर और मछली मारकर अपना पेट भरा है।[9] नदी से अपने

सम्बन्धों को लेकर आप बात करें, तो वह भावुक हो जाते हैं। उनकी बातों से आप प्रकृति और मानव के भावात्मक सम्बन्ध उभरकर सामने आ जाता है। निषादों की जो पुरानी पीढ़ी है, वह कहती है कि, ''निषाद गंगा मैया के प्राकृतिक पुत्र हैं। गंगा मैया ही निषादों को पालती–पोसती और बड़ा करती है। हम गंगा मइया की गोदी में खेलकर बड़े हुए हैं। उनकी धाराओं में हमने चलना सीखा है। उसने हमको भोजन दिया है। गंगा मैया हमारी प्रथम देवता हैं। हमारे बुज़ुर्ग और खुद भी पहले गंगा मइया में अपने खेतों में पैदा हुआ अनाज चढ़ाते हैं, पुनः घर लाते हैं। हमारे घर में आने वाली प्रत्येक वस्तु पहले गंगा मैया को अर्पित की जाती है।'' ऐसा कहकर वे अपना सरयू नदी के साथ सम्बन्धों को अटूट बनाते हैं। हालाँकि, सरयू नदी के साथ वर्तमान पीढ़ी के सम्बन्धों में पूर्ववर्ती लोगों की अपेक्षा काफी बदलाव आए हैं। नदी और निषादों में स्थापित भावनात्मक सम्बन्धों में धीरे–धीरे कमी आ रही है। अब वह नदियों को उस तरह नहीं देख पा रहा है जैसे कि उसके पूर्वज देखा करते थे। नदियों को देखकर उसके अन्दर अपनेपन का भाव तो आता है लेकिन साध्य और साधक वाला सम्बन्ध नहीं बन पाता। गाँव के शिक्षित नवयुवक जो उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, सरयू नदी को माता के रूप में कम, प्राकृतिक रूप में ज्यादा देखते हैं। वे कहते हैं कि नदियाँ माता नहीं हैं, हमने नदियों को माता कहकर क्या हाल कर दिया है उनका। वे अपना सम्बन्ध नदियों से जोड़े जाने पर कहते है कि हाँ, हमारे पूर्वज नदियों पर आश्रित रहे हैं लेकिन वर्तमान में यह बदल रहा है। इस बदलाव का मुख्य कारण यह है कि इस गाँव में निषादों की वर्तमान पीढ़ी जल और नदी के साथ अपना सम्बन्ध उस तरह नहीं निर्धारित करती, जैसे उसके पूर्वज करते थे। जो इनके सम्बन्धों की मुख्य कड़ियाँ थीं, वह लगातार टूटती जा रही हैं। जैसे उन्होंने कभी नदी में मछली पेशेवर तरीके से नहीं पकड़ी। नाव तो बिल्कुल नहीं चलाई। सिर्फ़ उन्होंने सरयू में स्नान किया। शायद यही कारण है कि वर्तमान पीढ़ी का सम्बन्ध नदियों के साथ भावात्मक रूप से नहीं जुड़ पाया है। निषादों की इस पीढ़ी के ज्यादातर युवा अपने जीवन के शुरूआत दौर से ही मजदूरी करने शहरों में चले जाते हैं, जिससे नदी के साथ उनका सम्बन्ध नाममात्र का रह गया है। इन सम्बन्धों में आए परिवर्तन का एक अन्य मुख्य कारण रहा है कि निषादों की यह पहली पीढ़ी है जो विद्यालय गई है, नदी में नहीं गई है। जैसे लगता है कि वह इन पारम्परिक कार्यों से अपना दामन छुड़ा लेना चाहती है। वह देश और दुनिया की चकाचौंध से जुड़ना चाहती है। इस

गाँव में निषादों की वर्तमान पीढ़ी नौका न चलाकर ईंधन चालित वाहन चला रही है। आज़ादी के बाद यह निषादों की पहली पीढ़ी है जो विद्यालय जा रही है और उच्च शिक्षा में इनके कदम पड़ रहे हैं। यह पीढ़ी नदियों से ज्यादा शिक्षा की ओर देख रही है। इस गाँव में अब कोई निषाद नहीं चाहता कि उसका बेटा मछली मारने या नाव चलाने का कार्य करे। हाँ, यह जरूर है कि अपनी सामुदायिक पहचान और अस्मिता के लिए वह नदियों तथा उसके जुड़े प्रतीकों का इस्तेमाल कर रहा है। आज जब लगभग सभी जातियाँ अपने पारम्परिक कार्यों का परित्याग कर चुकी है या पेशेवर तरीके अपनाकर वह अपना काम कर रही है तो निषादों का उन पारम्परिक कार्यों से जुड़े रहना आसान कार्य नहीं है।[10]

मछली अब कहाँ है?

प्रारम्भिक दौर से लेकर अब तक निषाद समुदाय के खानपान का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा मछली रही है। लेकिन पहले हरित क्रांति और बाद में उदारीकरण के पश्चात निषादों के खानपान में क्रमशः परिवर्तन देखने को मिलता है। हरित क्रांति के बाद में खाद्यान उत्पादन में वृद्धि हुई जिससे देश के कई हिस्सों में खाद्यान्न की पहुँच सुनिश्चित हुई। इस प्रक्रिया में निषाद भी अछूते नहीं रहे। चकबंदी के दौरान निषादों के पास कुछ कृषि भूमि आई। अब निषादों की थाली में मछली से इतर और भी खाद्य पदार्थ आ गये। उदारीकरण के पश्चात देश में पारम्परिक व्यवसायों का तेजी से मशीनीकरण और वाणिज्यीकरण हुआ है। मछली मारने का व्यवसाय भी इससे अछूता नहीं रहा। मछली के व्यवसाय पर भी अन्य सशक्त समुदायों का कब्जा होता गया। मछली मारने के लिए नए प्रकार के जाल तथा तकनीक आयी जो मछली मारने के पारम्परिक तरीके के खिलाफ है। इस पूरी प्रक्रिया से सरयू नदी में मछलियों की संकुलता में कमी आने लगी, जिससे निषादों की थाली में मछली की मात्रा कम हो गई। मछली की उपलब्धता इतनी कम हो गई है कि बहुत ही कम लोग इस व्यवसाय में लगे हैं। हालाँकि हमेशा से ऐसा नहीं था पहले मछलियों की सघनता इतनी ज्यादा थी कि बहुत कम श्रम में अधिक से अधिक मछली पकड़ने का कार्य किया जाता था। लेकिन अब तो घंटों की मशक्कत के बाद भी पर्याप्त मछलियाँ नहीं मिलती हैं। इन्हीं कारणों से आज की पीढ़ी मछली खरीदकर ही खाना पसंद कर रही है। पहले मछली और जल निषादों की पुश्तैनी समझा जाता था, प्रायः निषाद मछली का कारोबार करते थे लेकिन अब इसमें पैसा आने के कारण अन्य रसूखदार जातियों

के लोग भी मछली पालन करने लगे हैं। ऐसे में मछली के कारोबार में प्रतिस्पर्धा बढ़ी है। प्रतिस्पर्धा में तकनीकी के सामने निषाद टिक नहीं पाते हैं और मजबूरन उन्हें उन रसूखदार लोगों से ही मछली खरीदकर बेचना पड़ता है।[11] जिसके कारण यह होता है कि उन्हें उतना फायदा नहीं होता जितना पहले होता था जब वह खुद मछली मारकर बेचता था। अब मछली को मारने के लिए जो जाल प्रयुक्त होता है उसमें मछली के लारवा भी आ जाते हैं जिसमें इस क्षेत्र में मछलियों की मात्रा भी घटती जा रही है। कुछ लोग मछलियों के कम होने का कारण खेतों में प्रयुक्त होने होने वाले रसायन को बताते हैं। एक दिलचस्प तथ्य यह है कि कुछ निषाद तो गाँव में आयोजित होने वाले सत्संग के प्रभाव में आकर मछली खाना छोड़ रहे हैं जो उनके बीच हो रही संस्कृतीकरण प्रक्रिया को दिखाता है।

नाव रेत में पड़ी है

इस गाँव में निषादों के पारम्परिक कार्यों में जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया है, वह है नौका चालन से उनकी दूरी। विगत कुछ वर्षों पहले इस गाँव के कुछ निषाद सरयू नदी में नाव चलाते रहे हैं जो वर्तमान में समाप्ति की कगार पर है। हालाँकि, नौवहन का कार्य आंशिक रूप से वर्तमान में जारी है जब वर्षा के दिनों में सरयू नदी अपने उफान पर होती है तो नदी को पार करने का एकमात्र साधन नाव ही होती है। अन्य दिनों में लोग नदी पर बने पीपा पुल के सहारे नदी को पार करते हैं। वह दिन दूर नहीं जब इस गाँव का निषाद नाव चलाने से पूरी तरह मुक्त हो जायेगा। ऐसा इसलिए है क्योंकि सरयू नदी पर इस गाँव के बगल में एक विशाल सेतु का निर्माण कार्य चल रहा है। पुल के निर्माण से नौकाचालन का कार्य अचानक से बंदी की स्थिति में आ जाता है। जो जगह कभी नौपरिवहन के अनूकूल होती थी वह अचानक से वीरान हो जाती है।[12] यहाँ सबसे दिलचस्प बात यह है कि निषाद समुदाय ही कई वर्षों से इस सेतु को बनाए जाने की माँग करता रहा है। ऐसा इसलिए है क्योंकि निषाद अब नदी को नाव से नहीं मोटरसाइकिल से पार करना चाहता है। ये सारी प्रक्रियायें इस गाँव के निषादों को नाव चालन से बहुत दूर ले जा रही हैं। अब इस क्षेत्र में नाव चलाने वाले को अपनी जीविका चलाने में मुश्किल होती जा रही है। गाँव के बुजुर्ग जो पहले नाव चलाया करते थे, उन्हें अब नाव चलाने में कोई फायदा नजर नहीं आता है इसलिए उन्होंने नाव चलाना बंद कर दिया। वह पहले

दिन भर में सात से आठ चक्कर लगा लेते थे। इससे उन्हें अच्छी आमदनी हो जाती थी लेकिन जब से सरकारी पीपा पुल बन गया है एक चक्कर के लिए भी पर्याप्त सवारी नहीं मिलती। इन सब कारणों से उन्होंने नाव चलाना बंद कर दिया।

पारम्परिकता से व्यवसायिकता

इस गाँव के निषादों की आर्थिक दशा बहुत निम्न रही है। अपने परम्परागत व्यवसाय से निषाद समुदाय अतीत से लेकर वर्तमान तक सिर्फ़ अपना तथा अपने परिवार का भरण पोषण करता आया है। हाल के कुछ वर्षों पहले इस गाँव में सिर्फ़ झोपड़ी के घर नजर आते थे। गर्मियों के दिनों में झोपड़ी में अक्सर लगने वाली आग उनकी आर्थिक दशा को और भी निम्न बना देती थी लेकिन वर्तमान में इस गाँव में पक्के मकान भी बन रहे हैं जिसमें ज्यादातर सरकारी अनुदान से बन रहे हैं। कुछ वर्षों से निषादों की आर्थिक दशा में सुधार हो रहा है। इस सुधार का कारण उनका परम्परागत व्यवसाय नहीं है बल्कि अन्य कारण हैं। अन्य कारणों की बात करें तो निषादों के इस गाँव में युवकों का पलायन शहरों की तरफ तेजी से बढ़ा है। दशा यह है कि इस गाँव में 18 से 50 आयु वर्ग के लोग बहुत कम हैं। ये शहरों में मजदूरी करते है, जहाँ उन्हें पारम्परिक व्यवसाय से अधिक आमदनी हो जाती है। दूसरा कारण यह है कि इस गाँव में निषाद जातियों ने अपने जातिगत कार्यों को छोड़कर दूसरी जातियों के पेशे को अपना लिया है। जैसे इस गाँव के तप्पे निषाद स्थानीय बाजार में सब्जी की दुकान लगाते हैं। एक और निषाद जुखई उसी स्थानीय बाजार में हलवाई की दुकान चलाते हैं, एक नवयुवक मोबाइल सम्बन्धित दुकान में कार्य करता है। इसी तरह इस गाँव के निषादों ने कई अन्य तरह के व्यवसायों को अपना लिया है। गाँव के कुछ अन्य नवयुवक शहरों में छोटे-मोटे कार्यों की ठेकेदारी का भी कार्य करते हैं। इन सब कार्यों ने इस गाँव के निषादों की आर्थिक समृद्धि को बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।[13]

राजनीतिक सबलीकरण

चुनाव आधारित लोकतंत्र में अपने संख्या बल के आधार पर इस गाँव के निषाद समुदाय ने राजनीतिक शक्ति हासिल की है। पंचायती राज प्रणाली के

गठन के पश्चात अब तक ग्राम पंचायत के हुए चुनावों में निषादों ने एकछत्र अपना परचम लहराया है। इस गाँव में निषाद समुदाय की संख्या करीब 90 प्रतिशत होने के कारण किसी और समुदाय के प्रत्याशी का जीत पाना असंभव है। इस लोकतांत्रिक व्यवस्था ने इस गाँव के निषादों को ताकत दी जिसको बदौलत वे अपने ऊपर होने वाले अन्याय का सामना करते हैं। वे अपनी पहचान, अस्मिता तथा सम्मान की लड़ाई लड़ते हैं। चुनाव आधारित लोकतंत्र ने इस गाँव में कई चुनावी नेता पैदा किए हैं। त्रिस्तरीय पंचायत चुनाव में निर्वाचित तीनों स्तर के प्रतिनिधि कभी–कभी इसी समुदाय से होते हैं। इस गाँव के निषादों ने लोकतंत्र के स्थानीय परिसर में अपनी मजबूत उपस्थिति दर्ज कराई है।

सब्जियों से लहलहाते किनारे

शरद ऋतु की शुरुआत में यानी अक्टूबर बीतते बीतते सरयू सिमट रही होती है। तब इसके तट के ऊपर खाली हुई सैकड़ों एकड़ जमीन के ऊपर इस गाँव के निषाद समुदाय हरी सब्जियाँ, खीरा, ककड़ी, खरबूज तथा तरबूज की खेती करते हैं। थोड़ा तट से उपर वाली जमीन जहाँ नदी दूर–दूर से लाई गई गाद को जमा कर देती है, उस जमीन पर गेहूँ की जबरदस्त पैदावार होती है जो उन्हें सालभर के लिए गेहूँ उपलब्ध करा देती है। खेती करने में सम्पूर्ण परिवार के लोग शामिल होते हैं। नदी के मार्ग बदलने के कारण खेतों के निशान विलीन हो जाने के बाद निषाद लोग आपसी सहमति से पुनः यथास्थिति निर्धारित कर लेते हैं। यह यह भूमि अधिकारों का विवाद रहित अनोखा समझौता है। हालाँकि कुछ पैदावार जिनका पहले बहुत बड़ा बाजार होता था, अब उस बाजार के सिकुड़ने के कारण उनकी पैदावार बहुत कम हो गई है। जैसे पहले घाघरा के तटीय इलाकों में लाल मिर्च की खूब खेती होती थी। उसका बाजार पड़ोसी जिलों फ़ैज़ाबाद, आजमगढ़, अम्बेडकर नगर आदि जिलों तक जाता था। उदारीकरण के पश्चात बाजार में कम्पनियों द्वारा बनाए गये अचार के आ जाने के कारण यह कारोबार प्रभावित होता गया। वर्तमान में कुछ गिने–चुने लोग ही लाल मिर्च की पैदावार करते हैं।

बालू पर हकदारी का सवाल

जहाँ नदी है, वहाँ बालू है और इस बालू को लेकर होने वाली राजनीति है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बालू निकालने का काम फायदेमंद साबित

हुआ। इस पेशे पर दबंग समूह काबिज होने लगे। यूपी. माइनर एंड मिनिरल (कंसेशंस रूल) 1963 के नियम 9 (2) के द्वारा बालू निकालने के लिए वरीयता अधिकार उन जातियों को मिले जो बालू निकालने के काम में सदियों से संलग्न थी। इस नियम में यह भी उल्लेख किया गया कि जिसे बालू निकालने की अनुमति दी जायेगी, उसकी वित्तीय स्थिति को देखा जायेगा, यही वह बिन्दु है जहाँ बालू खनन में माफ़िया लोग प्रवेश कर लेते हैं। ठेका निषाद के नाम पर होता है और पैसा माफ़िया का लगता है। इस गाँव में भी बालू खनन पर अधिकार को लेकर क्षेत्र के दबंग समूह और निषादों के बीच संघर्ष चल रहा है। दबंग समूह के लोगों ने बालू खनन पर पूरी तरह से कब्जा कर रखा है। इसमें पुलिस तथा जिला प्रशासन भी की मिलीभगत रहती है।[14] इस गाँव के निषादों ने कई बार बालू खनन पर अपनी हकदारी और मशीनों द्वारा बालू निकालने का विरोध किया। इस गाँव के निषाद पहले परम्परागत औजारों से बालू निकालते थे। नदी किनारे बसे निषादों को इससे रोजगार मिल जाता था लेकिन मशीनों ने इस व्यवस्था को खत्म करके रोजगार कुछ ही हाथों में सीमित कर दिया। जब भी गाँव वाले बालू खनन को लेकर आंदोलित होते हैं तो पुलिस निषादों ही दमन करती है। कई बार तो आंदोलन की अगुआई करने वालों को धमकाया जाता है। इस डर से कोई अगुआई करने के लिए भी तैयार नहीं होता है। कभी कभी दबंग समूह के लोग आंदोलन को तोड़ने के लिए फूट डालने का भी कार्य करते है। इस समस्या को लेकर निषादों ने मुख्यमंत्री को ज्ञापन भी देते रहते हैं। बालू के लोडर्स के कारण सड़कें खराब हो जाती हैं। मशीन से अत्यधिक खनन के कारण खेत नदी की धारा में विलीन हो जाते हैं। कई लोगों के घर तो घर दो बार धारा में विलीन हो चुके हैं। गाँव में बालू खनन पर अपनी हकदारी के लिए निषाद लगातार गोलबंद हो रहे हैं।

यह कहा जा सकता है कि निषादों का नदियों और जल से जो प्राचीन सम्बन्ध रहा है, उसमें उत्तरोत्तर परिवर्तन देखने को मिल रहा है। वह अपने पारम्परिक कार्यों की जगह अन्य व्यावसायिक गतिविधियों को तरजीह दे रहा है। उसका रहन सहन और खानपान का ढाँचा बदलाव की ओर अग्रसर है। मछली मारकर और नाव चलाकर वह अपनी जीविका नहीं चला पा रहा है। बालू खनन पर अपनी हकदारी के लिए वह आज भी संघर्ष कर रहा है। 1990 में अपनी पुस्तक 'गवर्निंग द कॉमन्स' में नोबेल पुरस्कार विजेता एलिनर ऑस्ट्रम ने अपने महत्त्वपूर्ण शोध में दिखाया कि कैसे सार्वजनिक सम्पत्ति को उपयोगकर्ता

संघों द्वारा सफलतापूर्वक प्रबंधित किया जा सकता है। चूँकि नदी एक सार्वजनिक सम्पत्ति है और निषाद इसके उपयोगकर्ता इसलिए निषाद समुदाय नदी के संसाधनों को उपयोगकर्ता संघ बनाकर उसका प्रबंधन कर सकते हैं।[15] निषादों की पहली पीढ़ी विद्यालय और उच्च शिक्षण संस्थानो में पहुँच रही है। स्थानीय स्तर पर मिली राजनीतिक सफलता को आधार बनाकर सत्ता की सीढ़ियाँ चढ़ने की लालसा उसके हृदय में बलवती होती जा रही है। निषाद बदलाव की दिशा में निरन्तर अग्रसर हैं। अब यह बदलाव कितना उनके पक्ष में है कितना विपक्ष में यह आने वाला वक़्त ही बताएगा।

सन्दर्भ :

1. अस्सा डोरोन (2008); रमाशंकर सिंह (2022).
2. एच.आर.नेविल (1909),पृष्ठ 13-14.
3. फील्ड डायरी, मार्च 2019.
4. प्राइमरी सेंसस एब्सट्रैक्ट सी.डी., ब्लाक वाइज उत्तरप्रदेश डिस्ट्रिक्ट गोरखपुर, 2011. https://censusindia.gov.in/nada/index.php/catalog/40867
5. फील्ड डायरी, मार्च 2019.
6. एस. डेन शायर (2014), पृष्ठ 831-850.
7. उनका यह मत कुबेरनाथ राय के निबंध 'निषाद बांसुरी' से लिया गया लगता है.
8. फील्ड डायरी, 2019, निषाद समुदाय की राजनीतिक गोलबंदी का यह प्रयोग क्षेत्र रहा है। इसी क्षेत्र में निषाद पार्टी ने अपनी राजनीतिक जमीन सबसे पहले तलाशी. इस गोलबंदी में जिस तरह से इतिहास और स्मृतियों का प्रयोग किया गया उससे यह मत और मजबूत हुए हैं. इतिहास और स्मृति के अंतर्सम्बन्धों की विधिवत व्याख्या के लिए बद्री नारायण (2014) देखिए.
9. विलियम क्रूक (1999), पृष्ठ 219-220; रमाशंकर सिंह (2022).
10. फील्ड डायरी, मार्च 2019.
11. कन्नड़ साहित्यकार और इतिहासकार डी.आर. नागराज ने 'टेक्नोसाइड समुदाय' की अवधारणा प्रस्तुत की है. इसमें उन्होंने माना है कि आधुनिकता और तकनीकी ने उन समुदायों का नुकसान किया है जिनका जीवन शिल्पों पर आधारित रहा है. इसके बारे में और विस्तार से जानकारी के लिए देंखे, डी. आर. नागराज (2018), पृष्ठ 179-181.
12. गोविंद निषाद (2023).
13. फील्ड डायरी, 2019.
14. रमाशंकर सिंह (2017), पृष्ठ 275.
15. एलिनर ऑस्ट्रम (1990).

नदी, मेला और हाशिये के समुदाय : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

गुंजन राजवंशी

देश की 43 प्रतिशत से अधिक आबादी किसी–न–किसी रूप में नदियों पर आश्रित है। भारत में मेले नदियों के तट पर, उनके संगम पर या धार्मिक स्थानों पर लगते हैं और जहाँ तक कुम्भ का सवाल है, वह प्रायः नदियों के तट पर ही लगते हैं। श्रद्धालु उन नदियों में स्नान कर पुण्य अर्जित कर खुद को धन्य समझते हैं। इस सबके बावजूद तीर्थों की शुचिता को बनाए रखने की चिंता किसी को है? लेकिन विडम्बना यह है कि वे उस नदी के जीवन के बारे में कभी नहीं सोचते। देश की नदियों के बारे में केन्द्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड की मानें तो देशभर के 900 से अधिक शहरों और कस्बों का 70 फीसदी प्रदूषित पानी पेयजल की प्रमुख स्रोत नदियों में बिना शोधन के ही छोड़ दिया जाता है। आज गंगा को दुनिया में छठी सबसे प्रदूषित नदी माना जाने लगा है।[1] नदियों को प्रदूषित करने में दिनों–दिन बढ़ते उद्योगों प्रमुख भूमिका निभाई है। आज देश की लगभग 70 फ़ीसदी नदियाँ प्रदूषित हैं और मरने की कगार पर हैं। इनमे गुजरात की अमलाखेड़ी, साबरमती और खारी, हरियाणा की मार्कंड, उत्तर प्रदेश की काली और हिंडन, आन्ध्र की मुन्सी, दिल्ली की यमुना और महाराष्ट्र की भीमा नदियाँ सबसे ज्यादा प्रदूषित हैं।

यह उस देश में हो रहा है, जहाँ आदिकाल से नदियाँ मानव के लिए जीवनदायिनी रही हैं। भारत में बहुत से समुदाय प्राकृतिक संसाधनों पर ही आश्रित हैं, जैसे बंसोड़, निषाद, मल्लाह, डोम और अन्य समुदाय। तीर्थों के उद्भव एवं विकास से इन समुदायों को उनकी जीविका के साधन किसी–न–किसी प्रकार

से यहाँ से जुटते थे[2] और ये तीर्थ स्थल और मेले एक सामाजिक–आर्थिक सन्दर्भ के रूप में भी देखे जाने लगे। लेकिन वर्तमान में यह तीर्थ और मेले पर्यावरणीय हानियों और प्रदूषण से ग्रस्त हुए हैं जिससे इन पर आश्रित समुदायों के जीवन पर बुरा असर पड़ा है। पर्यावरणीय समाज वैज्ञानिक वंदना शिवा का कहना है कि यदि गंगा जिंदा है तो भारत जिंदा हैं, और यदि गंगा मर गई तो भारत भी मर जायेगा।[3] गंगा नदी भारत की पारिस्थितिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक जीवन रेखा है। भारतीय जनों द्वारा लगातार पारिस्थितिकीय और सांस्कृतिक आधारों से कट जाने, उपभोक्तावाद और लालच में फँसते चले जाने के कारण नदियाँ लगातार प्रदूषित और बदबूदार होती गई हैं। इस शोध पत्र में मैं यह देखना चाहती हूँ कि नदियों के किनारे सांस्कृतिक और धार्मिक मेले, विशेषकर 2019 में आयोजित अर्धकुम्भ के मेले का महत्त्व पहले किस प्रकार था और अब उसका स्वरूप किस तरह का हो गया। क्या मेले और धार्मिक आयोजन समाज के आंतरिक और बाह्य विभेदों, घृणा और वैमनस्य (सामाजिक प्रदूषण) को मिटाने में सहायक सिद्ध हो रहे हैं या नहीं? धार्मिक आयोजनों की वजह से होने वाले पर्यावरणीय प्रदूषण से नदियों और इस पर निर्भर समुदाय किस तरह से प्रभावित होते हैं? कुम्भ मेले के आयोजन से हाशिये के समुदाय किस प्रकार प्रभावित होते हैं, इसको भी समझने का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत लेख में इसकी अध्ययन पद्धति, सामाजिक–सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में मानव जीवन पर मेलों एवं नदियों के महत्त्व बात की गई है। इसके अगले हिस्से में क्षेत्रीय अवलोकन के आधार पर यह रेखांकित किया गया है कि कुम्भ के आयोजन का हाशिये के समुदायों पर क्या प्रभाव पड़ता है और इसके साथ–साथ गंगा नदी और कुम्भ मेला क्षेत्र में प्रदूषण और कचरा किस प्रकार एक सामाजिक समस्या बन जाता है। अभी तक कुम्भ या तीर्थस्थलों पर बहुत अध्ययन हुए हैं लेकिन ऐसे अध्ययन बहुत कम हुए हैं जो कुम्भ की समाप्ति के बाद फैली अव्यवस्था पर प्रकाश डालते हों।

इस आलेख में उद्‌देश्यपूर्ण निदर्शन का प्रयोग करते हुए प्रयागराज के मेला क्षेत्र को अध्ययन के लिए चुना गया है और शोध प्रविधि के रूप में कुम्भ मेला क्षेत्र और इसके आसपास के इलाकों में गहन क्षेत्रीय कार्य के साथ द्वितीयक समाजशास्त्रीय स्त्रोतों को उपयोग में लाया गया है। कुम्भ मेले में आए हुए

व्यक्तियों से, विशेषकर केवट, वहाँ पर तैनात सफाईकर्मियों से, गंगा और यमुना और गंगा नदी के किनारों पर बसी मलिन बस्तियों जैसे चुंगी झोपड़पट्टी, मिंटो पार्क बस्ती तथा गौघाट, बंसवार डंपिंग प्लांट (नैनी) के आसपास के गाँव जैसे ठाकुरपुरवा, मोहब्बतगंज और सिमता के विभिन्न आयुवर्ग के लोगों से लंबी बातचीत की गई है। द्वितीयक स्रोतों में विभिन्न रिपोर्ट, क्षेत्रीय समाचारपत्र, पुलिस रिकार्ड्स, मेले से सम्बन्धित साहित्य की सहायता ली गई है।

मेलों एवं नदियों का सामाजिक-सांस्कृतिक महत्त्व

भारत के त्यौहार वर्ष भर चलते रहते हैं। हिन्दू धर्म में छोटे से छोटा त्यौहार, पूजा–संस्कार आदि जलाशयों और नदियों के तटों पर ही होते हैं। भैया दूज, गंगा–दशहरा आदि तो पूर्णरूपेण नदी पर्व हैं। रामनवमी, गंगा दशहरा, सावन के सोमवार, कांवड़ यात्रा और उससे जुड़े मेले, कार्तिक पूर्णिमा के स्नान के अलावा क्षेत्रीय मेलों की भरमार रहती है लेकिन उत्तर प्रदेश सहित उत्तर भारत में कुम्भ का मेला एक महत्त्वपूर्ण मेला है। इन मेलों में कलाकार, नृत्य और संगीत से जुड़े लोग, कारीगर–दस्तकार, घरेलू उपयोग के सामान बनाने वालों के साथ लोहार, सोनार, बिसाती आदि भाग लेते रहे हैं। ये मेले व उत्सव एक तरह का ''पब्लिक स्पेस''[4] बनाते है जहाँ पर करोड़ों की तादाद में लोग जमा होते हैं। विद्वतजन इस बात को कहते रहे हैं कि गंगा और अन्य नदियों के किनारे स्थित तीर्थस्थल एक जन–अवधारणा के रूप में प्रतिष्ठित रहे हैं। प्रयाग में गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम पर आयोजित होने वाला कुम्भ मेला भारतीय उपमहाद्वीप को एक खुले समाज के रूप में प्रस्तुत करता है जिसमें बच्चे, विधवाएँ, घुमक्कड़, संन्यासी, पुजारी, किसान, व्यापारी, सैनिक, शासक और जमींदार आपस के बंधन तोड़कर एक समय के लिए आपस में घुलमिल जाते हैं। जाति धर्म की कोई बंदिश नहीं होती है। विभिन्न क्षेत्र के लोगों की बोलियाँ, भाषाएँ, संस्कृति, लोक कलाएँ एक जगह आकर घुल–मिल जाती हैं।

सामान्य रूप से, भारत में हिन्दू गंगा के पानी को केवल एक ''प्राकृतिक संसाधन'' के रूप में नहीं देखते बल्कि ''पवित्र'' रूप में देखते हैं। उनका मानना रहता है कि गंगा में स्नान करके जीवन भर के पाप धुल जाते हैं और मोक्ष प्राप्त

होता है। दुर्खीम के अनुसार कोई भी वस्तु अपने अंतर्निहित गुणों या उपयोगितावादी मूल्यों के कारण पवित्र नहीं होती, बल्कि इसलिए पवित्र होती है कि समाज इसको विशेष आदर व सम्मान देता है और ऊँचा स्थान प्रदान करता है।[5] यदि बात करें जनजातीय समाज की तो इन समुदायों में टोटेम[6] को बहुत पवित्र माना जाता है और उससे वे भावनात्मक लगाव भी रखते हैं। वे उसे विशेष सम्मान या श्रद्धा भी प्रदान करते हैं। इनको हानि नहीं पहुँचाते तथा इनमें निहित अलौकिक शक्ति की मान्यताओं के कारण इनको अपना रक्षक मानते हैं लेकिन यहाँ गंगा के सन्दर्भ में मामला बिल्कुल उल्टा है। गंगा को पवित्र और जीवनदायनी तो माना जा रहा है लेकिन उसके संरक्षण की जिम्मेदारी कोई नहीं उठाना चाहता है।

कुम्भ मेला और हाशिये का समाज

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। जितना महत्त्वपूर्ण उसके लिए प्राकृतिक पर्यावरण है, उतना ही महत्त्वपूर्ण सामाजिक पर्यावरण भी है। मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण सामाजिक पर्यावरण के विभिन्न पक्षों के आधार पर होता है– जैसे सामाजिक ढाँचा, नियम, संस्थाएँ और इसके अलावा अनेक सांस्कृतिक प्रतिमान जैसे धर्म, भाषा, नैतिकता, प्रथा, परंपरा और मूल्य मानव जीवन को प्रभावित करते हैं। मानवीय समाज में अगर किसी तरह का आपसी विभेद, घृणा और वैमनस्य पैदा होता था तो उसको संगोष्ठियों, सम्मेलनों, मेलों का आयोजन करके मिटाने का प्रयास किया जाता था। इसी परम्परा को जीवित रखने का एक माध्यम मेले भी थे। न केवल धार्मिक मेले बल्कि गाँव, कस्बों में प्रत्येक वर्ष आयोजित होने वाले मेले भी इस परम्परा को बनाये रखने में सहायक सिद्ध होते हैं। कुम्भ मेला मिलने जुलने और सौहार्द्र का प्रतीक है जहाँ अमीर–गरीब, विभिन्न धर्मों के अनुयायी, जाति और सम्प्रदाय के लोग मिलते रहे हैं और एक बेहतर एवं न्यायपूर्ण समाज बनाने में मदद करते थे।

अब हम इस विमर्श को कुम्भ मेला 2019 पर केंद्रित करेंगे। यह मेला लगभग तीन महीने तक प्रयागराज में गंगा और यमुना संगम पर लगा था। इसमें नदी, नदी का किनारा और उसके आसपास का एक व्यापक इलाका आता है

जिसमें गंगा के किनारे झूंसी–दारागंज से लेकर मेला फाफामऊ तक चला जाता है। फिर उसके बाद दारागंज से संगम तक यह फैला रहता है। संगम के दाहिने तरफ़ अरैल तक यह फैला रहता है। इस पर एक बड़ा क्षेत्र 'मेला क्षेत्र' के अंतर्गत आ जाता है। इस प्रकार जब हम 'मेला' कहते हैं तो उसमें एक ऐसा बहुरूपी स्थल शामिल होता है जिसमें आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनैतिक विचार काम कर रहे होते हैं और उस क्षेत्र में अमीर, गरीब, पिछड़े, वंचित समूह सभी शामिल होते हैं। मेला उनको विभिन्न प्रकार के अवसर प्रदान करता है। ये अवसर किसी के लिए अधिक तो किसी के लिए बहुत कम होता है। इसका निर्धारण व्यक्ति की वर्तमान प्रस्थिति भी करती है। इसी सन्दर्भ में वर्तमान में आयोजित होने वाले धार्मिक मेलों की परिभाषा ही बदल गई है। गरीब तबका इन मेलों को कुछ दिनों के रहने और भोजन के साधन के रूप में देखता है। साधु–संतमेले को धार्मिक दृष्टि के साथ–साथ अपनी आजीविका के रूप में उपयोगी मानते हैं। नदियों के आस–पास स्थायी रूप से बसने वाले लोग इसे अस्थायी रोजगार के रूप में देखते है। छोटे–बड़े व्यापारियों के लिए मेला आर्थिक व्यापार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होता है। राजनैतिक पार्टियों के नेतागण इसको एक पॉलिटिकल स्पेस के रूप में देखते हैं। निषादों को अपने रोजगार को लेकर मेलों का महत्त्व नज़र आता है। कहा जाता है कि कुम्भ सभी के लिए बराबर व्यवहार करता है। यह एक द्रवित पात्र है जिसमें सभी लोग मिलकर भारतीय संस्कृति के लिए एकता और अखंडता का प्रतीक समझते हैं लेकिन यहाँ पर एक महत्त्वपूर्ण सवाल करना काफ़ी जरूरी हो जाता है कि क्या कुम्भ मेला समाज के सभी तबकों के लिए बराबरी का अवसर प्रदान करता है? क्या सबकी पहुँच समान रूप से कुम्भ तक रही है अथवा यह कुछ ही तबकों तक ही सीमित होकर रह गया? क्या समाज में व्याप्त असमानता, भेद–भाव, छूआछूत और घृणा आदि मिटाने में यह कुम्भ कामयाब रहा?

सफाई कर्मचारियों की समस्याएँ

मेले में सफाई कर्मचारियों को 'स्वच्छाग्रही' नाम दिया गया था। एक सफाई कर्मचारी की एक साधु ने पिटाई केवल इस बात के लिए कर दी कि सफाई

के दौरान सफाईकर्मी से साधु की बाल्टी छू गई। इससे नाराज होकर साधु ने उस कर्मचारी की पिटाई की और जाति सूचक गालियाँ दीं और सफाईकर्मी का हाथ भी तोड़ दिया। इस तरह का कार्य एक साधु की छवि को कलंकित करता है। दूसरी तरफ़ देश के प्रधानमंत्री जी ने सफाई कर्मियों के पैर धोकर उनका सम्मान किया। ये दोनों घटनाएँ एक-दूसरे के विपरीत लगती हैं। एक तरफ साधु उसकी नीची जाति (मेहतर) और उसके व्यवसाय को गन्दा समझकर उसके साथ जानवरों की तरह व्यवहार करता है जैसे कि वह इंसान ही नहीं। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के द्वारा पाँच सफाई कर्मियों के पैर धुलने की घटना का एक प्रतीकात्मक महत्त्व है लेकिन पूरे सफाई कर्मियों/पूरे समुदाय की अस्पृश्यता को मिटाने और एक समतापूर्ण समाज के निर्माण के लिए अभी लंबी दूरी तय करनी पड़ेगी। कुम्भ मेले के दौरान मेरी जिन सफाई कर्मचारियों से बात हुई, उनका कहना था कि ''अगर वह चुप रहता तो शायद उसका हाथ न टूटता। अगर वह साधु की गाली सहन कर लेता तो उसको साधु नहीं मारता।'' उन्होंने आगे कहा कि ''मैडम, हम लोगन बोलय कोई अधिकार नहीं हैं, हम लोगन कोई सुनवाई नहीं हैं साधू ऊची जाति का था तो पुलिस वाले भी कुछ नहीं करिहें''। उन्होंने अपनी और भी समस्याओं के बारे में बताया कि ''हम लोग लगभग एक महीने से कुम्भ परिसर में काम कर रहे हैं लेकिन हम लोगों का पैसा अभी तक नहीं आया हैं। हम हर साल आते हैं यहाँ काम करने के लिए पिछले साल माघ मेले के भी एक महीने के पैसे नहीं मिले। जब ठेकेदार से बोलो तो वो टरका देता है और कहता कि जल्द ही मिल जायेंगे पैसे, पैसे न मिल पाने के कारण यहाँ खाने पीने की बहुत दिक्कत होती है।''

अक्सर ऐसा माना जाता है कि दलित जहाँ रहते हैं, वह जगह कलंकित मानी जाने लगती है। उनकी ''स्थानिकता को कलंकित''[7] किया जाता है। इसीलिए उनकी बस्तियाँ भी अलग छोर पर होती हैं। रहनवारी के आधार पर अस्पृश्य जातियों की बस्तियों को आज भी अपमानजनक नामों से पुकारा जाता है जैसे कर्नाटक में हल्गेरी, तमिलनाडु में चेरी और महाराष्ट्र में मंगवाड़।[8] उत्तर प्रदेश के गाँवों में ऐसा अभी तक देखने को मिलता है जैसे- चमारपट्टी[9] या चमरौटी, पसियाना, धोबिओरा और शहरों में मलिन बस्ती एकदम हाशिये पर

अलग–थलग। सफाई कर्मचारियों की इन समस्याओं के साथ ही जात–पात भी खूब देखने को मिलती है। मेला क्षेत्र भी इससे अछूते नहीं रहे हैं। मेला क्षेत्र में सफाई कर्मचरियों की बसावट के सन्दर्भ में बात करें तो यह देखा गया कि मेले में बहुत ही संरचनात्मक ढंग से उन्हें ''दक्षिण दिशा के टोलों''[10] में बसाया गया। सफाई कर्मचारियों के रहने के जो टेंट आवंटित किए गये, वे अधिकांशत: दक्षिण दिशा में थे जहाँ पर अस्थाई शौचालय बनाए गये थे। अपनी अन्य समस्याओं को लेकर सफाई कर्मचारी आंदोलन भी करते रहे और लगातार धमकी भी देते रहे कि समस्याओं से निजात न मिला तो वो मेले के बीच में ही काम छोड़कर चले जायेंगे। शहरी गरीबों पर काम करने वाले लोगों और सिविल सोसाइटी से जुड़े विद्वानों ने इस ओर बार–बार ध्यान दिलाया है कि सफाई कर्मचारियों के लिए रहने के लिए निश्चित जगहों का आवंटन और अन्य सुविधाजनक टेंट की उपलब्धता होनी चाहिए[11] लेकिन 2019 के अर्धकुम्भ में भी स्थिति कोई खास नहीं सुधरी। सफाई कर्मचारियों की रहने के लिए नम, गंदे नाले के किनारे और शौचालयों के बगल में रहने के लिए जगह दी गई। जिस प्रकार गाँवों में गंदगी से भरा बजबजाता हुआ कोना दलित जातियों के लिए होता है और शहरों में स्लम, उसी प्रकार मेले में भी एक दलितों का स्लम था जिनमे हजारों की संख्या में आए सफाई कर्मचारी अपने बाल–बच्चों के साथ रहने को को मजबूर थे। सफाईकर्मियों ने बताया कि ज्यादातर वही पुराने टेंट हैं जिनमें बैठना तो दूर खड़े होना भी दूभर है। जहाँ नए टेंट दिए गये हैं, वहाँ पर 16 लोगों को दो टेंट उपलब्ध कराए गये। इन टेंटों के चारों तरफ से टिन का बाड़ा (दीवार) बनाकर घेर दिया गया है ताकि सफाई कर्मचारियों के टैंटों से मेले की खूबसूरती बेकार न हो जाये।

मेले में सफाई व्यवस्था दुरुस्त रखने के लिए प्रदेश भर से ठेके पर लगभग बीस हज़ार सफाई कर्मचारियों को कुम्भ मेला क्षेत्र में सफाई करने के लिए लगाया गया था। रहने के लिए मेला क्षेत्र में ही कैंप लगवाए गये थे, लेकिन मेला क्षेत्र में कैंप लगवाने भर से सरकार का काम समाप्त नहीं हो जाता है। यह देखना होगा कि इन सफाईकर्मियों ने मेला परिसर को साफ़ करने का जिम्मा उठाया और इनकी सफाई व्यवस्था के बल बूते पर ही गिनीज़ ऑफ़ वर्ल्ड रिकॉर्ड में नाम दर्ज करवाया। क्या उनके साथ न्यायपूर्ण, सम्मानपूर्ण व्यवहार किया गया?

उत्तर प्रदेश के जिला बांदा से आए चौबीस साल के राजेश पहले गुजरात में मजदूरी करने जाते थे, लेकिन ठेकेदार ने बताया कि कुम्भ में चलो, वहाँ बहुत काम है। ''घर के नजदीक होने के कारण मैं यहाँ आ तो गया लेकिन अब मुझे बहुत पछतावा हो रहा है।'' राजेश ने कहा कि ''285 रुपये प्रतिदिन के हिसाब से पैसे मिलने की बात ठेकेदार ने कही थी। लगभग डेढ़ महीना बीत गया, लेकिन अभी तक एक दिन का भी पैसा नहीं मिला है। ऐसे में अब मुझे लग रहा है कि गुजरात ही चला गया होता तो अच्छा रहता।'' राजेश अपनी बात जारी रखते है, ''हम जो काम करते हैं वो सब आदमी कर भी नहीं सकते। हर तरह गन्दगी साफ़ करते हैं। लेकिन हमें यहाँ ठीक से रहने तक की व्यवस्था भी नहीं की गई है। जब से मैं यहाँ आया हूँ, दो बार घर जा चुका हूँ राशन लाने के लिए, अब तो सोच रहा हूँ कि एक बार पैसा मिल जाये। फिर किसी और काम के बारे में सोचूँगा।[12] इन सफ़ाईकर्मियों को इसी तरह की कई अन्य समस्याओं का सामना प्रतिदिन करना पड़ा। मेला प्रशासन ने इनकी समस्यायों पर ध्यान देना जरूरी भी नहीं समझा। कुम्भ में सफाईकर्मियों की समस्याओं तथा उनके लिए आवाज़ उठाने के लिए ''सफाई मजदूर एकता मंच'' प्रयागराज के अध्यक्ष रामसिया, एवं सामाजिक कार्यकर्त्ता व कवि अंशु मालवीय ने इनके हक़ के लिए और दिहाड़ी बढाने के लिए आवाज उठाई थी। लेकिन उनको भी मेला क्षेत्र में बोलने से रोक दिया गया।

निषाद समुदाय की समस्याएँ

वर्तमान समय के इलाहाबाद में गंगा नदी के किनारे के तटों पर निषादों की घनी आवासीय बस्तियाँ हैं। वे नदी के किनारे के गाँवों और इलाहाबाद के शहर के उन बाहरी इलाकों में बसे हैं जहाँ से होकर गंगा और यमुना नदी बहती हैं। इनकी जीविका का आधार गंगा नदी के तट पर लगने वाले वार्षिक माघ मेलों, बारह वर्ष के अंतराल में पर लगने वाले कुम्भ मेले में आने वाले तीर्थयात्री होते हैं। लेकिन इस बार के अर्धकुम्भ में ऐसे ही कई समुदायों को अपनी जीविका से बेदखल होना पड़ा। हम यहाँ बात कर रहे हैं निषाद समुदाय की जिनकी जीविका गंगा नदी पर आश्रित है। कुम्भ मेला क्षेत्र में सम्पूर्ण वर्ष निषाद पर्यटकों

को नाव से नदी की कुम्भ सैर कराते हैं, वे नोन-तेल की जद्दोजहद में लगे रहते हैं। कुम्भ मेला शुरू होने से पहले उन नाविकों को नदी में नाव चलाने से प्रतिबंधित कर दिया गया जिनके पास नाव का लाइसेंस नहीं था। उनमें से कुछ के नाव का लाइसेंस बनवाने के पैसे भी नहीं थे। वे निषाद जो पैसे देने में सक्षम थे, उनको प्रवेश मिल गया। इसके अलावा नाविकों को मेला प्रशासन ने 7 से 10 की संख्या में 'लाइफ़ जैकेट' खरीदने को कहा गया जिससे नाव चलाने के लिए उनके ऊपर अतिरिक्त बोझ आ गया। इसकी वज़ह से आर्थिक रूप से कमजोर नाव चालकों की अजीविका पर असर पड़ा। इनकी आजीविका पर सर्वाधिक नकारात्मक प्रभाव तब पड़ा जब मेला प्रशासन ने संगम क्षेत्र में नाव चलाने का ठेका कुछ प्राइवेट कंपनियों को दे दिया। इस क्रूज कल्चर की वजह से आजीविका कमाना दूभर हो गया। इसी प्रकार इलेक्ट्रॉनिक रिक्शा वाले, ऑटो वाले, स्ट्रीट वेंडरों को, स्लम बस्तियों के लोगों को मेला क्षेत्र की मुख्य सड़कों पर अपनी आजीविका कमाने की इजाजत नहीं थी। मेले की बसावट ऐसी बनाई गई थी जिसमें मेले में छोटे व्यापारी मुख्य मेले में अपनी दुकान नहीं लगा सके।

कुछ अन्य गंभीर समस्याएँ

मेला क्षेत्र से निकला हुआ कचरा आम जनता के लिए परेशानी का सबब भी बनता है। कुम्भ में कचरे के निस्तारण की और उससे होने वाली गरीब जनता के जीवन पर प्रभाव की तरफ़ हमें ज़रूर देखना चाहिए। कुम्भ में करोंड़ों की संख्या में आए हुए तीर्थयात्रियों को हर तरह की सुविधा मुहैया कराने के साथ-साथ शौचालयों और कचरा डंप करने के लिए कूड़ेदान की भी सुविधा दी गई थी। लेकिन जमा होते हुए कचरे का निस्तारण कैसे होगा, इसका प्रबंधन प्रशासन द्वारा नहीं किया गया। काफी समय बीत जाने के बाद भी कुम्भ मेला क्षेत्र से निकले हुए कचरे के निस्तारण की प्रक्रिया अभी भी अधर में लटकी रही थी और मानसून के दिनों में इसके और भी भयावह होने की आशंका बढ़ जाती है। इस समस्या के समाधान के लिए प्रशासनिक तबका काफी चिंतित नजर आता है। कुछ अधिकारियों की मानें तो उनके अनुसार करीब तीन लाख मीट्रिक

टन कचरे का ढेर खड़ा हो चुका है।[13] अपने स्तर पर इसके निस्तारण का प्रयास भी किया गया। लेकिन जो भी प्रयास किए गये, वे पर्यावरण की दृष्टि से अनुकूल नहीं हैं। कचरे से पर्यावरण और नदी के प्रदूषित होने का संकट गहराता है। पूरे मेला क्षेत्र में जगह–जगह पर मल–मूत्र, प्लास्टिक, पुआल, पूजा सामग्री और अन्य तरह के कचरे को या तो मेला क्षेत्र में ही गढ्डों में भरकर ऊपर से बालू/मिटटी डालकर बंद कर दिया गया या फिर उन्हें जला दिया गया। ऐसे में गंगा नदी में जब पानी बढ़ता है तब नदी प्रदूषित हो जाती है। मेला प्रशासन दावा करता रहा है कि मेला क्षेत्र का अधिकतर कचरा सीवेज ट्रीटमेंट प्लांट्स तक पहुंचा दिया जाता है और अब मेला क्षेत्र बिल्कुल साफ़ है लेकिन वास्तविकता कुछ और ही बयान कर रही है। शौचालयों की गन्दगी को भी कुछ क्षेत्रों में बिना डिस्पोज किये छोड़ दिया गया और नदी की सफाई को भी कुम्भ मेला ख़त्म होते ही रोक दिया गया। कुम्भ के लिए शौचालयों का खूब निर्माण करवाया गया। कुम्भ स्थल से लेकर नैनी और झूसी से लेकर फाफामऊ तक शौचालयों के आदमकद बक्सों की लाइन लगी थी– गुलाबी और नीले रंग। शौचालयों के अस्थायी गड्ढों का निर्माण भी वही मेला परिसर में ही करवाया गया। शौचालयों से निकला मानव अपशिष्ट एक अलग नाले से जोड़ दिया गया। यह नदी के पानी से अलग बहाव था लेकिन एक प्रोजेक्ट की रिपोर्ट से यह बात सामने आयी कि वह नाला आगे नैनी के पास जाकर गंगा नदी में मिल जाता है। जब हमने वहाँ जाकर स्वयं निरीक्षण किया तो पता लगा कि वाकई में यह नाला गंगा नदी में ही मिल जाता है जिससे नदी का पानी प्रदूषित होता है।[14]

कुम्भ के बाद गंगा प्रदूषण को लेकर पर्यावरणविद और अधिवक्ता एमसी मेहता ने राष्ट्रीय हरित न्यायाधिकरण से सरकारी आदेशों के उल्लंघन और प्रदूषण से बचाव के लिए तत्काल कदम उठाये जाने की माँग की थी। एन.जी.टी. के अध्यक्ष द्वारा निर्मित समिति ने कुम्भ क्षेत्र का जायजा लिया और अपनी तथ्यात्मक रिपोर्ट में कहा कि करीब 2000 टन कचरा बिना छंटाई के खुले में ही बंसवार प्लांट पर लाया गया है। जबकि यह प्लांट सितम्बर 2018 से बंद है। समिति ने यह भी कहा कि प्लांट में कचरे को बिना छांटे और बिना ढके रखा गया है। यह न सिर्फ़ ठोस कचरा प्रबंधन अधिनियम, 2016 के नियमो का उल्लंघन

है बल्कि एन.जी. टी. के पूर्व आदेशों की भी अवहेलना है। डायरिया, बुखार, वायरल हेपेटाईटिस और कॉलरा की बीमारी के ख़तरे का पूर्वानुमान लगाते हुए एन.जी.टी. ने कहा कि तुरंत ज़िम्मेदार लोगों की जवाबदेही तय करने की जरूरत है, ताकि महामारी फैलने से रोका जा सके।[15] जितेन्द्र निषाद का कहना था कि कुम्भ के आयोजन के लिए सरकार की प्रशंसा हो रही है, लेकिन त्यौहार के दौरान जो कचरा डंप किया गया था, वह अभी भी यहाँ पड़ा हुआ है, ''इसे उठाया जाता है या नहीं, और लोग इसकी वजह से मरते है या नहीं, सरकार इसकी परवाह नहीं करती।'' जितेन्द्र निषाद, ठाकुरपुरवा गाँव के निवासी हैं जो बंसवार सयंत्र के बगल में स्थित है। एक दूसरा मामला भी यहीं का था। एक स्थानीय समोसा विक्रेता, 50 वर्षीय विजय कुमार का कहना था कि ''बदबू के बावजूद, सरकार की ओर से कोई भी यहाँ छिड़काव करने नहीं आता है, कई तरह के कीड़े–मकोड़े और मच्छर यहाँ पैदा हो रहे हैं। मेरे अपने बेटे को स्किन इन्फेक्शन हो गया और हमें उसके इलाज़ पर 40,000 रुपये खर्च करने पड़े।''[16] इसी तरह प्रयागराज में पुराने यमुना ब्रिज के नीचे गौघाट मलिन बस्ती में लगभग हर व्यक्ति परेशान है। पीने के पानी को लेकर आए दिन बच्चे से लेकर बूढ़े तक बीमार होते हैं। उनका कहना है कि यह सब गंदे पानी से ही पेट की बीमारियाँ पनप रही हैं। हम लोगों का तो रहना ही मुश्किल हो गया है।

पर्यावरण, वन एवं जलवायु परिवर्तन मंत्रालय के अधीन आने वाली संस्था केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड द्वारा आर.टी. आई के तहत मुहैया कराई गई सूचना के मुताबिक साल 2017 में गंगा नदी में बी.ओ. डी. (बायोकेमिकल ऑक्सीजन डिमांड) की मात्रा बहुत ज्यादा थी। इतना ही नहीं, नदी के पानी में डी.ओ. (घुलित ऑक्सीजन) की मात्रा ज्यादातर जगहों में लगातार घट रही है। वैज्ञानिक मापदंडों के मुताबिक स्वच्छ नदी में बीओडी का स्तर 3 मिलीग्राम/ लीटर से कम होना चाहिए, वहीं डीओ लेवल 4 मिलीग्राम/लीटर से ज्यादा होना चाहिए। अगर बीओडी लेवल 3 से ज्यादा है तो इसका मतलब है कि वह पानी नहाने, धोने के लिए भी सही नहीं है।[17] पर्यावरण के प्रदूषण से कैंसर रोग का सीधा सम्बन्ध होता है। भारत में कैंसर पर शोध कर रहे कुछ वैज्ञानिकों ने सन 2012

में पाया कि भारत में कहीं भी कैंसर के कई रूप उतने व्याप्त नहीं हैं, जितने गंगा के इलाके में है। खासकर उत्तर प्रदेश, बिहार और पश्चिम बंगाल में पाप धोने वाली पवित्र गंगा को हमने जानलेवा रोगों का स्रोत बना दिया है। इसमें उद्योगों से आने वाले जहरीले पानी का भी हाथ है। गंगा के पानी में अब कैंसरकारक रसायन पाए जाते हैं।[18] असल में प्राकृतिक संसाधनों के दोहन का खामियाजा सबसे ज्यादा नदियों को और उसके किनारे बसे समुदायों को ही भुगतना पड़ा है। मोक्षदायिनी राष्ट्रीय नदी गंगा को इतना प्रदूषित कर डाला गया है कि कन्नौज, कानपुर, इलाहाबाद, वाराणसी और पटना सहित कई जगहों पर गंगाजल आचमन लायक भी नहीं रहा है। कानपुर से आगे का जल पित्ताशय के कैंसर और आंत्रशोध जैसी भयंकर बीमारियों का सबब बन गया है। यही नहीं, कभी खराब न होने वाला गंगाजल का खास लक्षण–गुण भी अब खत्म होता जा रहा है।[19]

एक समय यह माना जाता था कि गंगा जल से बहुत सारी बीमारियाँ खत्म हो जाती हैं। कई इतिहासकार बताते है कि सम्राट अकबर स्वयं तो गंगा जल का सेवन करते ही थे अपने मेहमानों को भी गंगा जल पिलाते थे। कहा जाता है कि ब्रिटिश संगठन ईस्ट इंडिया कंपनी के जहाज जब यात्रा के लिए चलते थे तो पीने के लिए गंगाजल लेकर चलते थे जो इंग्लैंड पहुँचकर भी खराब नहीं होता था तथा यात्रा के बाद बचे हुए पानी को भी फेंका नहीं जाता था। नाविक लोग अपने घर ले जाते थे तथा वह पानी पीने में उपयोग करते थे। ब्रिटिश सेना भी युद्ध के समय गंगाजल अपने साथ रखती थी जिससे कि घायल सिपाही के घाव को धोया जाता था। इससे घाव में इन्फेक्शन नहीं होता था। दिलचस्प बात ये है कि इस समय भी वैज्ञानिक पाते हैं कि गंगा में बैक्टेरिया को मारने की क्षमता है। लखनऊ के बोटैनिकल रिसर्च इंस्टिट्यूट (एनबीआरआई) ने एक अनुसंधान में प्रमाणित किया है कि गंगा के पानी में बीमारी पैदा करने वाले ई–कोलाई बैक्टीरिया[20] को मारने की क्षमता बरकरार है लेकिन यह गंगोत्री और ऋषिकेश में प्रवाहित होता हुआ मैदानी क्षेत्रो में आते–आते इतना प्रदूषण हो जाता है कि गंगा का यह गुण समाप्त होता जा रहा है। गंगा नदी अपना गौरव को खोती जा रही है। इसका गौरव बना रहे, इसके लिए आम जनता को और प्रशासन

को अपनी जिम्मेदारियों को समझना पड़ेगा, तभी जीवनदायनी गंगा निर्मल बनी रह सकती है।

सन्दर्भ :

1. रॉबर्ट फ्लाईन (2016).
2. रमाशंकर सिंह (2016).
3. वंदना शिवा, (2010). https://bharatabharati.wordpress.com/2010/12/14/if-the-ganga-dies-india-dies-vandana-shiva/(देखा गया (20/06/2019).
4. जुरगेन हैबरमास (1992), पृष्ठ संख्या 245–255.
5. इमाइल दुर्खीम (1976), पृष्ठ संख्या 52–67.
6. टोटम किसी समाज के उस विश्वास को कहते जिसमे मनुष्यों का किसी जानवर, वृक्ष, पौधे, नदी या अन्य आत्मा से सम्बन्थ माना जाये एवं विस्तार से देखें द एलीमेंट्री फॉर्म्स ऑफ़ रिलीजियस लाइफ, न्यू यॉर्क ऑक्सफ़ोर्ड.
7. अभय कुमार दुबे (2005),220–221.
8. गोपाल गुरु और सुंदर सुरक्कै (2012).
9. हीरा सिंह (2014),पृष्ठ संख्या 10.
10. अभय कुमार दुबे (2005), पृष्ठ संख्या 220–221.
11. अंशु मालवीय, 'स्वच्छ कुम्भ' की बजबजाती दुनिया के खिलाफ़ 26 जनवरी को प्रदर्शन करेंगे स्वच्छकार, मीडियाविजिल, http://www.mediavigil.com/morcha/safai-karmchari-will-demonstrate-on-26-january-akt-kumbh/
12. साक्षात्कार सुना और पढ़ा गया : मिथिलेश दुबे, 2019. इनके दम पर हैं कुम्भ की सफाई, लेकिन इनका दर्द कौन जाने, गाँव कनेक्शन.
13. डाउन टू अर्थ 24 अप्रैल (2019), इलाहाबाद में महामारी का भय, कुंभ के बाद स्वच्छता से मोहभंग. https://hindi.downtoearth.org.in/sanitation/allahabad-may-face-epidemics-due-to-unsegreated-solid-waste-after-kumbh-64154.
14. फ़ील्ड वर्क, दिसम्बर 2018 से लेकर जून 2019.
15. सबरंग इंडिया (27 जुलाई 2019), ''कुम्भ के बाद ठोस कचरे से प्रयागराज में महामारी का खतरा–जस्टिस टंडन की रिपोर्टें'' https://hindi.sabrangindia.in/article/post-kumbh-mela-waste-has-caused-alarming-situation-justice.

16. धीरज मिश्रा, द वायर (2019), गंगा नदी का पानी पीने और नहाने योग्य नहीं: केन्द्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड http://thewirehindi.com/83608/ganga-river-water-is-not-suitable-for-drinking-and-bathing-directly-cpcb/
17. द वायर (2019), लेख ''गंगा का पानी पीने नहाने योग्य नहीं : केंदीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड'' 31 मई 2019, (2 जुलाई 2019 को देखा गया) .
18. सोपान जोशी (2018).
19. बी. डी. जोशी एवं अन्य (2011).
20. ई–कोलाई बैक्टीरिया इशचेरिचिया कोलाई का संक्षिप्त रूप हैं यह एक तरह का बैक्टीरिया हैं जो मनुष्यों और पशुओं के पेट में हमेशा रहता हैं. इस बैक्टीरिया के कुछ रूप हानिकारक नहीं होते हैं लेकिन कुछ ऐसे होते हैं जो पेट में मरोड़ औरदस्त जैसे लक्षण पैदा करते हैं, कई बार इनकी वजह से लोगों का गुर्दा काम करना बंद कर देता हैं, और संक्रमित व्यक्ति की मृत्यु हो जाती हैं.

खंड चार

सिनेमा, साहित्य और लोक का मनोजगत

नदियों का लोक एवं लोक की नदियाँ : अवधी और भोजपुरी लोकगीतों में गंगा, यमुना और सरयू नदी

खुशबू सिंह

गंगा जगावैं, जमुना जगावैं, सरजू जगावैं लहर मारी
शिव बाबा न जागें जगाय हारी

गंगा, यमुना और सरयू नदियाँ शिव को अपनी लहरों से जगा रही हैं लेकिन वे जाग नहीं रहे हैं।[1]

भारतवासियों द्वारा रचित दैव–संसार, स्वर्ग, नरक और भौतिक जीवन में नदियों की केंद्रीय भूमिका है। राम और कृष्ण जैसे विष्णु के अवतार नदियों के किनारे अपने जीवन का बड़ा हिस्सा गुजारते हैं। कृष्ण के बिना तो यमुना का नाम ही नहीं लिया जाता है। इसी प्रकार महाभारत में गंगा नदी एक महत्त्वपूर्ण स्थल है। उसी के किनारे महाभारत की कथा कई बार रूप धारण करती है। वास्तव में, नदियाँ भारत के विभिन्न समुदायों की स्मृति में शामिल हैं। इस स्मृति का एक केन्द्रीय रूपक जल है जो बादल, नदी, तालाब और समुद्र के रूप में हमारे चारों तरफ उपस्थित रहता है। ऋग्वेद में एक नदी सूक्त ही है, जिसमें नदियों की वंदना की गई है। वाल्मीकि ने रामायण में गंगा, यमुना और सरयू का वर्णन किया। कालिदास ने अपनी कविताओं में नदियों और बादलों के सुंदर चित्र उकेरे। आदि शंकराचार्य ने गंगाष्टक लिखा, पंडितराज जगन्नाथ ने गंगालहरी में गंगा की भावपूर्ण प्रार्थना में स्वयं को ही अर्पित कर दिया है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस और कवितावली में गंगा सहित उत्तर भारत की महान नदियों का उल्लेख किया है। रीतिकाल में पद्माकर ने गंगावतरण जैसा काव्य ग्रन्थ प्रणीत किया। इस प्रकार लिखित साहित्य में नदियों, विशेषकर गंगा, यमुना और सरयू की प्रभावशाली उपस्थिति देखी जा सकती है।

फिर भी लिखित साहित्य की अपेक्षा मौखिक परंपराओं और लोक स्मृति में नदियों की उपस्थिति व्यापक एवं सघन है। वास्तव में नदी एवं जल लोक के दैनंदिन जीवन में व्याप्त है। नदी एवं जल के बिना लोक जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। जैसा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा था कि ग्रंथों से बाहर के समाज का जीवन ही लोक जीवन है, उसी प्रकार लिखित ग्रंथों से बाहर नदियों के अनगिनत सन्दर्भ लोक जीवन में समाहित हैं। इन जीवन सन्दर्भों में माँ, बहन, बुआ तो है ही, वह मनोरथों को पूर्ण करने वाली, शोक-संताप हरने वाली है। वह संतान देने वाली, स्वर्ग ले जाने वाली, क्षुधा मिटाने वाली है। सबसे बढ़कर नदी लोगों के, विशेषकर महिलाओं और कमजोर समूहों के जीवन में शामिल रहती है। लोग अपने जीवन में 'नदी को गाते हैं'। नदी गरीब, अपवंचित और समुदायों के लिए एक शरण स्थल का काम करती है।

इस अध्याय का उद्देश्य यह दिखाना है कि उत्तर भारत में विभिन्न आयु वर्ग की महिलाएँ नदी के बारे में जो गीत गाती हैं, उसका सांस्कृतिक सन्दर्भ बिंदु क्या है? यह अध्याय अवधी-भोजपुरी लोक जीवन में नदी की विभिन्न छवियों का विश्लेषण करते हुए मानव समाज के सुख-दुःख, संकट और उल्लास के सम्बन्ध की व्याख्या करना चाहता है। यह अध्याय नदियों से नाविकों और मछुआरों के सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक सम्बन्धों की व्याख्या भी करना चाहता है। इसके लिए मैंने अवधी और भोजपुरी भाषी क्षेत्र में प्रचलित लोकगीतों को एकत्र किया है। मैंने कुछ लोकगीत पूर्वी उत्तर प्रदेश की स्त्रियों से सुनकर रिकार्ड किए हैं, कुछ लोकगीत मुद्रित लोक साहित्य से लिए हैं। इसमें जिन तीन नदियों का सन्दर्भ लिया गया है, वे गंगा, यमुना और सरयू हैं। यह तीनों नदियाँ अवधी और भोजपुरी भाषी क्षेत्र में बहती हैं। इस प्रकार इन तीन नदियों के बहाने अवधी-भोजपुरी क्षेत्र की नदियों के प्रति सांस्कृतिक समझ को इस अध्याय में विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। जैसा कि इस अध्याय के शीर्षक से स्पष्ट है, यह उत्तर भारत की तीन नदियों की लोकछवियों के बारे में बात करने का प्रयास करता है। इस अध्याय में लोकगीतों को 'ज्ञान के एक पाठ के रूप में' प्रयुक्त किया गया है। ऐसा देखा जाता है कि 'लोक' का रूमानीकरण तो कर दिया जाता है लेकिन उसे 'ज्ञान के एक पाठ अथवा स्रोत' के रूप में मान्यता बहुत ही मन मसोसकर दी जाती है। इस अध्याय में पहले नदियों के लोक की बात की गई है और उसके बाद यह देखा गया है कि लोक

नदियों को अपने जीवन में कैसे देखता है?

भारतीय साहित्य के आरम्भ से ही नदियों पर कविताएँ लिखी गई हैं। उनकी संख्या इतनी ज्यादा है कि एक विशेष प्रकार का नदी साहित्य ही संकलित किया जा सकता है। यहाँ मैं उस लिखित साहित्य पर चर्चा नहीं कर सकूँगी क्योंकि उसके लिए जिस ज्ञान और परिश्रम की आवश्यकता है, वह मेरे पास नहीं है। वास्तव में साहित्य के समानांतर लोक चलता है, और अधिकांश मामले में लोक लिखित साहित्य के आगे ही रहता है, वह समृद्ध कल्पनाओं और विश्वदृष्टियों की रचना भी करता है। लोक में नदियों की एक बेहद मार्मिक कल्पनाशीलता मौजूद है जहाँ नदी का मनुष्यों के विभिन्न समुदायों, बाल-वृद्ध-विधवा या नव-विवाहिता से एक सुपरिभाषित रिश्ता है।

अभी हाल ही में मानवविज्ञानी अस्सा डरोन ने गंगा नदी पर उपलब्ध साहित्य का एक संग्रह प्रस्तुत किया है।[2] इसमें पंडित जवाहरलाल नेहरू की वह मशहूर वसीयत भी है जो उन्होंने गंगा नदी को लेकर लिखी थी। इससे ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसमें वे लोकगीत भी शामिल हैं जिन्हें पूर्वी उत्तर प्रदेश की स्त्रियाँ विभिन्न अवसर-प्रयोजन पर गाती हैं। इस किताब को पढ़ते हुए आप पाएँगे कि पंडित जवाहरलाल नेहरु जो बात अपनी वसीयत में कह रहे हैं, उस बात को भारतीय लोकमानस सदियों से गाता रहा है। यह लोक नदियों को कैसे गाता है, इसे मैं कुछ उदाहरणों के माध्यम से आपके सामने प्रस्तुत करना चाह रही हूँ।

इस सेमिनार के शुरुआती भाषण में प्रोफेसर बद्री नारायण[3] ने उन 'संतानहीन स्त्रियों' की चर्चा की थी जो संतान प्राप्ति के लिए नदियों की वन्दना करती हैं, उनके गीत गाती हैं। इसके अलावा वे अपनी संतान के निरोगी और दीर्घजीवी होने के लिए भी नदियों से प्रार्थना करती हैं। यदि आप उत्तर भारत में नदियों के किनारे किसी व्रत या पर्व के दिन जाएँ तो यह दृश्य एक सामान्य दृश्य होता है जब लगभग गर्दन भर पानी में मल्लाह खड़ा होता है, उसी के बगल में उसकी नाव होती है, उसके हाथ में उसके यजमान का शिशु होता है, वह उसे नदी के जल से स्पर्श कराकर यजमान को वापस कर देता है। इसके पीछे ऐसा लोक-विश्वास है कि नदी की धारा स्वयं शिशु को ऊपर उछाल देती है। इस प्रकार नदी से प्रसाद स्वरूप शिशु को ग्रहण करके वे घर लौटते हैं। सरयू के किनारे इसे सरयू पुजाई, गंगा के किनारे इसे गंगा-पुजाई कहते हैं। यह पूजा नर्मदा के किनारे भी होती है। कभी-कभी संतान का नाम भी नदी के नाम पर होता है

जैसे सरजू प्रसाद, जमुना प्रसाद, रेवा प्रसाद (रेवा नर्मदा का एक नाम है) और गंगाप्रसाद– गंगा मैया दिहिन गंगादीन बसी बा उजरी नगरी[4] : गंगा माँ ने गंगादीन नामक यह बालक दिया है, उसी से मेरी उजाड़ हुई दुनिया एक बार फिर से बस गई है।

वास्तव में गीतों के इर्दगिर्द एक कर्मकांडीय अर्थव्यवस्था भी लगातार चलती रहती है। नदियों के समाज पर काम करने वाले मानवविज्ञानी इस 'नदी–संस्कार' गंगा–पुजाई का उल्लेख करते रहते हैं लेकिन प्रायः वे इसे लोकगीतों के सन्दर्भ में नहीं देख पाते हैं जबकि नदी की स्मृति और उसकी पूजा इन बातों को बेहतर तरीके से बताती है। इसे एक बहुत ही लोकप्रिय सोहर से जोड़कर देखें तो यह बात ज्यादा स्पष्ट हो जायेगी। इस सोहर गीत को लगभग अधिकांश उत्तर भारतीयों ने सुना होगा :

गंगा–जमुना के बिचवा तिरिया एक अरज करे हो
गंगा! अपनी लहर हमें देइतु कि तेहि चढ़ बुडिती न हो
की तोरे सास–ससुर दुःख, किया नइहर दूरि बसे
तिवई! की तोर हरि परदेस कवन दुःख बुडबू नू हो
गंगा! ना मोरे सास–ससुर दुःख, ना नइहर दूरि बसे
गंगा! नाही मोरे हरि परदेस, कोखिये दुख बुडिब नू हो
तिवई! जाहु लवटि घर अपने, लहर नाही देइब हो
तिवई आजु के नउवें महिनवा, होरिल तोहरा होइहों नू हो
गंगा! गहबर पियरी चढ़ाइब, दियना बहाइबि हो
गंगा! देहु भागीरथ पूत जगत जस गावे नू हो[5]

इस सोहर में एक स्त्री का दुःख गाया गया है। स्त्री के पास सब कुछ है, सास–ससुर दुःख देने वाले नहीं हैं और उसका मायका भी कोई बहुत दूर नहीं है लेकिन वह निःसंतान है। इसलिए वह नदी से संतान माँग रही है। यह सोहर स्त्री की दुनिया को नदी की भी दुनिया से जोड़ता है। ऐसा ही एक लोकगीत और है जिसमें संतान की आकांक्षा रखने वाली एक स्त्री अपने सपने की बात कर रही है जिसमें गंगा, सरयू और त्रिवेणी का ज़िक्र है:

सूतल रहलीं अटरिया सपन एक देखीला हो,
गंगा त देखींला हलोरत, सरजू डफोरत हो
सासु तिरबेनी पईठी नहात, त कोरवा गजाधर हो

गंगा त हई तोर माई त बहिनी सरजू हई हो
तिरबेनी भउजी तोहारी त कोरवा भतीज लेले हो[6]

इस गीत में स्त्री के गर्भवती होने का संकेत है जहाँ गंगा, सरयू और त्रिवेणी माँ बहन और भाभी के प्रतीक के रूप में आती हैं। जीवन के सबसे मधुर और मार्मिक क्षणों में नदियाँ माँ, बहन तथा भाभी जैसे सबसे नजदीकी, आत्मीयतापूर्ण सम्बन्धों में परिणत हो जाती हैं। इतिहास के जानकारों ने मुझे बताया है कि ऋग्वेद में ऋषि विश्वामित्र ने नदियों को भगिनी कहा है। यह रिश्ता लोक में बहुत ही गहरा है, जैसा आपने इस गीत में देखा है। नदी और स्त्री का यह रिश्ता आप तीर्थों को जाने वाली लाखों-लाख स्त्रियों के जीवन में देख सकते हैं। वे पुत्र चाहती हैं लेकिन नदी से दूरी नहीं चाहती हैं। एक बारहमासी सोहर में माँ अपने अजन्मे शिशु से मनुहार करती है कि वह चैत के महीने में जन्म न ले, क्योंकि वह चैत रामनवमी को होने वाले स्नान में कैसे जा पाएगी। वह राम के जन्मदिवस के उपलक्ष्य में आयोजित होने वाले उत्सव से भी वंचित नहीं होना चाहती है, संतान की कामना तो है ही : हे रतनारे होरिलवा चैति जिनि जनम्या/ हो मोरे ललना चैतहि के रामनवमी नहाये कैसे जाबै।[7]

ऐसा ही एक लोकगीत माघी स्नान के लिए है:
हे रतनारे होरिलवा माघ जिनि जनम्या,
हो मोरे ललना माघहि मकर नहनवा नहाए कैसे जाबै
माघहि मास नहायो अगिनी नाही ताप्यो,
हो मोरी सासू गंगा नहाइ दिह्यों दान होरिल फल पायो[8]

इसमें भी वही बात है। इन गीतों को ध्यान से देखने पर पता चलता है कि तीर्थ और देशाटन की धारणा की एक बहुत मार्मिक उपस्थिति इन स्त्रियों के गीतों में मौजूद है। यह गीत स्पष्ट तौर पर बताते हैं कि स्त्रियाँ तीर्थयात्रा करती थीं और बहुत ही उत्सवप्रियता के साथ करती थीं। यहाँ पर वासुदेव शरण अग्रवाल की उस बात को स्मरण करना चाहिए जब उन्होंने कहा था कि तीर्थ यात्रा देश दर्शन का बहुत सुंदर साधन रहा है। तीर्थ कला के सार्वजनिक संग्रहालय थे जहाँ प्रतिवर्ष दर्शकों का ताँता लगा रहता था। पैदल यात्रा में देश की तिल-तिल धरती के साथ परिचित होने का अवसर मिलता था। रेल की सुख सुविधाओं से पहले अत्यंत कष्ट सहकर जनता देश भ्रमण की अपनी साध पूरी करती थी।

तीर्थयात्रा के धरातल पर जनता की दृष्टि में सारा देश एक होता था।[9] राजा भर्तृहरि को ग्यारहवीं शताब्दी का माना जाता है। उनका लिखा हुआ एक बारहमासा स्त्रियों के द्वारा कातिक मास में तीर्थयात्रा का उल्लेख करता है। इसकी पंक्तियाँ हैं : कातिक पूरनमासी सभ सखि गंगा नहायं/ गंगा नहाय लट झुरवें हो, राधा मन पछितायं।[10] वास्तव में, घर और बाहर दोनों जगहों पर तीर्थयात्रा की संस्कृति की निर्माण स्त्रियों के बिना संभव न था। यह सौभाग्य की बात है कि जिन्हें 'मुख्यधारा के पाठों में' नहीं दर्ज किया गया, उसे लोकगीतों में स्त्रियों ने सुरक्षित रखा।

अब मैं दूसरी बात पर आती हूँ। लोक कोई 'समरूप' सांस्कृतिक संरचना नहीं है। संत कवि रविदास की शब्दावली उधार लें तो कहेंगे जैसे केले का पेड़ होता है, लोक की परतें एक दूसरे के ऊपर ऐसे ही चढ़ी होती हैं। किसी उच्च जातीय स्त्री का लोक किसी परिधीय स्त्री के लोक से भिन्न होता है। गंगा नदी की पूजा राजा दशरथ की रानी भी कर रही हैं, और एक निषाद स्त्री भी। दोनों के सन्दर्भ बिंदु अलग हैं। एक की मनोकामना पूरी हो जाये तो शायद वह नदी के पास नहीं जायेगी, जबकि दूसरी स्त्री के जीवन में नदी शामिल है। उसका जीवन नदी से नाभिनाल-बद्ध है। इसे इस तरह से भी कह सकते हैं कि एक नदी के जीवन में जिस प्रकार निषाद स्त्री सम्मिलित होती है, उस प्रकार शायद एक रानी नहीं सम्मिलित है। अब आप निम्नलिखित उदाहरणों पर ध्यान दें :

1. गंगा-जमुना के बिचवा तिरिया एक अरज करे हो
   गंगा! देहु भागीरथ पूत जगत जस गावे नू हो[11]
2. गंगा माई क ऊँची लहरिया तिरीयवा एक रोवे ले हो
   हे तिरिया अपन बलक हम मरबो त तोहर हो जियाछ होइअह[12]
3. गंगा क ऊचा अररवा तिरियवा एक अरज करे
   नुनवा त मिलेला उधार ही तेलवा पाईच मिले हो
   गंगा मैया कोखिया क कवन उधार बेसहले न मिलेल हो
   तिरिया नवए कन्हैया अवतरिहै महलिया उठी सोहर हो[13]
4. गंगा जी क ऊँच अररवा, देखत नीक लागेला हो
   हे गंगा मैया ताहि तर ठाढ़ कौसिल्या रानी केवट क जगावेली हो
   जहूँ मोरे गंगा मैया राम जनमिहै अयोध्या के मालिक हो
   हे गंगा मैया सोनवे मढ़ाइब राउर घटवा त रुपिला क सीढ़िया नु हो
   हे गंगा मैया एही घाटे बजना बजाइब हो।[14]

इस गीत के चार संस्करण भोजपुरी क्षेत्र में प्रचलित हैं। तीन गीतों में संतान की इच्छा रखने वाली स्त्रियों का गंगा से सीधे संवाद दिखाई पड़ता है लेकिन चौथे गीत में रानी कौसल्या को गंगा से प्रार्थना के लिए केवट की आवश्यकता पड़ती है। कहने का आशय यह है कि ग्रामीण स्त्रियाँ नदी के ज्यादा नजदीक हैं, उनका अपने परिवेश से गहन रिश्ता है। यह अंतर पूरे गीत में आपको दिखाई पड़ सकता है। अंतिम पंक्तियों में कौसल्या, जो कि राजपरिवार से हैं, वे अपने लिए पुत्र के रूप में अयोध्या के मालिक के जन्म लेने पर घाट को सोने से मढ़ाने का वचन देती हैं। इस गीत को जब बनारस के राजघाट की एक मल्लाह महिला फुलझरी देवी गाती हैं तो उनका पूरा दर्द इसमें उतर आता है। इस गीत में ऐसी दो पंक्तियाँ आती हैं जो उसे विशिष्ट बनाती हैं। ये दो पंक्तियाँ किसी सामान्य भारतीय महिला के जीवन में आज से चालीस–पचास वर्ष पहले एक सामान्य बात थीं। लोग अपने पड़ोसी से बेझिझक उधार में खाने–पीने की वस्तुएँ लेते–देते थे। अब वह सामुदायिकता लगभग विलुप्त हो गई है। वे गाती हैं : *नुनवा त मिलेला उधार ही तेलवा पाईच मिले हो/ गंगा मैया कोखिया क कवन उधार बेसहले न मिलेल हो* – नमक उधार मिल जाता है, तेल किसी दूसरी वस्तु के बदले में मिल जाता है। लेकिन हे गंगा माँ, कोख न तो उधार ली जा सकती है और न ही खरीदी जा सकती है। एक निषाद स्त्री अपनी गरीबी को अपनी प्रार्थना में ले आयी है। उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि और वंचना इस गीत में सीधे–सीधे प्रकट हुई है। गाजीपुर में ब्याही मेरी पचपन वर्षीय मौसी जब यह गीत गाती हैं तो उसमें भागीरथ जैसे पुत्र के लिए प्रार्थना की गई है जिसका यश पूरे संसार में फैले। एक ही गीत अलग–अलग समुदाय की स्त्रियों के जीवन में अलग–अलग संसार रचता है। वास्तव में, गीतों के अंदर अलग–अलग तरह के समूह अपने अभाव को प्रकट करते हैं।

एक ऐसा ही एक गीत श्रीदुर्गाशंकरप्रसाद सिंह के 'भोजपुरी के कवि और काव्य' में संकलित है:

राम जमुना किनरवा सुनरिए करो वे हो रामा/
राम एही दहे मानिक हेर इले हो रामा
राम गोड़तोर लागों मैं केवट मलहवा हो रामा/
एही दहे डालू महजलिया हो रामा
एक जाल डलेले दोसर जाल डलले हो रामा/
बाझी गइले घोंघवा–सेवरवा हो रामा

राम तोरा लेखे मलहा घोंघवा–सेवरवा हो रामा/
मोरा लेखे, उगले चनरमा हो रामा।
रामदास रे बुलाकी अरे गावेले घटेसरि होरामा/
गाइ गाइ, जियरा समुझावे हो रामा।[15]

यह गीत एक स्त्री के द्वारा उसकी किसी मूल्यवान चीज के खो जाने से सम्बन्धित है। संभवत: उसकी संतान या पति यमुना के भँवर में डूब गया है। वह रो रही है और कह रही है कि उसके जीवन का माणिक खो गया है। वह मल्लाह के पैर पड़ रही है कि वह नदी के उस तीर पर अपना जाल डाल दे। मल्लाह जाल डालता है — एक बार नहीं, दो बार। उसमें केवल घोंघा और शैवाल निकलता है। स्त्री फिर मल्लाह से कहती है कि यह केवल घोंघा–शैवाल भर नहीं है बल्कि वह उजला चन्द्रमा है क्योंकि उसे यही मिला था। कवि रामदास कहते हैं कि मैं यह घटेसरि (घाट पर गाया जाने वाला गीत) गा रहा हूँ और अपने हृदय को सांत्वना दे रहा हूँ। यह मार्मिक गीत जीवन और नदी को बहुत सुंदरता से जोड़ता है। इस गीत का एक अध्यात्मिक अर्थ भी है जिसमें यह गीत 'बुल्ला साहब' को संबोधित किया गया है। यहाँ पर एक तथ्य की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना उचित होगा कि नदियों के किनारे कुछ खास गीत उत्पन्न हुए। जिस तरह से रामायण में ऋषि विश्वामित्र राम और लक्ष्मण को सरयू और गंगा की उत्पत्ति की कहानी सुनाते हैं और वहाँ पर 'नदी साहित्य' की आरंभिक छवि देख सकते हैं, उसी प्रकार लोक ने भी नदी के किनारे अपने गीत रचे। उपर्युक्त गीत में 'घटेसरि' उसी का प्रमाण है। इसी प्रकार ये दो उदहारण देखें :

राम केकई डालेली अंगुठिया, सुमितरा मुँनरिया हो रामा
कोसिला डालेली रतन पदारथ हो रामा।
रामदास ए बुलाकी चइत घाटों गावे हो रामा
गाइ गाइ जियरा बुझावे हो रामा।[16]

गंगा और ऐसी ही नदियों से स्त्रियों के सम्बन्ध उनके दैनिक जीवन में शामिल रहते हैं। इसे वे जंतसार जैसे श्रम गीतों में व्यक्त करती हैं। जंतसार वह गीत है जिसे महिलाएँ जांता पीसते समय गाती हैं। ऐसा ही एक जंतसार गीत कुछ इस प्रकार है :

सासु मोर मरलीं, ननद गरिअवली रे
गोतिनी जमुन तीर देखवली रे दईया।[17]

तुलसी की माला शीर्षक जंतसार में तो अपराध से मुक्ति पाने के लिए स्त्री गंगा–यमुना के संगम पर आत्महत्या करने जाती है क्योंकि गंगा–यमुना के संगम पर आत्महत्या करना मोक्षकारक माना गया है और आत्महत्या जैसे जघन्य अपराध का अपराधी होने से मुक्ति भी मिलती है, गीत कुछ इस तरह से है :

अरे एक डुबुकी मरलीं ए हरी जी, दुइ डुबुकी हो मरनी
आरे तीसरे डुबुकिया ए हरी जी, खिलनी रे पतलवा।[18]

उपर्युक्त गीत में वर्णित स्त्री अपनी मुक्ति की आकांक्षा को चरितार्थ करती हुई तीसरी डुबकी लेते ही संगम में समा जाती है।

वास्तव में नदियाँ मनुष्यों के नितांत निजी क्षणों, पीड़ा और मृत्यु की साक्षी हैं। आप देख ही रहे हैं कि गंगा जन्म से मरण तक, मनुष्य की सहचरी रूप में हैं। कल इस बारे में बात हो रही थी कि नदी और निषाद का नाभिनाल–बद्ध रिश्ता है। इसे किसी नास्टेल्जिया या रोमानीकरण के रूप में न लिया जाय बल्कि इसे एक जीवन–बोध के रूप में ही देखा जाना चाहिए। नीचे उल्लिखित माझी गीत में इसे और स्पष्टता से देखा जा सकता है।

जलवे में जिनगी जलवे में मउवत जलवे में जीवे संसार
जलवे हिलावे नदी–नाला के अचरवा,
समुन्दर के धोती दे उड़ाय
भइया हो हइया

जैसा मैंने इस अध्याय में पहले भी कहा है कि लोग गाते हुए श्रम करते रहे हैं। निषाद जनों के भी इस प्रकार के गीत हैं। वे टेक लेकर इसे गाते हैं। संभवत: जब वे बड़ी नावें चलाते रहे होंगे तो इसे सामूहिक रूप में गाते रहे होंगे। गीत कुछ इस प्रकार है :

थाकी नाहीं हथवा खिचत पतवरवा,
मरलो पे लागी नाहीं घाव–
भइया हो हइया।।
पेटवा कारन माई पेटवा में दउरी,

पेटवा कारन खेई भार
हइया, भइया हो हइया।[19]

सभी लोग प्राय: वाहन पूजा करते हैं। नाविक के लिए उसकी नाव ही जीविका है। सोलहवीं–सत्रहवीं शताब्दी में लिखते हुए गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस और कवितावली में निषादों की नाव के बारे में लिखा है। वे लिखते हैं :

पात भरी सहरी, सकल सुत बारे–बारे, केवट की जाति, कछु बेद न पढ़ाइहौं।
सबु परिवारू मेरो यहि लागि, राजा जू, हौं दीन बित्तहीन, कैसे दूसरी गढ़ाइयौं।।
गौतम की घरनी ज्यौं तरनी तरैगी मेरी, प्रभुसों निषादु ह्वै कै बादु ना बढ़ाइहौं।
तुलसी के ईस राम, रावरे सों साँची कहौं, बिना पग धोए नाथ, नाव न चढ़ाइहौं॥

यह नाव की केन्द्रीयता है जो शास्त्र और लोक दोनों में है। नाव के बारे में जो लोकगीत मैंने सुने और पढ़े हैं, वे तुलसी के निषाद के इस भय से उसे मुक्ति देते हैं। जैसे किसी किसान के लिए नया बैल या ट्रैक्टर मूल्यवान है, वैसे ही निषाद के लिए उसकी नाव। वह अपने पास नाव होने को एक आश्वस्तिकारी बात मानता है। यह गीत जो आगे दिया जा रहा है, उसे मैंने बनारस के राजघाट की श्रीमती फुलझरी देवी द्वारा सुना था, उसे रिकार्ड भी किया है। पचहत्तर वर्षीया फुलझरी देवी गाती हैं :

भईया मलहवा रे धीरे–धीरे झिझिरी हो खेलाव
भईया मलहवा रे
तोहके देबे रहिला क दाल भईया मलहवा रे
तोहके देबे ननद हो जवान भईया मलहवा रे

जब पहली बार नदी में नाव उतारी जाती है, तब नदी की पूजा करने के बाद मल्लाह स्त्रियाँ यह गीत गाती हैं। इस गीत का अर्थ है कि ''हे मल्लाह, नदी में नाव को धीरे–धीरे, गोल–गोल घुमाते हुए उतारो। मैं तुम्हें अरहर की दाल दूँगी और तुम्हें अपनी युवती ननद भी दूँगी।'' इसमें लोकप्रचलित हास–परिहास और ख़ुशी के क्षण हैं और नदी से मल्लाह और उसके पूरे समुदाय का आंगिक रिश्ता है। इन लोकगीतों में एक सम्बन्ध दिखाई पड़ता है जो जितनी सामान्य स्त्रियों के जीवन में शामिल है, उतना ही स्वयं निषाद समुदाय की स्त्रियों

के जीवन में भी। भोजपुरी क्षेत्र के अनन्य ललित निबंधकार एवं चिंतक कुबेरनाथ राय के निबंध 'निषाद बाँसुरी' के बिना यह विवरण अधूरा रहेगा। पहले वे लोकगीत उद्धृत करते हैं :

''गंगा मैया, कोई जे सोवेला रन बन,
कोई जे बेइलिया बने हो!
कोई जे सोवेला बलुआ क रेतवा
त' तोहरे सरन धइले हो!
गंगा मैया, राजा जे सोवेला रन बन,
रानी बेइलिया बने हो!
मलहा त' सोवेला बालू क रेतवा,
त' तोहरे सरन धइले हो !

निषाद प्रार्थना कर रहा है: ''ओ माता, ओ गंगा मैया, सोई हो या जागी हो ? ज़रा उठो देखो, मेरी बोझी हुई नाव, मेरी 'बरधी' इस बालू के रेत में अटक गई है। माँ, मैं तुम्हारी शरण में नित्य रहने वाला निषाद हूँ। तुम्हारा ही आश्रय गहकर चलता हूँ। ओ माँ, राजा तो रणभूमि में शिविर में सोता है, रानी महँ-महँ सुवासित बेला-वन में सोती है, पर मैं दीन निषाद तुम्हारे तट की बालूमयी रेती पर सोता हूँ और तुम्हारे बल पर निर्भर रहता हूँ। आज मेरी नौका 'चोर बालू' में फँसी है और बालू नाग की तरह कुंडली मारकर नाव को भीतर खींचता जा रहा है। माँ, अब मैं गया! जगी हो या सोई हो जल्दी उठो। मैं, मेरी नाव, नाव पर लदा सार्थ, सब तुम्हारी शरण में।[20] ''इस दीर्घ उद्धरण के बाद ज्यादा शेष नहीं बचता है। हमें समाज की विभिन्न इकाइयों और उनके जीवन-संसार को समझने के लिए लोकगीतों को बहुत ही ध्यान से, विनम्रता से सुनना होगा।

सन्दर्भ :

1. एक अवधी लोकगीत.
2. अस्सा डोरोन आदि (2015).
3. दिनांक 22 से 24 जुलाई 2019 के बीच भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में आयोजित संगोष्ठी ''समाज, संस्कृति एवं जीविका की निर्मिति : उत्तर भारत में नदियों और निषादों का सहजीवी सम्बन्ध'' में प्रोफ़ेसर बद्री नारायण का उद्घाटन भाषण.

4. विद्याविंदु सिंह (2018), पृष्ठ -384.
5. विद्यानिवास मिश्र (2005), पृष्ठ 56.
6. विद्यानिवास मिश्र (2005), पृष्ठ-59.
7. विद्याविंदु सिंह (2018), पृष्ठ-133.
8. विद्याविंदु सिंह (2018), पृष्ठ-139.
9. वासुदेव शरण अग्रवाल (2017), पृष्ठ 58-59.
10. श्रीदुर्गाशंकरप्रसाद सिंह (1958), पृष्ठ 31.
11. विद्यानिवास मिश्र (2005), पृष्ठ 56.
12. श्रीमती माला सिंह द्वारा गाया हुआ गीत, मई 2019.
13. दिनांक 25 जून 2019 को श्रीमती फुलझरी देवी द्वारा सुनाया गाया गीत, उम्र 60 वर्ष के करीब. निवासी राजघाट.
14. भोजपुरी लोकगीत, गायिका- चन्दन तिवारी, यू ट्यूब से
15. श्रीदुर्गाशंकरप्रसाद सिंह (1958), पृष्ठ 109-10.
16. श्रीदुर्गाशंकरप्रसाद सिंह (1958), पृष्ठ 109.
17. रामनारायण तिवारी (2013), पृष्ठ-55.
18. रामनारायण तिवारी (2013), पृष्ठ-65.
19. रामनारायण तिवारी (2013), पृष्ठ-26-27.
20. कुबेरनाथ राय रचना संचयन (2014), पृष्ठ 43.

हिंदी सिनेमा में नदियों से जुड़े समुदाय : प्रस्तुति और एब्सेंसिया का सवाल

अंकित पाठक

पचास के दशक के गिने चुने फिल्म निर्देशकों और फिल्मों को छोड़ दिया जाय तो ऐसे निर्देशक और फिल्में बेहद कम हैं जिनका सरोकार सामाजिक वंचना को फिल्माने का हो। जब बात नदियों से जुड़े हुए समुदायों पर आधारित सिनेमा की आती है तो हिंदी सिनेमा में पहली बार मल्लाह समुदाय को किरदार बनकर परदे पर आने के लिए राजकपूर की 'बरसात' (1949) का इंतजार करना होता है। उसके बाद की फिल्मों में नदियों से जुड़े समुदाय प्रमुख किरदार के रूप में आयें इसके लिए उन्हें लंबा इंतजार करना पड़ता है। वर्ष 1988 में 'मैं कब तक चुप रहूँगी' का नायक गोपाल (आदित्य पांचोली) मल्लाह रहता है। वर्ष 2015 में आई फिल्म का नायक दीपक (विकी कौशल) डोम समुदाय से आता है, वर्ष 2018 में आई फिल्म 'मोहल्ला अस्सी' में मल्लाह समुदाय की ज़िंदगी की जद्दोजहद ऐसी है जिसमें आज बनारस जैसे शहरों के मल्लाहों की आजीविका के समक्ष आ खड़े हुए संकट की झलक साफ़ है। इसके अलावा कुछ ऐसी फिल्में भी हैं जो या तो बॉक्स ऑफिस पर उतनी सफल नहीं हुई या उन्हें बड़ा लॉन्चिंग प्लेटफॉर्म नहीं मिला। वर्ष 2013 में निर्देशक आदित्य ओम की फिल्म 'बंदूक' मिर्ज़ापुर से लेकर बनारस के बीच केवट जाति के एक नौजवान के वीभत्स दमन और शोषण का शिकार होने के बाद उसके राजनीतिक रूप से सबल होने और जरायम की दुनिया में कदम रखने पर आधारित है। वर्ष 2018 में ही आई एक अन्य फिल्म 'सोनचिरिया' में दिखाया गया है कि मल्लाह समुदाय की एक बागी महिला ने चम्बल के डाकुओं को चुनौती देते हुए अपनी खुद की गैंग बना ली थी।

प्रस्तुत शोध पत्र में इनमें से कुछ फिल्मों के कथानक के विश्लेषण के माध्यम से नदियों से जुड़े समुदायों की सिनेमाई अभिव्यक्ति को समझने की कोशिश की गई है। लेकिन इनके अलावा और भी फिल्में हैं जिसमें नदियों से जुड़े समुदायों की लघु भूमिकाएँ चिन्हित हुई हैं। इनमें ज्यादातर भूमिकाएँ ऐसी हैं जिसमें दरिया पार कराने में मल्लाह की भूमिका बनती है, कभी वे नायक नायिका के मिलन की वजह बनते हैं तो कभी कश्ती के डूब जाने से बिछड़ने की वजह, कई फिल्मों में डूबते हुए को बचाते हैं तो कई में वह दरिया में डूबी हुई या खो गई लाशों को ढूँढ़ने में मदद करते हैं, पुलिस के लिए वह गोताखोरों का काम करते हैं। कुल मिलाकर वे परंपरागत रूप से हिंदी सिनेमा में उसी रूप में आते हैं जिस रूप में उन्हें उसके पेशे के तहत बाँधा गया है। किसी मल्लाह समुदाय का व्यक्ति हिंदी सिनेमा में नायक के रूप में इस तरह नहीं आता कि वह अपने पैतृक पेशे से इतर भी कुछ कर सकता हो। (हालाँकि कुछ फिल्में जिन पर शोध पत्र में बात की गई हैं वह इस बात का अपवाद हैं) हिंदी सिनेमा ने यहाँ पर जातीय पदानुक्रमता को उसी रूप में प्रस्तुत किया जिस तरह भारतीय समाज की संरचना उसे सदियों से बनाए हुए है। यानि वर्ण व्यवस्था के तहत जातियों के जो कर्म निर्धारित किए गये थे,हिंदी सिनेमा विशेषकर निचली जातियों को आज भी उसी काम में संलिप्त दिखाता है। दलितों के सिनेमा में प्रतिनिधित्व के सवाल को लेकर अब यह बात भले ही पूरी तरह सत्य न हो लेकिन नदियों से जुड़े समुदायों के लिए तो यह पूरी तरह सत्य है।

चूँकि हिंदी सिनेमा के कथानकों की प्रकृति मूल रूप से भारतीय मिथकों से प्रेरित है। रामायण, महाभारत की नाट्य प्रवृत्ति हिंदी सिनेमा के लिए सबसे आसान परिपाटी है जिस पर शुरू से आज तक वह चला आ रहा है। मिथकों से प्रेरित हिंदी सिनेमा के ज्यादातर कथानक सवर्ण भारतीय समाज की मन:स्थिति के अनुसार फ्रेम किए गये होते हैं। उनमें हाशिये का समुदाय हमेशा सीमान्त रूप से ही शामिल होता है,और प्राय: ऐसी भूमिकाओं में जो मात्र किसी कार्य के सम्पादन भर के लिए हो,जैसे घरेलू नौकर के रूप में या मंजिल तक पहुँचाने में मदद कर देने वाले मल्लाहों, केवटों के रूप में। इनकी यह भूमिका भी भारतीय मिथकों से प्रेरित है। रामायण की कथा के मुताबिक़ वनबास के समय जब राम अयोध्या से लंका के लिए जा रहे थे तो श्रृंगवेरपुर में गंगा को पार कराने में

एक केवट ने अपनी भूमिका का निर्वहन किया था। रामायण का यह प्रसंग हिंदी सिनेमा में नदी से जुड़े केवट मल्लाह समुदाय की उपस्थिति का एक जरिया साबित होता है। इस तरह इन समुदायों की हिंदी सिनेमा में उपस्थिति और अनुपस्थिति के पीछे एक विचार काम करता है। यह विचार हिंदी सिनेमा का कथानक इस तथ्य से तय करता है कि सिनेमा का दर्शक समुदाय किस वर्ग से आता है,उन्हीं को लक्षित दर्शक समूह मानकर कथानक तय किया जाता है। हिंदी सिनेमा की परंपरागत धारा[1] में नदी से जुड़े समुदायों की अनुपस्थिति के पीछे यही विचार काम करता है। सिनेमाघरों तक उनकी सीमित पहुँच और आजीविका की डावांडोल स्थिति की वजह से कभी उनकी नज़रें आसानी से सिने परदे पर नहीं पहुँची। मल्लाहों के बच्चों की रात अक्सर नावों पर ही हो जाया करती है और उनकी सुबह खुले आसमान के ठीक नीचे सूरज की पहली किरण से। इसलिए अधिकतर हिंदी फिल्मों में यह समुदाय गुमशुदा है और जिनमें है भी, वहाँ उपेक्षित रूप में है।

इस परचे में यह देखने की कोशिश की गई है कि हिंदी सिनेमा में नदियों से जुड़े समुदायों की ज़िंदगी को किस तरह पेश किया गया है। सिनेमा को अभिव्यक्ति का एक 'पाठ' मानते हुए इसमें यह देखने की कोशिश की गई है फिल्मों में नदी और नाविक किस तरह दर्शकों के सामने आते हैं। 1949 में आई फिल्म 'बरसात' में मल्लाह समुदाय किस रूप में आया है और उसके बाद की फिल्मों में नदियों से जुड़े समुदाय के पात्रों को प्रस्तुत करने में किस प्रकार के परिवर्तन आए हैं,उनके सामने कैसी परिस्थितियाँ बुनी गईं? हिंदी सिनेमा में प्रेम कहानी से शुरू हुई मल्लाहों की ज़िंदगी कैसे आजीविका के संकट तक चली आती है और किस प्रकार एक फिल्म में उन्हें अपराध की दुनिया की ओर तो दूसरी फिल्म में उन्हें पढ़ाई-लिखाई करके सिविल इंजीनियरिंग में जाता दिखाया जाता है। इन फिल्मों में से फिल्म बरसात को छोड़कर किसी अन्य फिल्म की व्यावसायिक सफलता अच्छी नहीं थी। इसका एक अर्थ यह भी है कि जो फिल्में पूरी तरह नदियों से जुड़े समुदायों पर आधारित रहीं उन्हें बॉक्स ऑफिस के कठिन अर्थशास्त्र[2] से गुजरना पड़ा। हालाँकि 'मसान' और 'मोहल्ला अस्सी' दोनों फिल्मों को इनोवेटिव सिनेमा[3] की श्रेणी में रखा जा सकता है जिसे फिल्म समीक्षकों की सराहना मिली। जिन फिल्मों ने फ्रांस में साठ के दशक में चले 'न्यू वेव सिनेमा'[4] की याद दिलाई।

'बरसात' (1949) :

हिंदुस्तान के गणतंत्र बनने के ठीक पहले,जब हम भारत के लोग भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व संपन्न समाजवादी पंथनिरपेक्ष लोकतांत्रिक गणराज्य बनाने की तैयारी कर रहे थे, तभी हिंदी सिनेमा के परदे पर एक ऐसी फिल्म आती है जिसने नए बनते देश के नौजवान की अपने ज़िंदगी के वसूलों के प्रति निष्ठा, समाज और दुनिया की बारीक समझ, रिश्ते नाते इंसानी जज्बातों की ऐसी क़द्र और मोहब्बत का ऐसा मयार स्थापित किया जिससे किसी भी राष्ट्र को अपने देश के नौजवान पर फख्र होगा। एक राष्ट्र के रूप में हिंदुस्तान का मुस्तकबिल फिल्म 'बरसात' के नायक प्राण (राजकपूर) और नायिका रेशमा (नरगिस) की मोहब्बत की दास्ताँ से पता चलता है कि वह कितने सुरक्षित हाथों में है, जिस देश में दो प्यार करने वाले इंसान अपनी मोहब्बत के लिए जान की बाजी लगाने को तैयार हों उस देश के युवाओं में दुनिया को खूबसूरत बनाने के कितने हसीन सपने होंगे।

इस फिल्म का निर्देशन खुद राजकपूर कर रहे थे, जिन्होंने पहली बार मुख्यधारा के हिंदी सिनेमा की पटकथा में मल्लाह जाति को बतौर प्रमुख किरदार शामिल किया था, उनकी इस फिल्म में मोहब्बत की दो दास्तानें समानान्तर चलती हैं। फिल्म में एक तरफ गोपाल और नीला के प्रेम प्रसंग हैं तो दूसरी तरफ प्राण और रेशमा के। दोनों प्रेम प्रसंग समानान्तर होते हुए भी अपनी प्रकृति में एकदम भिन्न हैं। एक तरफ गोपाल है जिसके लिए लड़कियों से प्यार महज 'वन नाइट स्टैंड' की तरह है और दूसरी तरफ है प्राण जिसके लिए मोहब्बत दो जिस्मों का मिलन नहीं बल्कि दिलों का मिलन है, और जब तक गोपाल को मोहब्बत के सही मायने पता चलते तब तक उसके विरह में डूबी हुई नीला अपनी जान कुर्बान कर देती है। गोपाल को मोहब्बत का मर्म उसके अजीज दोस्त प्राण के लंबे-लंबे भाषण और उसकी कवितायें और गीत न समझा सके थे, बल्कि उसी मल्लाह की बेटी ने बड़ी मासूमियत और शांत लहजे में समझाया था जो प्राण से बेइंतेहा मोहब्बत करने लगी थी। यह फिल्म दो ऐसी प्रेम कहानियों पर आधारित है जो एक दूसरे से जुड़ी होकर भी जुदा हैं, जुड़ी इस मायने में हैं कि एक तरफ दोनों नायक एक दूसरे के गहरे दोस्त हैं और दोनों नायिकाएँ पहाड़न।

बरसात का पहला ही दृश्य पहाड़ों से गिरती एक नदी का है जिसकी गोद

में पली बड़ी पहाड़न नायिका नीला (निम्मी) अपने दुपट्टे को हवा में लहराते हुए गाती है– 'हवा में उड़ता जाय मोरा लाल दुपट्टा मलमल का ओहो'[5]। अपने पहले ही दृश्य में यह फिल्म एक नदी और उसके आस पास की प्रकृति को नैरेट करती है, पेड़ों की सघन बसावट से भरे नदी के दोनों किनारे, ऊँचाई से गिरती नदी की तेज धारा से चिकने हुए पत्थरों पर पड़ती हुई सूरज की किरणें आँखों को बेचैन–सी कर रही थीं। प्राकृतिक सौंदर्य से भरपूर इस मनोरम माहौल में एक शहरी पढ़े लिखे अमीर नौजवान प्राण की भेंट रेशमा से होती है। इस पहली मुलाकात का दृश्य भी ऐसा है जो हिंदी सिनेमा में दूसरी मर्तबा फिल्माया न जा सका। नदी की तेज धारा में सरपट अपनी नाव को पतवार से चलाती हुई रेशमा नदी के दूसरे किनारे पर स्थित अपने 'रिवर हाउस' को किराए पर लेने आए कुछ शहरी अजनबियों से बेहद आत्मीयता के साथ मिलती है, जैसे कि वे अजनबी न हों, उनसे कोई रिश्ता हो..! उनमें से एक शहरी अजनबी प्राण भी है जिसे वह बाद में दिल दे बैठती है। एक गरीब मल्लाह की बेटी के लिए ज़िंदगी का सबसे बड़ा मकसद यही है कि उसे कोई ब्याह कर ले जाये। फिल्म में प्राण और रेशमा के प्यार की केमेस्ट्री बननी शुरू हो गई, लड़की के पिता का इंतजार था जो उसके विवाह की बात कर सके। पहाड़ी मल्लाह, जिसकी एकमात्र संतान रेशमा को एक ऐसे व्यक्ति के साथ ब्याहना चाहता था जो उसे कभी धोखा न दे। इसके लिए वह दूसरे गाँव गया हुआ था ताकि रेशमा का रिश्ता कहीं देखा जा सके। लेकिन गीतों, गजलों, कविताओं को रचने वाले प्राण में वह खोई हुई जा रही थी, रेशमा हैरान थी कि कोई भला खुद गीत कैसे बना सकता है? वह प्राण को बेहद चुटीले अंदाज में 'झूठे कहीं के' कहती है। प्राण रेशमा की इसी मासूमियत का कायल था। रेशमा जो की दुनियादारी से एकदम अनजान थी, नदी के बहाव में तैरते हुए बचपन जो बीता था, और अब जवानी भी उसी नदी में पतवार चलाते बीत रही थी, मैदानी समाजों की दुनियावी जद्दोजहद से उसका अभी तक पाला नहीं पड़ा था। एक तरफ प्राण अपनी वायलिन के तारों को छेड़ संगीत की जो धुन निकालता था उसी धुन पर रेशमा की पतवार तेज हो जाती थी, वह दरिया पार करके प्राण की बाहों में वायलिन के तारों की तरह बजने लगती थी।

फिल्म में मल्लाह पिता की एंट्री होती है, एक ऐसा पिता जिसने ज़िंदगी भर नाव चलाई है, उसके पास कुल जमा पूँजी उसकी अपनी इज्जत है जो उसके

अनुसार उसके परिवार और बेटी में निहित है। उसकी ही आँखों के सामने शहरी बाबुओं ने न जाने कितनी पहाड़ी लड़कियों को छला था, उसने देखा था कि कैसे शहर से साल–साल भर में एक बार पहाड़ों पर घूमने आए शहरी अमीर, पहाड़ी लड़कियों से दिल लगाकर, उनसे शादी करने का झूठा वादा करके, उनके शरीर को पाने की ख्वाहिश पूरी करके राफ्ता हो जाया करते हैं। ज़िंदगी के ऐसे तजुर्बे जिस बाप को मिले हों वह बेटी के प्यार पर एकाएक कैसे यकीन कर ले। रेशमा यह जानने के बाद कि उसका ब्याह पड़ोस के एक गाँव में तय कर दिया गया है, सोते हुए पिता से बचते हुए चुपके से संगीत की धुन अपनी वायलिन पे छेड़े हुए प्राण से मिलने निकल पड़ती है। वह प्राण द्वारा बताए हीर रांझा और सोनी महिवाल के किस्सों को सोचती हुई आधी रात में घर वापस आती है, उसके इंतजार में जगते हुए पिता उससे कहते हैं– 'दौलत और अमीरी कितनी भी खूबसूरत क्यों न हो बेटी! लेकिन इंसान की अपनी इज्जत दुनिया की सबसे खूबसूरत चीज होती है'[6] वह आगे कहता है– 'और यह बात हर गरीब आदमी को याद रखनी चाहिए, क्योंकि उसके पास यही तो एक खजाना होता है, जिसके बूते पर वो अपना सर ऊँचा करके चल सकता है', रेशमा कहती है– लेकिन बापू, तुम मुझसे आज ऐसी बातें क्यों कर रहे हो? बापू जवाब देते हैं– इसलिए अब कि मैं तुम्हारी दूसरे गाँव में शादी तय करके आया हूँ! और ब्याह से पहले हर बाप का यह कर्ज होता है कि वह बेटी को अपनी ज़िंदगी के तजुर्बे का निचोड़ नसीहतों की शक्ल में अदा कर दे, और यही तो असली दहेज़ होता है बेटी! वह कहता जाता है– 'मैंने बहुत दुनिया देखी है रेशमा! इसी मकान में हजारों परदेसी बाबुओं की खिदमत की, उन्होंने भोली लड़कियों को मीठे–मीठे वादों के चक्कर में फँसाकर बर्बाद किया, फिर उन्हें हर साल यहाँ के चक्कर लगाते देखा, लेकिन एक भी परदेसी बाबू को गये वक़्त की तरह लौट कर आते नहीं देखा'।

रेशमा के मल्लाह पिता के जीवन का सच इतना ही था, लेकिन रेशमा के जीवन का सच इससे कहीं बड़ा और ऊँचा था, रेशमा के पिता द्वारा बताए परदेसी बाबुओं में रेशमा के बाबूजी नहीं थे, यह बात रेशमा भली भाँति जानती थी, तभी तो मोहब्बत के नाम सोनी द्वारा कच्चे घड़े को लेकर दरिया पार करने की कुव्वत रखने वाली कहानी उसे बार–बार कौंधती है, वह कश्ती लेकर अपने 'प्राण' के पास जाना चाहती है, लेकिन उसके पिता ने घर के खूंटे से बँधी कश्ती

की डोर काट दी थी, और वह कश्ती रेशमा की आँखों के सामने ही नदी में डूब जाती है। रेशमा एक दूसरी रस्सी को खूंटे से बाँध उसी के सहारे तेज बहती नदी की धारा में कूद पड़ती है, पीछे से उसके पिता चीखते हैं– 'रेशमा! वापिस आ जाओ, आ जाओ रेशमा!' रेशमा जवाब देती है– 'तूफ़ान की लहरों में फँस गई हूँ बापू! वापस नहीं आ सकती!' पिता– 'वापिस आ जाओ रेशमा (धीरे से) इज्जत को दाग़ लग जायेगा रेशमा (दोहराता है)'। रेशमा नदी के तेज बहाव में रस्सी के सहारे तैरने लगती है कि तभी पीछे से पिता की धमकी आती है– 'रेशमा..! मैं तुम्हें मार डालूँगा रेशमा.!' रेशमा (चीखते हुए)–'बापू'! रेशमा के पिता खूंटे से बँधी उस रस्सी को कुल्हाड़े से काट देते हैं जिसने रेशमा की ज़िंदगी नदी की तेज लहरों से बचाई हुई थी। फिर क्या था! रेशमा नदी के तेज बहाव में बह जाती है। बेटी की ज़िंदगी को अपने ही हाथों से नदी की तेज धार में सौंप देने वाला मल्लाह पिता अपने 'रिवर हाउस' को खाली कराने के लिए शहरियों के पास आता है। उन्हीं दो शहरियों में से एक प्राण रेशमा से मोहब्बत करता है, वह घर छोड़ने के लिए भी तैयार रहता है लेकिन उसका दोस्त गोपाल नहीं। गोपाल प्राण से कहता है (मल्लाह की तरफ इशारा करते हुए): 'इसका मतलब ये जो कर रहा है या किया वो सब सही है?' प्राण जवाब देता है– 'इसने खुद खुश होकर तो ऐसा नहीं किया! हमारे देश में झूठी शर्म और इज्जत पर मर जाने वाले लोग अक्सर ऐसा ही करते हैं, बदकिस्मती ये है कि ये लोग सच्चे प्यार को भी नहीं समझ सकते'। प्राण बूढे मल्लाह के पास आकर उसका हाथ पकड़कर कहता है– 'इन हाथों में कुल्हाड़ा उठाने से पहले एक बार तो मुझे लिया होता कि मेरा प्यार कैसा था? तुमने हजारों झूठे वादे करने वाले देखे, तुम्हें उनसे नफरत भी हो गई, लेकिन एक बार एक सच्ची आत्मा का प्यार भी देख लिया होता', वह आगे कहता है– 'जिस फूल से शरीर को अपने हाथों से पाल पोसकर इतना बड़ा किया, उन्हीं हाथों से उसे इस पानी की कब्र में फेंकते हुए तुम्हारी आत्मा चीख न उठी..!? तुमने इस बहते हुए पानी से क्यों न पूछा कि वह अपने गंगाजल की तरह पवित्र थी या नहीं..!?' प्राण के तीखे वक़्तव्यों के सामने मल्लाह पिता, जिसकी अपनी ज़िंदगी के अनुभव बेहद सीमित, एकआयामी और संकीर्ण थे, अवाक रह जाता है। वह प्राण के जज्बाती प्रेम के बयान को समझ पाने की यदि कूबत भी करता तो उसे अब उसकी बेटी हासिल नहीं होने वाली थी। उस मल्लाह की नियति यही

थी, नए आजाद हुए देश के एक मल्लाह पिता को यह सहज भाव से यकीन नहीं हो पा रहा था कि कोई शहरी बाबू उसकी बेटी से सही मायनों में मोहब्बत कर सकता है, उसके साथ घर बसा सकते हैं..!

इत्तेफाकन फिल्म में कई मोड़ आने के बाद एक मछुआरे द्वारा बचा ली गई रेशमा की मोहब्बत साकार होती है, उसने प्राण के अजीज दोस्त के प्रेम के मयार को बदल कर रख दिया, उसे ज़िंदगी में झूठ और फरेब के रास्ते से हटाकर सच्चाई और मोहब्बत के रास्ते पे चलना सिखाया। और यह सब कुछ उस समय के हिंदी सिनेमा में दर्ज हो रहा था जब हमारे देश में संविधान भी लागू नहीं हुआ था, तब एक मल्लाह की बेटी अपने बाप की इच्छा के बगैर भी अपने जीने की आज़ादी के लिए अपने जान की बाजी लगा दिया करती है। यह आज के सत्तर साल पहले उस हिंदुस्तान की बानगी थी जहाँ मजबूरी और इज्जत के नाम पर बाप तब भी संतानों की हत्या किया करते थे, लेकिन इच्छाओं के ऐसे दमन का इतिहास जितना पुराना है उतना ही पुराना है ऐसे दमन के खिलाफ उठा प्रतिरोध। फिल्म बरसात एक मल्लाह की बेटी द्वारा अपने प्यार को पाने के लिए किए गये उस प्रतिरोध के लिए याद की जायेगी, जिसकी दरकार आज भी हिंदुस्तान की न जाने कितनी बेटियों को है। इस तरह यह फिल्म समाज के दो वर्गों के मिलन की कहानी कहती है। इस समय तक मल्लाह समाज के सामने आजीविका की चुनौती नहीं थी, हालाँकि इस फिल्म में पहाड़ी मल्लाह परिवार को दिखाया गया है, उसी समय मैदानी मल्लाह परिवार की स्थिति भिन्न हो सकती है। फिल्म में प्रेम और विवाह को केंद्रीय विषय के रूप में प्रस्तुत करने के पहले राजकपूर समाजवादी सोच भी है जो समाज में बराबरी और गरिमापूर्ण जीवन स्तर में यकीन रखते थे। इसलिए पहले जातीय पदानुक्रम के उस ढाँचे पर चोट करना जरूरी था जो शोषण का प्रतीक थी और जो समजातीय और समवर्गीय विवाह की नींव पर टिकी थी, इसलिए राजकपूर फिल्म 'बरसात' में दो भिन्न संस्कृतियों और वर्गों को फिल्माते हैं।

मैं कब तक चुप रहूँगी (1988) :

टी. प्रकाश राव द्वारा निर्देशित इस फिल्म का नायक गोपाल (आदित्य पांचोली) नाविक की भूमिका में रहता है। एक अन्य किरदार में गंगवा (कादर खान) भी एक ऐसे नाविक का किरदार निभाता है जो शराब लिप्त रहता है।

फिल्म 'बरसात' में नाव की पतवार एक लड़की के हाथ में होती है तो यहाँ एक लड़के के। दोनों किरदारों एक समानता यह भी है कि बरसात की रेशमा की तरह इस फिल्म का गोपाल भी दुनियादारी से अनजान, बेहद सीधा और शहरी लोगों की नज़र में बेवकूफ है जो अपना हित नहीं जानता। फिल्म में गोपाल की एंट्री नाव से गिरकर नदी में डूबते हुए एक दुधमुंहे बालक को बचाने से होती है। गोपाल जो नदी किनारे मल्लाहों के गाँव का एक ऐसा लड़का है जो हर साल नदी में होने वाली कश्तियों की दौड़ प्रतियोगिता का विजेता बनता है। वह और उसकी नाव दोनों अपने गाँव में बेहद मशहूर हैं। शहर से सैर सपाटे के लिए आए लड़कियों के समूह को गोपाल अपने नाव से नदी की सैर कराता है, उन लड़कियों को गुंडों से बचाता है और उन्हीं में से एक को दिल भी दे बैठता है। इस फिल्म में भी मल्लाह समुदाय से फिल्माए गये किरदार को पढ़ाई लिखाई और किसी अन्य पेशे में न दिखाकर उसकी जाति से जुड़े पारंपरिक पेशे में ही दिखाया जाता है। फिर भी गोपाल मल्लाहों के समाज से आने वाला एक ऐसा युवा है जो कभी हार नहीं मानता और कठिन-से-कठिन स्थिति में भी जीवन के प्रति सकारात्मक रहता है। दूसरी तरफ फिल्म में एक और नाविक की भूमिका में कादर खान (गंगवा) चोरी-छुपे मात्र शारीरिक सुख के लिए एक औरत के यहाँ जा-जाकर अपना सब कुछ लुटा देता है। वह गोपाल के पास आकर कहता है- 'हमारी कश्ती डूब गई रे, एक ऐसे समुंदर में जहाँ बड़े बड़े जहाज डूब जाते हैं, तो इस गरीब की कश्ती की क्या बिसात है!' गोपाल जवाब देता है- 'चचा..! हाथ पैर सलामत हो न तो कश्तियाँ हजार बन जाती हैं'। एक तरफ गंगवा अपनी उम्र के चलते ज़िंदगी के प्रति नकारात्मकता से भरा रहता है तो दूसरी तरफ गोपाल हजारों कश्तियों के बन जाने की बात करता है।

यह फिल्म एक ऐसे समय में आई थी जब देश के प्रधानमंत्री राजीव गांधी हुआ करते थे, यानी देश में युवा जोश था। ऐसे समय में भी मल्लाह समाज के एक तेज और साहसी नौजवान की परंपरागत भूमिका को न बदल पाने का साहस भी यह फिल्म नहीं कर सकी, साथ ही यह फिल्म कई मायनों में एक प्रतिगामी फिल्म साबित होती है और बरसात के मुकाबले काफी कमजोर भी। फिल्म बरसात में 'मल्लाह की बेटी' को नायिका की भूमिका में दिखाकर जो स्थापना मल्लाह समुदाय को फिल्म के जरिए दी गई थी वह इस फिल्म में कम कर दी गई। बरसात जहाँ इंसान के रूप में उनकी गरिमा को बढ़ाने वाली फिल्म तो यह गरिमा को चोट पहुँचाने वाली फिल्म के रूप में याद की जायेगी।

मसान[7] **(2015) :**

नीरज घीवन की फिल्म 'मसान' कई मायनों में हिंदी सिनेमा की पहली ऐसी फिल्म है जिसने नदियों से जुड़े समुदाय के बीच से एक किरदार को उठाकर उसे एक आधुनिक पहचान दी,उसे अपने पारंपरिक पेशे से जुड़ा तो दिखाया लेकिन भारत के लाखों युवाओं की तरह उसकी भी ज़िंदगी के कुछ ऐसे सपने दिखाए जो प्राय: नदियों से जुड़े समुदायों के लिए नदी के तट पर ही दफ़न हो जाया करते थे। हिंदी सिनेमा में पहली बार डोम समुदाय का एक लड़का रेलवे में सिविल इंजीनियर बनता है। इस फिल्म के पहले ही दृश्य में एक बड़ी स्थापना होती है कि आज भी डोम परिवारों के घर में गैस का चूल्हा भी माचिस या लाइटर से नहीं जलता है बल्कि उसे जलाने के लिए चिता की आग लगती है, यानि अगर कहीं चिता जल रही है तो किसी के घर का चूल्हा भी उसी से जल रहा है। इस प्रतीकात्मक बात को यदि विस्तार दिया जाये तो इसमें निहित है कि नदियों के किनारे चिता के जलने से कई समुदायों के घरों की आजीविका चलती है। विशेषकर डोम समुदाय के लिए चिता की आग जीवनदायी है।

यह फिल्म बनारस में ऐसे दो परिवारों की कहानी हैं, जिनकी जाति एक दूसरे से भिन्न लेकिन स्थिति एक जैसी है। चूँकि पेपर का ध्येय नदियों से जुड़े समुदाय को प्रकाश में लाना है, इसलिए यहाँ यह उद्धृत करना आवश्यक है कि बनारस जैसे तमाम नदी तटीय शहरों में नदियों के किनारे गुजर बसर कर अपनी आजीविका चलाने वालों में केवल हाशिये के समुदाय की जातियाँ ही नहीं बल्कि जो जातियाँ जातीय पदानुक्रमता में जो ऊँचे पायदान पर मौजूद हैं वे भी हैं। इस फिल्म में भी एक संस्कृत विषय के विद्वान जाति से ब्राह्मण किरदार की भूमिका में अभिनेता संजय मिश्रा हैं, उनकी आजीविका का साधन गंगा किनारे श्रद्धालुओं की दान दक्षिणा और उनकी आस्था सम्बन्धी जरूरतों को पूरा करने से चलती है। फिल्म की दोनों कहानियाँ कई बार एक दूसरे के बेहद करीब से निकल जाती हैं। लेकिन कभी भी एक ही प्लाट में साथ नहीं चलती और रचनात्मक रूप से फिल्म के अंत में बिन बताए एक साथ आ जाती हैं, फिर भी प्रस्तुत शोध पत्र की जरुरत के मुताबिक यहाँ डोम समुदाय से जुड़ी कहानी का ही विश्लेषण शामिल किया गया है।

फिल्म के एक दृश्य में नायक दीपक अपने परिवार के साथ पंगत में बैठकर खाना खाता रहता है, उसके पिता को उसका कॉलेज पूरा होने की चिंता लगी

रहती है,पिता अपने बड़े लड़के पर रौब दिखाना शुरू करता है– 'हुआँ राखी धूलरावे के है और तू इहाँ बईठ के पौड़ा रहा, चाहे हुआँ लौंडा सब पेल जाएँ चांदी', लड़का अपने चाचा के घाट पर होने की बात कहता है, पिता फिर रौब जताते हुए कहते हैं– 'शम्भुआ गंजेड़ी हौ', बड़ा लड़का कहता है– 'तो क्या करें खाना न खाएँ'?[8] ... थोड़ी देर के लिए शांति छा जाती है। दीपक के पिता का उसके प्रति ज्यादा लगाव रहता है, वह उससे ज्यादा स्नेह भी करता है। पिता पूछता है– 'पैसवा कितना देई ई सब', दीपक जवाब देता है– 'अब उ इन्टरव्यू के बाद बताई', पिता– 'निकल जाओ अच्छा है, जित्ता जल्दी निकल जाओ उत्ता ही अच्छा है (बड़े बेटे की ओर घूरकर देखते हुए) नहीं तो तोहरउ ज़िंदगी मुर्दा फूँकत फूँकत यहीं ख़तम होई जाई'!...इतना सुनते ही बड़ा बेटा थाली फेंककर खाने की पंगत से उठ जाता है, यह ताना उसे बर्दाश्त नहीं होता है। घाट पर जली लाशों की राख से चांदी निकालने से मिलने वाली आय डोम समुदाय के लिए अतिरिक्त आय की तरह है जिससे उनकी आजीविका थोड़े सहूलियत के साथ चल सकती है। मृत व्यक्तियों के पैरों और हाथों में जो सोने व चाँदी के गहने नहीं निकल पाते हैं, वे डोम समुदाय राख को छान कर अपने पास रख लेता है। इसके लिए उनके बीच काफी प्रतिस्पर्धा रहती है कि कौन कितना अधिक चांदी ले सकता है।

इसी बीच एक दृश्य और आता है, दीपक के पिता घाट पर जलती लाशों के बीच शराब की शीशी हाथ में लिए बैठे रहते हैं, उन्हीं के साथ बैठा एक व्यक्ति उनसे कहता है– 'एक और बनावा, डोम राजा..! एक चुक्कड़ और..!' दीपक के पिता जवाब देते हैं– 'हम काहे के राजा'..? वृद्ध व्यक्ति कहता है– 'बनारस में दुइयई तो राजा हैं– एक काशी नरेश, एक डोम राजा..! एक उ पार, एक ई पार..'! पिता– देखा उ शंभू चौधरी के (एक दूसरे शराब पीते हुए व्यक्ति की ओर इशारा करते हुए) साल में केतना पारी आवे ला!? हे शंभू चाचा..! (तेज से आवाज देते हुए), शंभू चाचा जवाब देते हैं– 'जी साब! दस साल में एक दिना', दीपक के पिता वृद्ध व्यक्ति से कहते हैं– 'दस साल में एक दिन पारी आत है शंभू के..!' वृद्ध व्यक्ति– 'मतलब..!' दीपक के पिता– 'पूरे दिन..! पूरे एक दिन, घाट की कमाई एनकर...! शंभू के बाप के साल में एक पारी आता था, इहई ठसक में दस ठू बच्चा पैदा कर लिएन..! पारी बँट गई! शंभू के बाप रहिलेन एक, और शंभू एक बटा दस..! अब शंभू के दस साल में एक

पारी आत है, अगली पारी कब है शंभू चाचा..! (शंभू चाचा की ओर इशारा करते हुए), शंभू चाचा– 'अब न हो पारी...! बेंच दिहिली लाला चौधरी के हाथ, एक लाख रुपिया मिलल रहा, बाकी उम्र भिखारी.!' दीपक के पिता दूर बैठे लाला की ओर देखते हुए कहते हैं– 'हमहूँ बेंच दिहिल पारी तो दस लाख रुपया मिली..! का हो लाला..!' दीपक के पिता यह बात मजाक में कहते हैं। लेकिन वे जानते हैं कि डोम समुदाय के लिए जीवन चलाना कितना मुश्किल साबित होता जा रहा है, बढ़ती हुई जनसंख्या के बीच पारिया बँटती चली जा रही हैं, इलेक्ट्रॉनिक शवदाह गृहों के बढ़ते प्रचलन के कारण उनका पारंपरिक पेशा भी खतरे में है। ऐसे स्थिति में डोम परिवार के युवकों और युवतियों के लिए और भी अधिक मुश्किलें हैं। फिल्म में लड़के को पिता के काम में मदद करने के साथ पढ़ाई में भी आगे दिखाया गया है, लेकिन इन परिवारों की लड़कियों के लिए और मुश्किल है। अद्रिजा बोस ने अपने एक लेख 'मोक्ष और मसान के बीच' में बनारस में डोम महिलाओं की स्थिति का बयान किया है जो बेहद खराब स्वास्थ्य और आजीविका पर आए संकट से गुजर रही हैं।[9]

फिल्म में दीपक को अपने से ऊँची जाति की लड़की शालू से प्यार हो जाता है। वह एक शालू को वह ज़िंदगी नहीं देना चाहता था जो वह खुद जीता था, उसके भी सपने ठीक वैसे थे जैसे की मध्यवर्गीय हिंदुस्तानी परिवारों के होते हैं। वह केवल पैदा डोम समुदाय में हुआ था, लेकिन उसने इंजिनियरिंग की पढ़ाई करके भविष्य का वह सपना बढ़ना था जिसमें उसका पैतृक पेशा नहीं आता था। इसलिए उसने नौकरी पाते ही शालू से विवाह करने का प्रस्ताव भी रखा था, और शालू भी घर वालों की इच्छा के बगैर ही दीपक से शादी करने को तैयार थी, लेकिन बदकिस्मती से बद्रीनाथ से वापस आ रही शालू का परिवार सहित एक्सीडेंट हो जाता है, और उसी घाट पे दीपक ने उसे जलाया था जहाँ वह बचपन से लाशें जलाता आ रहा था, लेकिन बचपन से आज तक लाशों को जलाते समय उसके हाथ और पैर कभी नहीं काँपे थे, लेकिन आज उसकी रूह तक काँप गई थी, आज वह जलती चिता के पास से उठ नहीं पा रहा था, शालू का शरीर उसकी आँखों के आगे ही जल रहा था, लेकिन उसका भी कम नहीं जल रहा था, दीपक अपनी ज़िंदगी में इससे अधिक निराश और हताश कभी नहीं था, सब कुछ लुट गया हो उसका जैसे... हिंदी सिनेमा के पटल पर पहली बार डोम का समुदाय का लड़का प्रेम कर रहा था, इंजीनियरिंग की पढ़ाई

उसने पूरी की थी, लेकिन उसने अपने जीवन का सबसे कठिनतम दौर भी उसी समय देखा, जब उसके सारे अरमान गंगा में उसी की आँखों के सामने बह गये थे।

इस तरह फिल्म मसान कई मायनों में 'बरसात' से भी बड़ी फिल्म साबित होती है। फिल्म बरसात जहाँ प्रेम और विवाह को केंद्र में रख मल्लाह समाज की एक लड़की के जीवन की ख्वाहिशों को सामने रखती है, उसी जगह मसान इक्कीसवीं सदी के डोम समुदाय के एक लड़के की ज़िंदगी उसकी पूरी चुनौतियों के साथ फिल्माती है, उसके जीवन में प्रेम की डरी सहमी-सी कोशिशें हैं, तो नौकरी की चिंता भी, साथ ही पारंपरिक पेशे से निकलने की इच्छा भी। फिल्म मसान का नायक डोम समुदाय से आता भर है, लेकिन डोम के पेशे को वह अपनी नियति कभी नहीं मानता, उसका यकीन भारतीय मिथकों की उस मान्यता में नहीं है शिव के श्राप के कारण डोम समुदाय शवदाह का कार्य करने के लिए अभिशप्त है।[10] इस तरह नदी से जुड़े समुदाओं का दायरा जाति विशेष तक सीमित न होकर अंतरजातीय है, सभी किसी-न-किसी रूप में नदियों से एक साहचर्य स्थापित किए हुए हैं।

मोहल्ला अस्सी (2018):

काशीनाथ सिंह के उपन्यास 'काशी का अस्सी' को चंद्र प्रकाश द्विवेदी ने 'मोहल्ला अस्सी' नाम से फिल्माया। उनकी यह फिल्म अस्सी के दशक के लेकर इक्कीसवीं सदी के आगमन तक बनारस की एक जीती जागती दास्तान है। यूँ तो बनारस में आजकल बहुत कुछ बदल रहा है लेकिन फिल्म में शामिल उन बीस सालों में भी बहुत कुछ बदला था,यह फिल्म नब्बे के दशक में पूरे हिंदुस्तान में मंडल और कमंडल की राजनीति के बीच बनारस किन बदलावों से गुजर रहा था, उसका फिल्मांकन करती है। बनारस की राजनीति, अर्थशास्त्र, संस्कृति और सामाजिक ताने-बाने के बदलावों के बीच जब पंडे पुजारियों का जीवन बदल रहा था, उसी बीच वहाँ के मल्लाहों की ज़िंदगी भी करवट ले रही थी। फिल्म 'मोहल्ला अस्सी' में मुख्य किरदार के रूप में एक पाण्डेय परिवार है जो इस बदल रहे बनारस के बीच अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहा है, और अंत में यह परिवार भी अपने गुजर बसर के लिए बनारस में चल पड़ी कोठरियाँ किराए पर उठाने की रीति पर चल पड़ता है। और यह भी उन मल्लाहों

से सीख लेकर जिन्होंने नाव चलाने के साथ इस पेशे को भी आजीविका का एक जरिया बना लिया था।

असल में यह फिल्म बनारस के उन दिनों की कहानी कहती है जब विदेशों पर्यटकों की आमद तेजी के साथ होने लगी थी, विदेशी पर्यटक विविध कारणों से बनारस का रुख करते थे, एक तो भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक प्रकृति के कारण (जो अपने मूल रूप में भौतिक अधिक है), दूसरे बनारस जो कि साहित्य और संस्कृति की नगरी के नाम से भी मशहूर है, वहाँ संगीत, नृत्य और अन्य भाषाओं की शिक्षा के विविध स्कूल कॉलेज हैं। इससे बढ़कर जीवन के प्रति एक ख़ास प्रकार का अनुराग है कि जीना अच्छा लगने लगता है। धर्म कर्म में रमे लोग, गंगा पर तमाम तरीकों से पूजा अर्चना करते लोग, सैकड़ों देवी देवताओं का रूप धरे बालक–बालिकाएँ, यह सब विदेशियों को बहुत आकर्षित करता है। इस तरह बनारस में विदेशियों की भीड़ बढ़ने से उनको अच्छी सुविधायें देने के लिए प्रतिस्पर्धा भी बढ़ने लगी। इस काम में मल्लाहों के घर आगे थे,उन्होंने विदेशियों की जरुरत को सबसे पहले समझा था।

फिल्म में एक ब्राह्मण स्त्री सावित्री के घर सुबह पूजा के लिए आई एक मल्लाहिन महिला के बीच हुई चर्चा से अंदाजा लगाया जा सकता है कि किन परिस्थितियों में मल्लाहों ने इस ओर कदम उठाया, कि वे अपने परंपरागत पेशे से आगे बढ़कर मकान मालिक की भूमिका में आ गये। सावित्री– 'और सुनाओ रामदेई.. !'[11] रामदेई– 'का कहें सवित्रा बहिनी.. ! तुम तो देख ही रही हो, मंहगाई कितनी बढ़ गई है, खाने वाले पाँच मुंह और कमाने वाला एक, कम्पीटीशन भी कितना बढ़ गया है, मल्लाहों को आजकल मिलता ही क्या है.. ? घाट–घाट पर सैर कराने का ठीक–ठाक पैसा माँगो तो कहते हैं लूट रहे हैं तीर्थ यात्रियों को.. !'[12] इतना सुनते ही सावित्री कहती है– 'पर विदेशी यात्री तो दिल खोलकर दे रहे हैं, मोहल्ले के मल्लाह, खटिक और कर क्या रहे हैं? लूट ही तो रहे हैं विदेशियों को कोठरिया किराए पर दे देकर.. ! तुम भी एक किरायेदार रख लो रामदेई ! जैसे रामधन मल्लाह ने एक अंग्रेज़न को रखा'[13]। सावित्री की सलाह रामदेई तो नहीं लेकिन उसके मल्लाह पति जरूर सुन लेते हैं, और अमेरिका से आई कैथरीन को रोज के किराए पर कमरा दे देते हैं। फिल्म में यह स्थापित किया गया है कि मल्लाहों की बेकारी के दौर में उनके रोजमर्रा की जरूरतों को किराए पर उठाई गई कोठारियो से मिलने वाली आय ही पूरा कर पाती है।

फिल्म में यह भी स्थापित किया गया है कि मल्लाहों के बढ़ते जीवन स्तर से सीख लेकर ब्राह्मण परिवारों में भी पेइंग गेस्ट रखने की परंपरा शुरू हुई। नदी किनारे श्रद्धालुओं को चन्दन टीका लगाने, रक्षा सूत्र बाँधने से बनारसी ब्राह्मणों का घर चलाना बढ़ती महंगाई के सामने मुश्किल साबित हो रहा था। उनमें से अधिकांश कब से किराए पर कोठरियाँ उठाने के लिए इंतजार में बैठे थे, लेकिन धर्मसंसद के अध्यक्ष धर्मनाथ पांडेय की जिद के आगे लोगों की एक न चली। आखिरकार गरीबी और बढ़ती महंगाई के आगे उन्होंने घुटने टेक दिए। अपनी पत्नी सावित्री से वह कहता है– 'देखी है कभी जगुआ के औरत की साड़ी'[14]। उसे अपने बच्चों की पढ़ाई, घर के खर्चे की फ़िक्र सताने लगी थी, और वह भी मल्लाहों की तरह उनकी राह पर चल पड़ता है।

हिंदी सिनेमा में एब्सेंसिया की स्थिति ऐसी है उसके गीतों में भी नदियों से जुड़े समुदाय बेहद कम हैं। हाँ नदियाँ हैं, उनमें प्रेम गीत गाते नायक नायिकाएँ हैं लेकिन अनुपस्थित है तो उस समुदाय का जीवन जो इन गीतों के फिल्माए जा सकने को संभव बनाता है। इसी तरह यदि नदियों से जुड़े समुदायों की हिंदी सिनेमा में उपस्थिति के सवाल को देखा जाय तो इन उपर्युक्त विश्लेषित फिल्मों में भी कथानक का पूरा हिस्सा उनके जीवन के साथ नहीं जुड़ा रहता बल्कि कथानक के एक हिस्से के रूप में ही इनका जीवन आता है। वर्ष 1949 में यानि आज के सत्तर साल पहले मल्लाह की ज़िंदगी के समक्ष जो चुनौतियाँ थीं उससे आज कहीं ज्यादा चुनौतियाँ हैं,यह भी कह सकते हैं कि इन सत्तर सालों में पुरानी चुनौतियों ने उनका पीछा नहीं छोड़ा और नई चुनौतियाँ आती चली गई। और अब वह उनके अस्तित्व के संकट तक चली आई हैं।

सन्दर्भ :

1. फरीद काज़मी ने अपने लेखन में हिंदी सिनेमा को कला, व्यावसायिक, मसाला, मुख्यधारा, समानांतर आदि में वर्गीकृत न करके कन्वेंशनल, इनोवेटिव और एपिक सिनेमा में वर्गीकृत करते हैं. वे अपनी पुस्तक 'द पॉलिटिक्स ऑफ़ इंडियाज कन्वेंशनल सिनेमा' (1999) में कन्वेंशनल सिनेमा को व्याख्यायित करते हुए लिखते हैं– 'यह वह सिनेमा होता है जो पहले से मौजूद मूल्यों और अभिवृत्तियों को पुनर्स्थापित करता है, यह जो पहले से जाना हुआ होता है उसी के दोहराव को प्रदर्शित करता है न कि कुछ नया रचता है. इस सिनेमा में असाधारण और एकदम अच्छे या एकदम बुरे किरदारों पर जोर रहता है, इन फिल्मों की स्पष्ट शुरुआत और स्पष्ट अंत होता

है, कृत्रिम प्रकाश और सेट्स पर ये फिल्में फिल्माई जाती हैं (पृष्ठ 56).

2. फिल्मों की सफलता के पीछे उसकी मार्केटिंग का योगदान होता है. मार्केटिंग के पूरे बजट का पचास फीसदी टेलीविजन पर और पंद्रह फीसदी प्रिंट एवं अन्य डिजिटल माध्यमों में खर्च होता है. फिल्म अर्थशास्त्रियों के मुताबिक पिछले दिनों में फिल्म के कुल प्रोडक्शन बजट में मार्केटिंग बजट पांच फीसदी से बढ़कर लगभग पंद्रह फीसदी हो गया है. https://bestmediainfo.com/w®v|/vw/nearly-z®-per-cent-of-a-film-s-marketing-budget-goes-to-television-vz-per-cent-to-print-and-digital-each/
3. फरीद काज़मी अपनी पुस्तक 'द पॉलिटिक्स ऑफ़ इंडियाज कन्वेंशनल सिनेमा' (1999) में इनोवेटिव सिनेमा को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि यह साधारण घटनाओं पर आधारित होता है,इसमें साधारण लोग ही अभिनय करते हैं,फिल्म के सेट पर प्राकृतिक लाइटेनिंग होती है,और यह पूरी एक दुनिया नहीं बल्कि दुनिया के लिए महज एक खिड़की की तरह होता है,इसमें प्रकाश और छाया के बीच एक खेल चलता रहता है (पृष्ठ 57).
4. पचास के दशक के अंतिम दिनों से लेकर साठ के दशक के कुछ शुरूआती वर्षों में फ्रांस में न्यू वेव फिल्म आंदोलन चला. इस आंदोलन की खासियत यह थी कि इसने फिल्म निर्माण से सम्बन्धित लगभग सभी परिपाटी को बदलकर रख दिया. इस फिल्म आंदोलन ने एडिटिंग,विजिअल स्टाइल और नैरेटिव में बड़े बदलाव किए. आंद्रे बेजाँ, गोदार, त्रुफो जैसे फिल्म सिद्धांतकार और फिल्मकार इस आंदोलन की देन हैं. http://en.m.wikipedia.org/wiki/French_New_Wave.
5. रमेश शास्त्री का लिखा गीत जिसे इस फिल्म में बनी दो महान संगीतकार शंकर जयकिशन की जोड़ी ने संगीत के सुरों में बाँधा था, जिसे आवाज दी है लता मंगेशकर ने. यह फिल्म अपने गीतों के लिए भी मशहूर हुई. इसी फिल्म में सबसे पहले शैलेंद्र हिंदी फिल्मों के लिए गीत लिखे थे. उनका लिखा गीत 'बरसात में हमसे मिले तुम, तुमसे मिले हम' जिसे लता ने आवाज दी, यह उस दौर में सबकी जबान पे चढ़ा रहता था.

   http://en.m.wikipedia.org/wiki/barsaat_(1949_film)#Music
6. संवाद: फिल्म–बरसात.
7. फिल्म निर्देशक नीरज घीवन की यह पहली फिल्म है. इसे कांस फिल्म महोत्सव और फिल्म फेयर अवार्ड्स में पुरस्कार से सम्मानित किया गया.

   http://en.m.wikipedia.org/wiki/Masaan
8. संवाद: फिल्म–मसान.
9. https://www.news18.com/news/immersive/being-a-dom-women-in-varanasi.html

9. अद्रिजा बोस अपने लेख 'मोक्ष और मसान के बीच'में बताती हैं कि बनारस के घाटों पर डोम परिवारों की संख्या तकरीबन ढाई से तीन सौ होगी.पुरुष नशे का सहारा लेकर लाशों को जलाने का काम करते हैं,जबकि औरतों को इस काम में हाथ बँटाने का अधिकार है. इस समुदाय की महिलाएँ अपने बच्चों के बेहतर भविष्य की चिंता में डूबी रहती हैं क्योंकि लड़के स्कूल नहीं जाते और लड़कियों की शादी मुश्किल से होती है. वे डोम समुदाय की महिलाओं को तरह तरह की बीमारियों से ग्रस्त होने के बारे में भी बताती हैं.
10. https://www.news18.com/news/immersive/being-a-dom-women-in-varanasi.html अपने इस लेख में वे बताती हैं डोम समुदाय के एक व्यक्ति कल्लू डोम ने देवी पार्वती के कानों की बाली चुराई थी,जिससे क्रोधित होकर भगवान् शिव ने उन्हें दहकती ज्वाला की रखवाली करने का श्राप दे दिया था. हालाँकि बनारस के कुछ डोम इसे खुद के लिए वरदान भी मानते हैं. वे कहते हैं कि यह उनके लिए गर्व की बात है.
11. संवाद : फिल्म-मोहल्ला अस्सी.
12. संवाद : फिल्म-मोहल्ला अस्सी.
13. संवाद : फिल्म-मोहल्ला अस्सी.
14. संवाद : फिल्म-मोहल्ला अस्सी.

पूर्व-औपनिवेशिक भारत में नदी, निषाद और परिधीय समुदायों की चेतना : भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य का सन्दर्भ

जगनाथ दुबे

महात्मा गाँधी मनुष्य के द्वारा मनुष्य के शोषण और उत्पादन के साधनों के निजीकरण एवं केंद्रीकरण के ख़िलाफ़ थे लेकिन इसी के साथ वे राज्य नियंत्रित मालिकाना हक़ों के भी ख़िलाफ़ थे।[1] महात्मा गाँधी द्वारा कल्पित यह कोई आकाश कुसुम नहीं था बल्कि इसे भारतीय समाज ने लंबे समय तक अपने व्यवहार में अनुभव किया था। पूर्व औपनिवेशिक भारत में निषाद समुदाय के जीवन में इसे आप भली-भाँति देख सकते हैं जहाँ सामुदायिकता की एक सुगठित भावना के साथ उन्होंने देश और समाज के लिए समृद्धि का निर्माण किया था। पूर्व-औपनिवेशिक भारत की सामाजिक-सांस्कृतिक गतिकी जिस दिशा में आगे बढ़ रही थी, औपनिवेशिक शासन के दौर में उसकी वह स्वाभाविक दिशा अवरुद्ध कर दी गई। जो बातें आगे लिखी जाएँगी, उससे पाठक को ऐसा लग सकता है कि मैं भारत में औपनिवेशिक शासन के दौर को और औपनिवेशिक आधुनिकता की उस पूरी परिघटना को बहुत ही नकारात्मक रूप में देख रहा हूँ। इसलिए पहले ही स्पष्ट कर दूँ कि लगभग तीन सौ सालों के औपनिवेशिक शासनकाल में इस देश के सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनैतिक ढाँचे में जो बदलाव हुए, उनमें बहुत कुछ ऐसा भी है जिसका सकारात्मक प्रभाव भी हुआ। हालाँकि, यह भी बहस का विषय है कि यह देश औपनिवेशिक शासन के पूर्व 'साँप-सपेरों का ही देश'[2] था या कुछ और ? या कि अगर इस देश में औपनिवेशिक शासन न आया होता तो क्या यह देश आधुनिक जीवन मूल्यों को न स्वीकार

कर पाता? बावजूद इसके औपनिवेशिक शासन के तीन सौ वर्षों में इस देश ने जो कुछ अर्जित किया, उससे मुँह नहीं मोड़ा जा सकता।

अब मैं अपनी बात पर आता हूँ जो यहाँ से शुरू हुई थी कि औपनिवेशिक शासन ने भारत की सामाजिक–सांस्कृतिक गतिकी को काफी हद तक अवरुद्ध करने का काम किया। जिस रास्ते भारत की चिंतनधारा आगे बढ़ रही थी, अँग्रेजी शासन ने उसे अवरुद्ध कर एक ऐसी चिंतनधारा उसपर थोपने का काम किया जो सर्वथा नई और अयाचित थी। अब सवाल है कि भारत की चिंतनधारा क्या थी? अंग्रेज़ी शासन ने उसे किस तरह अवरुद्ध किया? और कौन–सी सर्वथा नई और अयाचित चिंतनधारा उस पर थोपने का काम किया? उपनिवेश पूर्व भारतीय चिंतनधारा जिस रास्ते बढ़ रही थी उसे ठीक–ठीक समझने के लिए वहाँ तक तो जाना ही पड़ेगा जहाँ से आधुनिक भारतीय भाषाओं का उदय और विकास हो रहा था, साथ ही हिंदी समेत भारत की सभी भाषाओं में भक्ति–आन्दोलन की चेतना का निर्माण और विकास भी हो रहा था। भक्ति–आंदोलन की चेतना भारतीय परंपरा और उसकी सांस्कृतिक चेतना का स्वाभाविक विकास इस अर्थ में भी कही जा सकती है कि जहाँ वह एक तरफ अपने युग के बाह्याडंबरों और कुरीतियों की मुखालफ़त कर रही थी, वहीं दूसरी तरफ अपनी परंपरा के गतिशील मूल्यों से संवाद करते हुए उन्हे पुनर्नवता भी प्रदान कर रही थी। इस परंपरा की पुनर्नवता में ही वे मूल्य थे जो पूर्व–औपनिवेशिक भारत की चेतना को निर्मित कर रहे थे। यह निर्मिति जिस रास्ते आगे बढ़ रही थी उसे हिन्दी के बौद्धिक समाज ने कई नाम दिए हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'लोक जागरण'[3] कहा है तो डॉ. रामविलास शर्मा ने 'लोकजागरण काल'[4] नाम दिया। कबीर के सन्दर्भ में बात करते हुए पुरुषोत्तम अग्रवाल ने इसे ही 'भारतीय ढंग की आधुनिकता'[5] कहा है। यह भारतीय ढंग की आधुनिकता जिस चेतना के साथ आगे बढ़ रही थी, उसमें मनुष्य के साथ प्रकृति का रिश्ता सहजीविता का था। वह दुनिया सिर्फ़ मनुष्यों की और मनुष्यों के लिए ही नहीं थी। उसमें प्रकृति–पर्यावरण बराबर के भागीदार थे। यह भागीदारी उनके जीवन के हर क्षेत्र में देखने को मिलती है। पर्व–त्योहारों से लेकर जीवन के अन्यान्य कार्य प्रकृति की भागीदारी के बिना संभव ही नहीं होते थे। इसकी पुष्टि आप चाहें तो उस समय के लोकगीतों, लोककथाओं और जनश्रुतियों के माध्यम से कर सकते हैं। 'गंगा समग्र' नामक पुस्तक में विवेकानंद तिवारी ने गंगा पर मौजूद

साहित्य संकलित किया है।[6] उस पुस्तक को आप देखें तो पाएँगे कि अकेले गंगा पर लोक में हजारों गीत मौजूद हैं। उनमें अधिकतम का केन्द्रीय भाव गंगा से आत्मीय रिश्ते का है। इसी तरह दूसरी नदियों, पहाड़ों, पठारों, तालाबों आदि से लोकजीवन के गहरे आत्मीय रिश्ते की गवाही उन पर लिखे गीतों और उनसे संदर्भित कथाओं में देखने को मिलती है।

इस आत्मीय रिश्ते के प्रमाण भक्त कवियों की कविताओं में भी देखने को मिल जाएँगे। सूरदास जब लिखते हैं 'बिनु गोपाल बैरनि भई कुंजै/तब यह लता लागत अति सीतल, अब भई बिषम जाल की पुंजै/ वृथा बहति जमुना खग बोलत वृथा पवन कुंजै अलि गुंजै।[7] तो अर्थ के सामान्य स्तर पर तो आप कह सकते हैं कि गोपियाँ कृष्ण के वियोग में हैं इसलिए उन्हे कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा। लेकिन क्या बात सिर्फ़ इतनी ही है? क्या इसका एक अर्थ यह नहीं है कि कृष्ण की सुंदरता में ये प्रकृति बराबर ही हिस्सेदार है। कृष्ण के बिना अगर वह अधूरी है तो उसके बिना कृष्ण भी अधूरे होंगे। इसी तरह तुलसीदास के यहाँ आप देखना चाहें तो प्रकृति के सहजीवी रिश्ते को देख सकते हैं। इस तरह के साझेपन के उदाहरणों से भक्तिकाव्य भरा पड़ा है।

ये उदाहरण हमें यह बताते हैं कि हमारा वह समाज कैसा था? उसकी चिंतन दिशा क्या थी। इसलिए जब हम औपनिवेशिक भारत की चिंतन दिशा को देखते हैं तो स्पष्ट होता है कि आज अगर प्रकृति–पर्यावरण संकटग्रस्त अवस्था में है तो उसकी जड़ें बहुत हद तक औपनिवेशिक शासन के दौर में मौजूद दिखती हैं। ऊपर मैं जिस भारतीय चिंतन धारा के अवरुद्ध होने/किए जाने और आयातित चिंतनधारा के आरोपित करने की बात कह रहा था वह असल में वही औपनिवेशिक शासन दृष्टि है जिसके मूल में औद्योगिक क्रांति और ब्रिटिश पूँजीवाद काम कर रहा था। इस दृष्टि ने समस्त प्राकृतिक संसाधनों को कच्चे माल से ज्यादा कुछ भी नहीं समझा। इस समझदारी का परिणाम यह हुआ कि मनुष्य का प्रकृति के साथ जो भावनात्मक रिश्ता था वह बदल गया। अब मनुष्य के लिए प्रकृति और प्राकृतिक संसाधन उपभोग की वस्तु मात्र बनकर रह गये। औपनिवेशिक शासन के दौर में जब यह बदलाव घटित हो रहा था तो ऐसा नहीं है कि इसका प्रतिरोध कहीं दिख नहीं रहा था। जिन्हे हम परिधीय समुदाय कहते हैं यानी, आदिवासी समेत वे सभी घुमंतू जातियाँ जिनका जीवन बहुत हद तक प्रकृति पर ही निर्भर है वे उन नीतियों और कार्यक्रमों का विरोध कर रहे थे जो प्रकृति

को कच्चे माल के रूप में प्रयोग करने के लिए बनाए जा रहे थे। लेकिन हिन्दी क्षेत्र या जिसे हम मुख्य धारा का समाज कहते हैं उसने उन नीतियों और कार्यक्रमों का बीसवीं शताब्दी से पहले कोई मुखर विरोध किया हो ऐसा देखने को नहीं मिलता। बल्कि इसके उलट रीतिकालीन साहित्य प्रकृति को इसी उपभोगवादी नजरिए से देखने वाला साहित्य है। भक्तिकाल और उसके पहले के साहित्य में जहाँ प्रकृति सहजीवी रूप में आती है वहीं रीतिकालीन साहित्य में प्रकृति उद्दीपक भावना के साथ दिखाई देती है। यह अंतर उस समूची दृष्टि का अंतर है जो उस दौर में विकसित हो रही थी।

पूर्व-औपनिवेशिक भारत में नदी

यूँ तो दुनिया भर के जलतंत्र ने सभ्यतागत विकास में अहम भूमिका निभाई है लेकिन भारत का सभ्यतागत विकास जलतंत्रों के सहारे ही हुआ है। आज भी भारत के सांस्कृतिक,राजनैतिक और औद्योगिक दृष्टि से प्रमुखता हासिल करने वाले वाले अधिकांश नगर नदियों के किनारे ही बसे हैं। आधुनिक औद्योगिक नगरों के विकसित होने और रेलमार्गों के बनने से पूर्व भारतीय अर्थतन्त्र बहुत हद तक नदी जलतंत्र पर ही निर्भर हुआ करता था। सभ्यता के विकास से लंबे समय तक नदियाँ आवागमन और व्यापार का मुख्य मार्ग हुआ करती थीं। यही नहीं भारत में कई समुदायों का जीवन लंबे समय तक बल्कि कुछ का तो अब भी नदी जलतंत्र पर ही निर्भर है। इसमें कई घुमंतू समुदायों सहित निषाद समुदायों का जीवन मुख्य है। भारत में निषाद एक ऐसा समुदाय है जो अपनी जीविका और रहन-सहन के लिए नदी जलतंत्र पर ही निर्भर रहा है। भारतीय जन-जीवन में नदियों की इस भूमिका ने उसे मिथकीय चरित्र की तरह विकसित किया। नदियों के उद्गम स्थल से लेकर उसकी प्रवहमयता तक को मिथकीय आख्यान से जोड़ने का काम भारतीय लोक चेतना ने किया। भारत में बड़ी से बड़ी और छोटी से छोटी नदी का अपना उत्पत्ति इतिहास है, अपनी जीवनगाथा है, अपनी मायथोलोज़ी है। इन नदियों की जीवन-गाथाएँ लोक में विकसित होती रही हैं। गंगा का इतिहास तो पौराणिक आख्यानों से लेकर लोककथाओं तक में काव्यात्मक रूप लेकर आगे बढ़ा है।

भक्ति कविता में नदियाँ पापविनाशिनी, पतितपावनी, कल्याणकारिणी हैं जो इच्छित वर देकर अपने भक्तों का कल्याण करती हैं। गंगा का अधिकांश वर्णन इसी स्तुतिपरक रूप में ही देखने को मिलता है। यह रूप हमें यह तो दिखाता

है कि लोकमानस में गंगा की कैसी छवि रही है, इसी के साथ गंगा की क्या दशा थी, इसकी जानकारी भी हमें पंडितराज जगन्नाथ, तुलसीदास और बाद में रीतिकालीन कविता में मिलती हैं जहाँ वे जल और जीवन से भरपूर हैं। आधुनिक काल में गंगा सहित भारत की नदियों की जो दुर्दशा हुई है, उसमें यह जल और उसके आसपास विकसित जीवन क्षीण होता गया है। गोस्वामी तुलसीदास सहित प्राय: सभी संत कवियों ने नदियों का स्मरण बहुत ही दैवीय लेकिन आत्मिक रूप में किया है। नदियाँ उनके जीवन में, कविता में और उसके बिम्ब-विधान में शामिल हैं। यह भारतीय परंपरा की यह विलक्षण विशेषता है कि उसने जिसका भी रक्षण करना चाहा, उसमें दैवीय तत्व का आरोपण कर लिया।[8] गंगा समेत भारत की अधिकांश नदियाँ इसका उदाहरण हैं लेकिन इसी के साथ उनका मानवीय रूप लोक और लिखित साहित्य में लगातार बना रहा। गोस्वामी तुलसीदास ने विनयपत्रिका में गंगा की जो स्तुति की है वह उसके इसी दैवीय रूप को व्यक्त करती है।

जय जय भागीरथनंदिनि, मुनि चय चकोर चंदिनी,
नर-नाग-बिबुध जय जह्नू बालिका।
बिस्नु-पद-सरोजजासि, ईस सीस पर बिभासि,
त्रिपथगासि, पुन्यरासि, पाप-छलिका।
बिमल बिपुल बहसि बारि, सीतल त्रयताप-हारि,
भंवरबर बिभंगतर तरंग-मालिका।
पुरजन पूजोपहार, सोभित ससि धवलधार,
भंजन भव-भार,भक्ति-कल्पथालिका।
निज तटवासी बिहंग, जल-थर-चर पशु-पतंग,
कीट, जटिल तापस सब सरिस पालिका।
तुलसी तव तीर तीर सुमिरत रघुबंश-बीर,
बिचरत मति देहि मोह-महिष-कालिका।[9]

हमारे पास यह मानने के पर्याप्त सबूत हैं कि तुलसीदास गंगा के जिस दैवीय और लोक-कल्याणकारी रूप की चर्चा कर रहे हैं, वह उस समय तक आम जनमानस की चेतना में व्याप्त हो चुका था। जब तुलसीदास रामचरितमानस में लिखते हैं —'कीरति भनिति भूत भलि सोई। सुरसरि सम सबकह हित होई॥[10]

तब भी वे गंगा के उसी दैवीय रूप को रेखांकित कर रहे होते हैं। या जब तुलसीदास से बहुत पहले कबीर ने कहा था संसकिरत है कूपजल भाखा बहता नीर[11] तो असल में वे भाखा की तुलना बहते नीर यानी नदी से कर रहे थे। उसकी गतिमानता से कर रहे थे। या हमारे लोकगीतों में जहाँ गंगा, यमुना या दूसरी नदियों का सन्दर्भ आया है वहाँ उनसे जिस तरह याचना की जा रही है वह भी इनके देवत्व की ही निशानी है। अवधी का एक लोकगीत है। इसमें गंगा एक ऐसी स्त्री को पुत्रवती बनती हैं जो बाँझ है।

गंगा किनारे एक गोरिया तो गंगा मनावे रे!
गंगा एक लहरि तू लेउ बूड़न हम आइन रे!
की तुम सास-ससुर दुख, नैहरि दूरि बसेरे!
कि तोरे हरि परदेश कउन गुन बुड़हउ रे!
न हम सास-ससुर दुख न नईहर दूर बसै रे!
न मोरे हरि परदेस कोखिया गुन बुड़तउ रे!
बालक बिनु बुड़तउ रे!
जाऊन गोरिया घरे तुम अपने सजन घर रे!
गोरिया आज के नवएं महीना ललन तोहरे होइहैं रे![12]

इसी तरह यमुना के सन्दर्भ में भी बहुत सारे लोकगीत हैं जिनमें उसे जीवनदायिनी, रक्षणशील और पापनाशिनी कहा गया है। यह बात भी सच है कि गंगा के दैवीय रूप की जितनी चर्चा साहित्य और लोक में है उतनी किसी दूसरी नदी की शायद नहीं है। यमुना का सन्दर्भ जहाँ आया भी है वहाँ ज़्यादातर गंगा के साथ ही आया है। जैसे बुन्देली का एक लोकगीत है जिसमें शादी के समय गंगा यमुना को न्योता भेजा जा रहा है।

सरग नसैनी आ हो पाट की
जे चढ़ नेवते लेव
गंगा-जमुना पनवेसरी
अरे जे चढ़ नेवते लेव।[13]

इसी तरह मालवी में,निमाणी में भोजपुरी में और भी दूसरी तमाम बोलियों बल्कि हिन्दी की प्राय: सभी बोलियों में इस तरह के लोकगीत देखने को मिलते हैं, जिनके विषय भी लगभग एक ही तरह के मिलते-जुलते होते हैं। वास्तव

में, हिन्दी की प्रायः सभी बोलियों में नदियों से जुड़े हुए सन्दर्भ थोड़े–बहुत बदलाव के साथ मौजूद हैं। इनमें व्यक्त भाव एक जैसे होते हैं। अंतर होता है तो सिर्फ़ स्थानीय संदर्भों का। इनकी खास विशेषता इनकी स्थानीयता ही होती है जिससे एक दूसरे से अलग होते हैं। जैसे एक लोकगीत है जिसमें स्त्री पुत्र के न होने की वजह से आत्महत्या करना चाहती है। वह ऐसा करने गंगा के पास जाती है। गंगा और उसका जो संवाद है, वह हिन्दी की प्रायः सभी बोलियों में बदले हुए सन्दर्भ के साथ मौजूद है, लेकिन लोकगीत की मूल भावना एक सी है। उसका परिणाम भी एक जैसा ही होता है। हर बोली की लोकगीत में स्त्री को गंगा पुत्रवती होने का आशीर्वाद देती हैं, और वह वापस अपने घर चली जाती है।इन लोकगीतों में नदियों के प्रति जो आत्मीय लगाव मौजूद है, वह आज बहुत कम देखने को नहीं मिलता। और जो है भी, वह लगाव लगातार कम होता गया है। लोकजीवन के बहुत से उत्सवों में आज भी हमें इस तरह के लोकगीत सुनने को मिल जाते हैं, लेकिन वे रस्म–अदायगी से ज्यादा नहीं होते। हर नई पीढ़ी के आने के साथ इन लोकगीतों की तीव्रता घटती ही जा रही है। उसका यह घटता हुआ रूप उससे विलगाव का सूचक है।

नदियों के साथ आम जन का एक ऐसा रिश्ता भी है जो सर्वथा लौकिक प्रसंगों से जुड़ा हुआ है। इसकी चर्चा साहित्य से ज्यादा लोकगीतों में देखने को मिलती है। ऐसा ही एक अवधी का लोकगीत है जिसमें नायिका यमुना किनारे खड़ी है। वह नदी के जल में प्रतिबिम्बित अपनी शोभा को निरख रही है। इसी बीच उसकी माँग से उसकी बेंदी यमुना के नील जल में गिर जाती है। इस बेंदी को एक मछली निगल लेती है। वह निराश होकर अपने घर लौटती है तो मार्ग में उसे सखियाँ मिल जाती हैं। वह एक सखी के माध्यम से अपने श्वसुर अपने देवर और अपने बलम के पास संदेश भेजती है कि यमुना में जाल डालकर मछली पकड़ी जाये। मछली को वंशी में फँसाया जाये। या फिर उसके लिए दूसरी बेंदी गढ़ाई जाएँ। गीत देखें।

ठाढ़ी मैं जमुना के तीर मछरिया अय बेंदिया लय गई
जाय कहो मोरे बहिरे ससुर से जमुना मा जाल छोड़ावय
मछरिया अय बेंदिया लय गई
जाई कहो मोरे लहूरे देवर से जमुना मा आय वासी डरवाय
मछरिया अय बेंदिया लय गई
जाई कहो मोरे बारे बलम से बेंदिया नई गढ़वाय
मछरिया अय बेंदिया लय गई।[14]

इस तरह की संवेदना से जुड़े हुए जितने गीत हैं वे अधिकतम यमुना नदी के सन्दर्भ से ही आए हैं। भक्तिकाल में यमुना नदी कृष्ण से जुड़ी होने के कारण प्रेम और शृंगार का प्रतीक बनी हुई थी। रासलीला के अधिकतम पदों का जुड़ाव यमुना और उसके किनारे के करील कुंजों से ही है। इसलिए भी यमुना का यह रूपक हिन्दी जाति के मन में बना होगा।

निषाद और परिधीय समुदाय

नदी के जो दूसरे और ज्यादा जरूरी रूप हैं, उनकी चर्चा भक्ति कविता में बहुत कम मिलती है। भक्ति कविता को पढ़ते हुए नदी की महत्ता और उसके दैवीय रूप का साक्षात्कार तो होता है लेकिन नदी तंत्र पर आश्रित समुदायों का जीवन और नदी के साथ उनके रिश्ते की कोई मजबूत पहचान भक्ति कविता हमें नहीं कराती। भक्तिकाल में नदी जलतंत्र के आसपास रहने वाले समुदायों के जीवन से जुड़ी हुई जो थोड़ी बहुत जानकारी हमें मिलती है, उसका आधार तुलसी का रामचरितमानस है। रामचरितमानस में निषाद और केवट का उल्लेख राम के सन्दर्भ में किया गया है। इसी तरह कोल-भील, किरात जैसे समुदायों का भी नामोल्लेख तुलसी के मानस में मिलता है। कवितावली में निषाद, नाव और नदी का रिश्ता कहीं और ज्यादा संघनित है। वहाँ तुलसीदास ने जिस मार्मिक और सीधी भाषा में निषादों की गरीबी का चित्रण किया है, वह पूरी भक्ति कविता में अपनी तरह का है। लेकिन अगर कोई यह खोजना चाहे कि नदियों के किनारे बसे शहरों की वह जनसंख्या, जिसकी जीविका का आधार नदियाँ हैं, वह उस कालखंड में किस स्थिति में थी ? तो उसे निराशा ही हाथ लगेगी। इसकी क्या वजहें रही होंगी या हैं, इस पर निर्णायक ढंग से कुछ भी कह पाना मुश्किल है। यह जरूर है कि निषाद समुदाय के भीतर निषदों से जुड़ी हुई कहानियाँ, किस्से, गल्प, दंतकथाएँ जैसी प्रविधि में बहुत कुछ मौजूद है जिसके आधार पर कोई चाहे तो एक बेहतर कार्य कर सकता है। इस दिशा में कार्य करने वालों को कुबेरनाथ राय की पुस्तक 'निषाद बांसुरी' से काफी मदद मिलेगी। इस पुस्तक में निषाद समुदाय के आर्यत्व अनार्यत्व के सन्दर्भ से लेकर उनकी सामाजिक हैसियत और पारंपरिक उपस्थिति तक का ज़िक्र प्रामाणिक ढंग से मिलता है। इस पुस्तक में भी निषाद समुदाय से जुड़ी कई कथाएँ-उपकथाएँ मौजूद हैं। असल में यह पुस्तक संवाद शैली में लिखी गई है जिसमें एक व्यक्ति

दूसरे से संवाद के जरिए अपनी कथा कहता हुआ सा लगता है। इस कथा में निषाद समुदाय का इतिहास और वृत्तान्त दोनों मौजूद है। गल्प, कथा, पुराकथा, मिथक और यथार्थ का अद्‌भुत सामंजस्य इस पुस्तक में देखने को मिलता है। निषाद बुद्धिजीवियों के पास इस तरह की बहुत–सी कथाएँ हैं जिनके आधार पर वे इतिहास लेखन भी कर रहे हैं। एक बातचीत के दौरान गाजीपुर के लोटनराम निषाद[15] ने बताया कि उनके पास निषाद समुदाय का चौदह सौ पृष्ठों में लिखित इतिहास मौजूद है। यही नहीं उन्होने 'निषाद–ज्योति' नामक पत्रिका का लंबे समय तक सम्पादन–प्रकाशन करते हुए निषादों से जुड़े तमाम तथ्यों को भी प्रकाश में लाने का काम किया है। उनके पास निषाद समुदाय के भीतर मौजूद सैकड़ों जातियों की नामावली भी है, उनके अलग–अलग पेशे के संदर्भों के साथ। तो इस तरह मौखिक रूप में किस्से–कहानियों में निषाद समुदाय का ऐतिहासिक महत्त्व बताने वाले तमाम सन्दर्भ तो मिलते हैं लेकिन उनका कोई लिखित रूप अबतक प्रकाश में आया हो ऐसा देखने को नहीं मिलता। खुद लोटनराम जी ने भी जिस इतिहास के लिखने का दावा किया वह भी एक तो जनश्रुतियों पर ही अधिकतम आधारित है दूसरी बात उसका अबतक प्रकाशन भी नहीं हो पाया है। इसलिए अभी इस समुदाय के सन्दर्भ में भक्ति कविता में थोड़ा बहुत जो कुछ मिलता है वह तुलसीदास के सन्दर्भ से ही मिलता है। वह भी निषाद समुदाय के बारे में स्वतंत्र ढंग से लिखने की किसी मंशा से नहीं बल्कि इसलिए कि वह समुदाय राम का अनन्य भक्त और सखा है। उसने वनवासी राम की मदद की है।

तुलसी साहित्य में इन प्रसंगों का आना किसी तरह का विमर्श पैदा करता हो ऐसा नहीं है। यह जरूर है कि अगर हम तुलसी को मध्यकालीन जन भावनाओं को व्यक्त करने में सफल मानें तो हमे यह मानने का आधार मिल जायेगा कि तत्कालीन समय में इन समुदायों के प्रति लोगों की जो भावनाएँ थी तुलसी ने उसे व्यक्त किया है। वे भावनाएँ क्या थीं? तो रामचरितमानस के उस प्रसंग को देखिए जहाँ भरत राम से मिलने के लिए वन की ओर जा रहे हैं। भरत के आगमन की सूचना पाकर किरात समुदाय उनकी सेवा सुश्रुषा करने को तत्पर हो जाता है। भरत से उसका जो संवाद है उससे उस समय में उस समुदाय के प्रति तथाकथित मुख्यधारा के समाज का दृष्टिकोण और रिश्ते का पता चलता है। किरात कहता है–

तुम्ह प्रिय पाहुने बन पगु धारे। सेवा जोगु न भाग हमारे॥
देब काह हम तुम्हहि गोसाईं। ईंधनु पात किरात मिताई॥[16]

यानी उस समय तक किरात आदि समुदायों का रिश्ता मुख्यधारा से सिर्फ़ इन्ही चीजों तक था। इससे ज्यादा न तो किरात आदि समुदाय उम्मीद ही कर सकते थे और न इससे ज्यादा उन्हे कुछ मिलता ही था। उदाहरण के लिए उसी प्रसंग कि आगे की चौपाई देखिए–

यह हमार अति बड़ सेवकाई। लेहिं न बासन बसन चोराई॥
हम जड़ जीव जीव गन घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती॥
पाप करत निसि बासर जाहीं। नहिं पट कटि नहिं पेट अघाही॥
सपनेहु धरमबुद्धि कस काऊ। यह रघुनंदन दरस प्रभाऊ॥[17]

तो यहाँ यह बहुत स्पष्ट तौर पर दिखती है कि इन वनवासी समुदायों के बारे में उस समय का जनमानस क्या सोचता था। वे सर्वथा मुख्यधारा के समाज से कटे हुए ऐसे लोग थे जिन पर हमारी सामाजिक–संरचना विश्वास भी नहीं करती थी। वे सब तरह से हीन बासन–बसन तक की चोरी कर लेने वाली कपटी और कुचाली लोग थे। क्या उस समुदाय का यही सच रहा होगा उस समय में? ऐसा मानने या न मानने का हमारे पास कोई आधार नहीं दिखता। इतना जरूर है कि जब औपनिवेशिक शासन के दौरान मुख्यधारा के समाज से इनके रिश्ते के बारे में एक दृष्टिकोण विकसित हुआ। 'घुमंतू और विमुक्त जनों के इन अनुभवों को समझने के लिए हमें पूर्व–आधुनिक भारत में राज्य की निर्मिति और उसके औपनिवेशिक अतीत को समझना होगा जिसमें समाज के प्रभुत्वशाली तबकों और राज्य के बीच गठजोड़ की केन्द्रीय उपस्थिति थी। इसी गठजोड़ के तहत पुलिस और इलाके के जमींदारों ने इस समुदायों को चोर और अविश्वसनीय करार दिया। यह गठजोड़ एक एतिहासिक प्रक्रिया की उपज है। इसमें राज और समाज दोनों शामिल थे'।[18] इस सन्दर्भ को लिया जाये तो कहा जा सकता है कि इस प्रक्रिया की जमीन पूर्व–औपनिवेशिक भारत में ही बन चुकी थी जिसकी तरफ गोस्वामी तुलसीदास ने बहुत स्पष्ट संकेत दिया है।

इसी तरह तुलसी की दूसरी रचनाओं में भी जहाँ वनगमन का प्रसंग आया है, वहाँ इन समुदायों की चर्चा की गई है। इस सन्दर्भ में रामचरितमानस के बाद कवितावली और विनय–पत्रिका का महत्त्व सर्वाधिक है। यह जरूर है कि

जहाँ भी निषाद या परिधीय समुदायों का प्रसंग आया है वहाँ राम या किसी दूसरे प्रभावशाली पात्र के सन्दर्भ से ही आया है। तुलसी को पढ़ते हुए बार-बार मन में यह सवाल भी उठता है जिसके किसी संतोषजनक उत्तर तक मैं अभी नहीं पहुँच पाया हूँ कि क्या एक ऐसा समुदाय जो तथाकथित मुख्यधारा के समाज से बिल्कुल अलग-थलग पड़ा हुआ था उसके अपने गणचिन्ह के आराध्य देव न रहे होंगे? एक धर्मप्राण देश हिंदुस्तान में क्या ऐसा संभव है कि वह समुदाय जिसका मुख्यधारा से कोई सकारात्मक रिश्ता न बनता हो उसने अपने गणचिन्ह न विकसित किए हों? समाज-विज्ञान या दूसरे भी अनुशासन के लोगों को इसपर विचार करना चाहिए और इन समुदायों के अपने गणचिन्ह या आराध्य देव कौन से रहे होंगे इसके सूत्रों को तलाशना चाहिए। उनके मिलने के बाद उस स्मृति के आधार पर शायद इन समुदायों के बारे में कुछ नई बातें और नए तथ्य सामने आएँ। इधर के दिनों में इस दिशा में जो सकारात्मक पहल हो रही है उससे इन समुदायों के एतिहासिक संदर्भों को जानने के साथ ही उसकी वर्तमान उपस्थिति के भी रास्ते खुलेंगे। इसमें उपनिवेश पूर्व के लेखन में आए इनके सन्दर्भ खासकर तुलसी के यहाँ जो सन्दर्भ आए हैं वे बेहद मूल्यवान साबित हो सकते हैं, बावजूद इसके कि उनकी मात्रा बहुत कम है।

सन्दर्भ :

1. अम्लान दत्ता(1986), पृष्ठ 15.
2. रोमिला थापर (2019), पृष्ठ-1.
3. हजारी प्रसाद द्विवेदी (2017), पृष्ठ- 12.
4. रामविलास शर्मा(2001),पृष्ठ 108.
5. पुरुषोत्तम अग्रवाल (2019).
6. विवेकानंद तिवारी (2017).
7. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सूरदास की प्रतिनिधि रचनाओं का सम्पादन भ्रमरगीत सार नाम से किया गया है. जिसमें कृष्ण के मथुरा चले जाने के बाद गोपियों के वियोग का सन्दर्भ देते हुए आचार्य शुक्ल ने इस पद का उल्लेख किया है.
8. लेखक का मानना है कि भारतीय परंपरा और मायथालाजी में जिस तरह प्रकृति को देवत्व का दर्जा दिया गया है. वह उससे होने वाले लाभ की वजह से उनके रक्षण के तरीके के रूप में विकसित हुआ होगा. जैसे गाय को अवध्य मानते हुए उसे माँ का दर्जा दिया गया. ऐतिहासिक साक्ष्य हमें बताते हैं कि एक समय में गाय

मनुष्य के लिए कितनी उपयोगी थी. वह खुद दूध देती थी, उसके बछड़े बड़े होकर बैल बनते थे जिससे कृषि कार्य आसान हो जाता था. इसी तरह पीपल के वृक्ष में देवत्व की परिकल्पना में उसका सर्वाधिक आक्सीजन दायी होना भी एक कारण रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं. इसी तरह दूसरे तमाम प्राकृतिक रूपों में देवत्व की परिकल्पना का विकास हुआ होगा. इंद्र, वरुण, उषा पूषन आदि प्रकृति के ही तो देवता थे. इसलिए हिन्दू मायथालाजी की इस देवत्व आधारित मिथकीय चेतना को भी समझना होगा.

9. तुलसीदास (2015), पृष्ठ–4.
10. तुलसीदास (2015),बालकांड.
11. कबीर, (2012),पृष्ठ– 25.
12. श्यामसुंदर दुबे (2006), पृष्ठ–36.
13. वही, पृष्ठ–38.
14. श्यामसुंदर दुबे (2006), पृष्ठ– 41.
15. लौटनराम जी से लेखक की मुलाक़ात भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में 22 जुलाई से 24 जुलाई तक हो रहे निषाद समुदाय और नदियों से जुड़े सेमिनार के दौरान हुई. लौटनराम जी मूलतः गाजीपुर के रहने वाले हैं. स्नातक तक की अकादमिक शिक्षा लेने के बाद वे निषाद समुदाय के हक–हुकुक की लड़ाई लड़ने लगे. वर्तमान में वे उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ में रहते हैं. लंबे समय तक निषाद–ज्योति नामक पत्रिका का सम्पादन करने वाले लौटनराम जी के पास निषाद समुदाय से जुड़ी हजारों कहानियाँ हैं. इन कहानियों के बीच से ऐतिहासिक संदर्भों को खोज निकालने वाली दृष्टि के साथ कोई अगर कार्य करना चाहे तो निषाद समुदाय के बारे में कुछ नए तथ्य मिल जाएँगे, ऐसा लेखक का मानना है.
16. तुलसीदास (2012), पृष्ठ– 504.
17. वही, पृष्ठ–504–505.
18. रमाशंकर सिंह (2018),पृष्ठ 345.

लोक संस्कृति में जलस्त्रोत

धीरेंद्र प्रताप सिंह

मानव समाज अपने बसने, बनने और विकास के क्रम में गतिशील रहा है। इस गतिशीलता में जलस्त्रोतों की बड़ी भूमिका रही है। एक तो जीवन के लिए जल अनिवार्य था, दूसरा जल के बिना न कृषि संभव था और न ही कोई निर्माण या व्यवसाय। यही कारण है कि दुनिया के सभी सभ्यताओं और संस्कृतियों के निर्माण और विकास में जलस्त्रोतों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। समय की गति में तीव्र भौतिक विकास ने मानव समूह को दो हिस्सों में बाँट दिया। एक वो जो प्रकृति के निकट थे, दूसरे वे जो कृत्रिम विकास के प्रभाव और क्षेत्र में निवासित हुए। प्रकृति के निकट रहने और प्रकृति के सहारे और उसके बीच अपनी संस्कृति विकसित करने वाले लोग लोक कहलाये।

'लोक' शब्द को परिभाषित करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि लोक शब्द का अर्थ 'जनपद' या 'ग्राम्य' नहीं है, बल्कि नगरों या ग्रामों में फैली वह समस्त जनता है, जिसके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियों का ज्ञान नहीं है। नगर में परिष्कृत, रूचि-सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा वे अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यासी होते हैं तथा परिष्कृत रुचि-सम्पन्न व्यक्तियों की विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो वस्तुएं आवश्यक होती हैं, उसे उत्पन्न करते हैं।[1] लोक के साथ संस्कृति शब्द जुड़ जाने से ही लोक अपने पूर्ण रूप में प्रतिष्ठित होता है। लोक-संस्कृति को परिभाषित करते हुए नन्दकिशोर आचार्य कहते हैं- लोक संस्कृति का अर्थ है मानवीय सर्जनात्मक्ता की स्थानीय परिवेश से प्रतिविशिष्ट अभिव्यक्ति। इसलिए लोक को कभी-कभी शास्त्र से फर्क बात समझ लिया जाता है- जबकि शास्त्र लोक के रचनात्मक अनुभवों का तत्वान्वेषण और संहिताकरण ही तो है।[2]

लोक संस्कृति की अभिव्यक्ति में भी जलस्रोतों की बड़ी भूमिका है। यह अनायास नहीं है कि लोक संस्कृति में विद्यमान रीति–रिवाज, पूजा–पाठ या जन्म से लेकर अन्त्येष्टि संस्कार तक में जलस्रोत किसी–न–किसी रूप में जुड़े हुए हैं। यही जलस्रोत लोक जीवन में समुदायिकता, सहअस्तित्व और परमार्थ कि भावना को जीवंत रखे हुए हैं। जलस्रोतों के किनारे ही अनेक लोक–परम्पराएँ, कथाएँ और संस्कृति पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तांतरित होती रही हैं। इन जलस्रोतो के किनारे लोक जीवन सतरंगी इन्द्रधनुष की भाँति दिखाई पड़ता है। जिसे विभिन्न नदियों के किनारे लाग्ने वाले कुम्भ मेले के दौरान देखा जा सकता है। यह जलस्रोत न केवल लोक–संस्कृति के वाहक हैं, बल्कि हिंदुस्तान के सांस्कृतिक एकता, सौहार्द और समृद्धि को भी प्रदर्शित करते हैं। इन जलस्रोतों का महत्त्व केवल प्यास बुझाने या जल आधारित अन्य कार्यों के लिए ही नहीं बल्कि ध्यान से देखने पर इसका अपना एक दर्शन भी है। यह जल दर्शन कई तरह से हमारे जीवन को प्रेरित और समृद्ध करता है। नदी की बहती धारा जीवन गति से भी जुड़ती है। उदाहरण के तौर पर गंगा नदी से जल दर्शन को समझ सकते हैं। गंगा नदी अपने उद्‌गम स्थल से बंगाल की खाड़ी में आकर मिलती है। इस दौरान यह नदी एक समान गति से न तो प्रवाहित होती है और न ही इसका स्वरूप एक जैसा होता है। यह नदी पहाड़ों से टकराती है। बलुई माटी में रेंगती है। मैदानी इलाकों में सरपट भागती है। सुबह, दोपहर और शाम में यह नदी तीन अलग–अलग तरह के रंग में रंगी दिखाई पड़ती है। इन तमाम कठिनाइयों के बावजूद गंगा एक लंबी यात्रा पूरी करती है। गंगा नदी की विशिष्टता और उसका महत्त्व इस कारण भी है। कुएँ के बारे में यह आम कहावत है कि कुआं गहरा है तो उसका पानी जरूर मीठा होगा। यानि कुआं का दर्शन यह बताता है कि मनुष्य अपने विचार और व्यक्तित्व में जितना गहरा होगा, उसकी उपयोगिता, स्वीकार्यता और महत्ता उतनी ही ज्यादा होगी। इस तरह जलस्रोतों की प्रकृति, रूप और संचालन का दर्शन मानव जीवन के दर्शन का भी आधार बनता है।

जलस्रोतों की महत्ता और संरक्षण की बात धर्मग्रन्थों में भी की गई है। मत्स्यपुराण में तालाबों, कुओं और बावड़ियों के महत्त्व को बताया गया है। उत्तर भारत में लोक मान्यता है कि जलपूजा से ही सभी शुभ काम शुरू करना चाहिए। लोक में प्रजनन एवं जन्म सम्बन्धी सभी रस्मों में कुआँ और उसका पूजन अनिवार्य है। यही कारण है कि गर्भवती स्त्री को सातवें माह कुएँ के जल से

स्नान कराया जाता है। इसके पीछे की लोक मान्यता यह है कि जन्म लेने वाले शिशु के ऊपर जल देवता की कृपा हमेशा बनी रहेगी। वाराणसी की ज्ञानवापी एक अलौकिक शक्ति वाला कुआँ माना जाता है। लखनऊ के इमामबाड़ा में लक्ष्मण जी द्वारा बनाया हुआ एक कूप है, जिसका जल पवित्र माना जाता है। अमृतसर में हरमंदर साहब का सरोवर, इलाहाबाद का सरस्वती कूप, राजस्थान का पुष्कर कुंड आदि जलाशय पूजनीय है। मालवा क्षेत्र में एक कहावत है कि 'जल की काया, जल की माया, जल का सकल पसारा, जल से कौन है न्यारा रे'। तभी तो मक्का में स्थित आब-ए-ज़म-ज़म नामक कुएँ की पवित्रता है। चीन की संस्कृति में ड्रैगन को शुभ माना जाता है। यह ड्रैगन पानी में रहता है और जल देवता है। मिस्र में 'नेफ्थिस' नदियों एवं जलाशयों की देवी है। पूरे अफ्रीका महाद्वीप में हर नदी या झरने का अपना एक देवता है, जिसकी पूजा होती है। यह लोग जलाशयों में आत्माओं का वास मानते हैं। वास्तव में महत्त्व जल का है जलाशय का नहीं, फिर बुंदेलखंड में प्रसूता तालाब, बावड़ी, नदी, समुद्र आदि जलाशयों की अपेक्षा कुएँ पर ही पूजा करने क्यों जाती हैं, जबकि कुआँ इन जलाशयों में सबसे छोटा होता है।... कुएँ अपनी उपयोगिता, सर्वसुलभता और गुणवत्ता के कारण बुन्देली जन-जीवन से बहुत ही निकटता से जुड़े हैं। ये देखने में छोटे अवश्य होते हैं पर उनमें पानी देने की असीम शक्ति होती है।[3] इसी प्रकार प्रसूता के छोटे स्तन दूध से लबालब भरे रहते हैं और शक्ति में पुरुष से कमजोर होने पर भी उसमें अपने संतान का लालन-पालन करने की, परिवार चलाने की असीम क्षमता होती है। वास्तव में बारिश की हर बूँद को सहेजकर रखने के लिए कुएँ, बावड़ी, ताल-तलैया बनवाने की परंपरा भारत में मानव सभ्यता के विकास की महत्त्वपूर्ण सहयात्री रही है। ईसा से कोई 800 से 300 साल पहले लिखे गये ग्रंथ 'गृहसूत्र' व 'धर्मसूत्र' में तालाबों के निर्माण का उल्लेख है। इन सूत्रों में लिखा है कि किसी भी वर्ण या जाति का कई भी स्त्री या पुरुष तालाब खुदवाकर उसका यज्ञ करवाकर समाज के सभी प्राणियों के कल्याण हेतु उसका उत्सर्ग कर सकते हैं।... दुर्भाग्य यह है कि जैसे-जैसे समाज ज़्यादा उन्नत, विकसित और तकनीकी प्रेमी होता गया, अपनी परम्पराओं को बिसरा बैठा।[4] लोक संस्कृति में जलस्रोतों की पूजनीयता और पवित्रता तो इसका एक पक्ष है। इसके अलावा लोक संस्कृति में लोक जीवन और जीविका का भी सवाल है, बल्कि कहा जाय अंतर्निहित है। दरअसल, जीवन और जीविका

का भी आधार जलस्रोत ही हैं। कहते हैं, पहले जलस्रोतों की तलाश होगी, जलाशयों का निर्माण होगा; फिर उसी पर आधारित लोक-संसार होगा। यही कारण है कि लोक संस्कृति में जलस्रोतों को बचाने और बनाने के लिए अनथक प्रयास किए जाते रहे हैं। लोक विज्ञान के माध्यम से लोक शिल्पियों ने जलाशयों के निर्माण में जिस कारीगरी का नमूना पेश किया, वो आज भी बेमिसाल और सुरक्षित है।

लोक और जलस्रोतों के सम्बन्धों को लेकर एक लोक कथा बहुत प्रेरक है। यह लोक कथा अनुपम मिश्र की बहुचर्चित, बहुपठित पुस्तक 'आज भी खरे हैं तालाब' में संकलित है। वह लोक कथा इस तरह से है :

कूड़न, बुढ़ान, सरमन और कौंराई थे चार भाई। चारों सुबह जल्दी उठकर अपने खेत पर काम करने जाते। दोपहर को कूड़न की बेटी आती, पोटली में खाना लेकर। एक दिन घर से खेत जाते समय बेटी को एक नुकीले पत्थर से ठोकर लग गई। उसे बहुत गुस्सा आया। उसने अपनी दरांती से उस पत्थर को उखाड़ने की कोशिश की। पर लो, उसकी दरांती तो पत्थर पर पड़ते ही लोहे से सोने में बदल गई। और फिर बदलती जाती हैं इस लंबे किस्से की घटनाएँ बड़ी तेजी से। पत्थर उठाकर लड़की भागी-भागी खेत पर आती है। अपने पिता और चाचाओं को सब कुछ एक सांस में बता देती है। चारों भाइयों की सांस अटक जाती है। जल्दी-जल्दी सब घर लौटते हैं। उन्हें मालूम पड़ चुका है कि उनके हाथ में कोई साधारण पत्थर नहीं है, पारस है। वे लोहे को जिस चीज़ से छूते हैं, वह सोना बनकर उनकी आँखों में चमक भर देती है। पर आँखों की चमक ज्यादा देर तक नहीं टिक पाती। कूड़न को लगता है कि देर-सबेर राजा तक यह बात पहुँच ही जायेगी और तब पारस भी छिन जायेगा। तो क्या यह ज्यादा अच्छा नहीं होगा कि वे खुद जाकर राजा को सब कुछ बता दें। किस्सा आगे बढ़ता है। फिर जो कुछ घटता है, वह लोहे को नहीं बल्कि समाज को पारस से छूआने का किस्सा बन जाता है। राजा न पारस लेता है, न सोना। सब कुछ कूड़न को वापस देते हुए कहता है,"जाओ इससे अच्छे-अच्छे काम करते जाना, तालाब बनाते जाना"।[5]

इस कथा से यह पता चलता है कि लोकोपकारी कार्यों में जलाशयों का निर्माण पहली प्राथमिकता थी, और यही सबसे अच्छा काम माना गया। इसलिए भी कि जलाशय, लोक जीवन और जीविका दोनों के लिए तब भी और आज भी बहुउपयोगी है। अनुपम मिश्र अपने आलेख 'तालाब बाँधता धरम सुभाव'

में लिखते हैं कि जो समाज को जीवन दे, उसे निर्जीव कैसे माना जा सकता है? तालाबों में, जलस्त्रोतों में जीवन माना गया और समाज ने उसके चारों ओर अपने जीवन को रचा।... कोई भी तालाब अकेला नहीं है। वह भरे पूरे जल परिवार का एक सदस्य है। उसमें सबका पानी है और उसका पानी सब में है। ऐसी मान्यता रखने वालों ने एक तालाब सचमुच ऐसा ही बना दिया था। जगन्नाथपुरी के मंदिर के पास बिन्दुसागर में देश भर हर जलस्त्रोत का, नदियों और समुद्रों तक का पानी मिला है।'[6] भारत में जब ब्रिटिश साम्राज्य स्थापित हुआ तो अज्ञानी अंग्रेज़ों ने लोक निर्मित तालाबों की अवहेलना शुरू की। यह कहा कि भारतीय मूर्ख, जाहिल और गँवार हैं। ठहरा हुआ पानी पीते हैं। इसीलिए इनके यहाँ बीमारियाँ अधिक हैं। जबकि उन्हें यह ज्ञान नहीं था कि तालाब, कुओं, बावड़ियों आदि में एकत्रित वर्षा जल शुद्ध और पवित्र होता है। यह एकत्रित जल सूर्य की रोशनी और हवा से शुद्ध होता रहता था। उन्हें उस लोक चिकित्सा प्रणाली का ज्ञान नहीं था कि राजस्थान में तालाब आदि जलाशयों में एकत्रित वर्षा जल से ही पेट की बीमारी का इलाज हो जाता था।

भारत जलस्त्रोतों की प्रचुरता के कारण ही पानीदार समाज कहा जाता रहा है। पानी और समाज का रिश्ता ही कुछ ऐसा था कि लोक साहित्य में पानी को लेकर ढेर सारे मुहावरे बने। अनेक लोक कहावतें बनी। जैसे- 'आग लगे पर कुआँ खोदना', 'आग से पानी हो जाना', आँख का पानी उतरना', 'पानी-पानी होना', 'बे-पानी करना', 'जल में रहकर मगर से बैर', रहिमन पानी राखिए, 'बिन पानी सब सून', 'पग-पग रोटी, डग-डग नीर', 'पानी बिकत बाज़ार में, रस-गोरस के भाव', 'भँवरा तोरा पानी गजब कर जाये, गगरी न फूटे चाहे खसम मर जाये', 'ताल में, तलैयन में, नदिया और नारन में, भाटे में भरकन में, पानी ही पानी है' आदि मुहावरों और कहावतों से लोक-संस्कृति में जल और जलस्त्रोतों के बीच स्थापित सम्बन्ध को समझा जा सकता है। शेफाली चतुर्वेदी कहती हैं, लोक-साहित्य पानी के प्रवाह से तरलित है, वहाँ लोक कवि अपने निरीक्षण से जल के स्त्रोतों के सूखने और पर्यावरण के साथ खिलवाड़ करने जैसे विषयों को बड़ी सहजता से अभिव्यक्त करता है। लोक में भगवान को खुश करने के लिए बाग-बगीचा लगाना भक्तों का परम कर्त्तव्य है। कुएँ खुदवाना, बावड़ी बनवाना, ताल-तालाब, जल-संरक्षण आदि कार्य जनहित में किए जाते हैं और ईश्वरीय प्रेरणा किसी भी सहृदय व्यक्ति से यह कार्य करवाती है। अतः लोकहित

में किए गये कार्य ईश्वरीय एवं आध्यात्मिक चेतना तक पहुँचने की पहली सीढ़ी माने जाते हैं।'[7]

हिंदी कथा साहित्य में लोक और जलस्रोत

हिंदी साहित्य की विभिन्न विधाओं में लोक और जलस्रोतों के सम्बन्धों का परिचय कई रूपों में मिलता है। जिसमें मुख्यत: लोक और जलस्रोतों की परस्पर निर्भरता तथा जलस्रोतों की स्थिति आदि विषय हैं। हिंदी कथा साहित्य की कई महत्त्वपूर्ण रचनाएँ इसी विषय पर केन्द्रित हैं। उन रचनाओं के केंद्र में जलस्रोतों पर आधारित लोक संस्कृति, जलस्रोतों से जीवन और जीविका का सम्बन्ध, नदियों, तालाबों, कुओं आदि जलाशयों की दुर्दशा, मछुआरों की संघर्षमय ज़िंदगी, नदियों पर बाँध बनाने से उपजे विस्थापन की व्यथा है। जलस्रोत, लोक-संस्कृति में किस तरह रचे-बसे हैं, इसकी बानगी स्वप्निल श्रीवास्तव की कहानी 'नदी, गाँव और घर' में देखने को मिलती है। सुगना नदी के तट पर एक गाँव बसा था। इस नदी में हर साल बाढ़ आती थी। जन-जीवन संकटमय हो जाता था। इस कहानी में एक परिवार के लोग अपने घर के मुखिया से नदी और बाढ़ के वजह से गाँव छोड़ने को कहते हैं; तो मुखिया का जवाब लोक से जलस्रोतों की भूमिका को स्पष्ट कर देता है। मुखिया कहते हैं- 'नदी का पानी हमारी धमनियों में बह रहा है। उसे पीकर हम बड़े हुए हैं। हम नदी की पूजा करते हैं। गाँव के लोग छठ का त्यौहार मनाते हैं। इसी नदी के जल से सूरज भगवान को अर्घ्य देते हैं। नदी तो हमारी माँ है। क्या माँ किसी का अनिष्ट कर सकती है। यह हमारे पूर्वजों की ज़मीन है। इसे छोड़कर हम कहाँ जाएँगे?'[8]

यह तो सुगना नदी को लेकर विचार है। ऐसे में गंगा, यमुना, नर्मदा, क्षिप्रा, गोदावरी, तमसा, सरयू आदि नदियों से जुड़े विशाल लोक-संसार के सहज जुड़ाव, भाव और भूमिका को समझा जा सकता है। इस सन्दर्भ में और नदियों, जलाशयों की बात तो छोड़िए ही; आज भारत की सबसे बड़ी और पवित्र नदी गंगा ही सर्वाधिक संकट में है। नागार्जुन का एक उपन्यास है- 'वरुण के बेटे'। यह उपन्यास भारत में लागू आर्थिक उदारीकरण की नीतियों के पूर्व का है। तब आज की तरह पानी और माटी का बाजारीकरण नहीं हुआ था। जलस्रोतों को पाटने और कब्जाने की नौबत नहीं आई थी। जलस्रोतों के सूखने की खबरें

नहीं थीं। नदियों पर बाँध बनाना आम बात नहीं था। अब इस उपन्यास पर आते हैं। सवाल इस बात का है कि नागार्जुन ने इस उपन्यास का शीर्षक 'वरुण के बेटे' ही क्यों रखा? दरअसल, नागार्जुन बताना चाहते थे कि देश के नीति-निर्माताओं, ज़रा जल देवता के गोंद में रहने, खेलने, बसने और जीने वाले बेटों की ओर भी नजरें फेरों। देखो, तालाबों, झीलों, नदियों और समुद्र के पानी में डूबे रहने वाले और उस जल से अपनी जीविका चलाने वाले मछुआरों की ज़िंदगी। उन मछुआरों की ज़िंदगी जो लोक का हिस्सा हैं। वे मछुआरे जो नाक भर पानी में डूबकर, दिन के तपिश और गहन रात के अंधेरे में मछलियाँ निकालते हैं। वही, मछलियाँ, जिन्हें कुलीन वर्ग बड़े आसानी से मोल-भाव कर अपने स्वाद को करारा करते हैं।

नागार्जुन, मछुआरों के उस संघर्ष को बताना चाहते थे कि जहाँ कठोर परिश्रम के बाद भी उन मछुआरों की ज़िंदगी बड़ी मुश्किल से कटती है। दिखाना चाहते थे कि उनका परिवार किस तरह अपनी ज़िंदगी कतर-ब्यौंत एवं बीमारी-परेशानी में ही गुजार देता है। पैसों के अभाव में न तन पर कपड़े होते हैं और न ही रोज पेट-भर भात। न किसी बीमारी का समुचित इलाज न बच्चों को अच्छी शिक्षा। जो समय के साथ बढ़ता ही जा रहा है। यह उपन्यास मछुआरों के बहाने जलस्रोतों की स्थिति और उस दौर के प्रशासन को भी बताता है। उपन्यास पढ़ते हुए मछुआरों की कष्टमय जुझारू ज़िंदगी का पता तो चलता ही है; साथ ही यह भी कि उस दौर का प्रशासन आज के जितना न तो निर्मम था और न ही अमानवीय। हाँ, यह वही दौर था जब नदियों पर बाँध बनाने की कवायद शुरू की जा चुकी थी। जिसका परिणाम बुरा होना था, सो अब धीरे-धीरे बड़ी संख्या मे विस्थापन के रूप में दिखने लगा है। इस उपन्यास में 'गढ़ोखर' और 'धनहाचौर' दो बड़े जलाशय हैं। इन जलाशयों पर मालिकाना हक जमीदारों का था; लेकिन मछुआरों को अनुबंध आधारित व्यावसायिक छूट थी। इन्हीं जलाशयों के भरोसे पाँच-सात कोस के मछुआरे अपनी ज़िंदगी काटते थे। यह जलाशय मछुआरों के लिए केवल मछली निकालने का ही स्रोत नहीं थे, बल्कि वो जलाशय उनके लिए अपने संतान जैसे थे। जब इस जलाशयों के मालिक जमींदारी उन्मूलन कानून के तहत व्यक्तिगत संपत्ति के नाम पर अपने कुएँ, पोखर, चारागाहों को बेचने लगे तो मछुआरों का उन जलस्रोतों के प्रति लगाव फूट पड़ता है। एक बुजुर्ग मछुआरा कहता है, यह पानी सदा से हमारा रहा है, किसी भी हालत में

हम इसे नहीं छोड़ सकते। पानी और माटी न कभी बिके हैं, न कभी बिकेंगे। गरोखर का पानी मामूली पानी नहीं, वह तो हमारे शरीर का लहू है। जिनगी का निचोड़।'[9] मछुआरों या जलस्रोतों पर निर्भर लोक जीवन की विवशता भरी ज़िंदगी देखनी हो तो 'वरुण के बेटे' आपको उसका दर्शन बखूबी कराती है। उपन्यास में वर्णित खुरखुन मछुआरे का घर और उसके परिवार की दशा देखिये और खुरखुन की बेटी का अपनी माँ को अस्पताल जाते देखकर दिया गया बयान– खजूर के पत्तों से बिनी मामूली–सी दो चटाइयाँ। एक बिछी थी, दूसरी लपेटकर कोने में रखी थी। पीतल का पिचका लोटा, अलमुनियम की लुंज थाली। बाकी बर्तन–बासन मिट्टी के।...क्या यही चिथड़ा झुलाती अम्मा अस्पताल जायेगी? तार–तार हो गया है समूचा नुआ (लुग्गा)! अब एक दिन भी पहनने लायक नहीं रह गया है फिर भी उसे पहनने जा रही है।[10]

इस तरह यह उपन्यास लोक और जलस्रोतों के बहुआयामी सम्बन्धों और स्थितियों को उजागर करता है।

आज जलस्रोतों के सूखने, नष्ट और बर्बाद होने की कहानी से हम सभी वाकिफ़ हैं। विकास के नाम पर बाँध बनाने से लोक जीवन के तबाह होने की कहानी अलग ही है। 7 जून 2016 को इंडिया वाटर पोर्टल पर प्रकाशित अफ़रोज आलम साहिल का एक आलेख 'गायब होते जलस्रोतों की कहानी' के कुछ तथ्य और आँकड़े हमें सोचने का विवश करते हैं। इस आलेख में अफ़रोज बताते हैं कि दिल्ली के अधिकांश जलस्रोतों पर कब्जा हो चुका है। 1011 जलस्रोतों में से 623 यानि दिल्ली के तकरीबन 62 फीसदी जलस्रोत गायब हो चुके हैं। प्रेम पंचोली का आलेख 'जल पूजा बंद होने से गहराता जल संकट' बताता है कि उत्तराखंड में जल आपूर्ति की समस्या तब से बढ़ने लगी जब से लोग जल पूजा की परंपरा को भूल गये। आज उत्तराखंड के सभी प्राकृतिक जलस्रोत सूखने लगे हैं। भागलपुर के कला केंद्र में सितंबर 2017 में 'परिधि' संस्था की ओर से 'तालाब, नदी, पानी' विषय पर एक संवाद कार्यक्रम आयोजित हुआ था। 'परिधि' के उदय ने बताया कि गाँवों में तालाब केवल जलस्रोत ही नहीं संस्कृति के वाहक भी हैं। हमारे धार्मिक अनुष्ठान से लेकर अन्य संस्कार तालाब के किनारे ही होते आए हैं। पहले जलस्रोतों के साथ लोक प्रबंधन जुड़ा था। आज लोक प्रबंधन खत्म होने से अतिक्रमण और गंदा पानी तालाबों की नियति बन चुकी है। इस लोक प्रबंधन को लेकर अनुपम मिश्र की पुस्तक 'आज भी खरे हैं तालाब' विस्तार से बात करती है।

जलस्त्रोतों की मौजूदा स्थिति को लेकर 30 जून 2019 को भास्कर न्यूज़ नेटवर्क वेब पोर्टल पर प्रकाशित एक रिपोर्ट काफ़ी चिंता में डालती है। इस रिपोर्ट के अनुसार– पिछले 70 सालों में 30 लाख में से 20 लाख तालाब, कुएँ, पोखर, झील आदि पूरी तरह ख़त्म हो चुके हैं। बिहार सरकार के मत्स्य निदेशालय के अनुसार 20 वर्ष पहले राज्य में सरकारी और निजी तालाबों की संख्या 2.5 लाख थी जो आ घटकर 98,401 हो गई हैं। यहाँ 150 छोटी–बड़ी नदियाँ हैं, लेकिन 48 सूख गई हैं। राजस्थान के शहरी इलाके में तालाब और बावड़ियों की संख्या 772 है। इनमें से 443 में तो पानी है, जबकि शेष 32 बावड़ियाँ और तालाब सूख चुके हैं या इन पर अतिक्रमण हो चुका है। उत्तर प्रदेश में 1 लाख 77 हजार कुएँ हैं। जबकि केवल पिछले पाँच साल में 77 हजार कुएँ कम हुए हैं। यहाँ करीब 24 झीले हैं, लेकिन पाँच साल में 12 झीले सूखकर ख़त्म हो चुकी हैं।[11] जिन जलस्त्रोतों को लोक–संस्कृति का विशाल दरवाजा कहा जाता रहा है, आज वहाँ पानी के जगह बालू,पत्थर, रेतीला मैदान, शॉपिंग कॉम्प्लेक्स, मल्टीप्लेक्स और एयरपोर्ट आदि दिख रहे हैं। वहीं दूसरी ओर आस्था के बाजारीकरण ने जलस्त्रोतों को जबर्दस्त तरीके से प्रदूषित किया है। एक अनुमान है कि हर साल देश में 10 लाख से ज़्यादा प्रतिमाएँ बनती हैं और इनमें से 90 फ़ीसदी प्लास्टर ऑफ पेरिस की होती हैं। इस तरह देश के ताल–तलैया, नदियों–समुद्र में नब्बे दिनों में कई सौ टन प्लास्टर ऑफ पेरिस, रासायनिक रंग, पूजा सामाग्री मिल जाती है। पी.ओ.पी. ऐसा पदार्थ है जो कभी समाप्त नहीं होता।...केन्द्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड द्वारा दिल्ली में यमुना नदी का अध्ययन इस सम्बन्ध में आँखें खोलने वाला रहा है कि किस तरह नदी का पानी प्रदूषित हो रहा है। बोर्ड के निष्कर्षों के मुताबिक़ नदी के पानी में पारा, निकल, जस्ता, लोहा, आर्सेनिक जैसी भारी धातुओं का अनुपात दिनोंदिन बढ़ रहा है।[12] जाहिर तौर पर जलस्त्रोतों की स्थितियाँ भयावह है।

उदारीकरण के बाद मुक्त बाज़ार की अवधारणा, विकास के नाम पर बाँध और लगातार नष्ट किए जा रहे पेड़ों और पहाड़ों ने भारत के प्राकृतिक जलस्त्रोतों को भारी क्षति पहुँचाई है। नासिरा शर्मा अपने उपन्यास 'कुइयांजान'(2005) में इस विषय की गंभीरता को बड़ी शिद्दत से अभिव्यक्त करती है। इस उपन्यास की भूमिका में नासिरा जी कहती हैं– 'कुइयां अर्थात् वह जलस्त्रोत मनुष्य की प्यास आदिम युग से ही बुझाता आया है। जो शायद जिजीविषा की पुकार पर

मानव की पहली खोज थी। पहली उपलब्धि जो हमने अतीत में अपनी प्राणरक्षा के लिए प्यास बुझाकर हासिल की थी और आज भी उतनी ही तीव्र है। पर आधुनिक टेक्नॉलॉजी में मनुष्य ने उस मूलस्रोत को आदिम करार दे दिया है और अपनी मशीनी ताकत के बल पर प्रकृति के इस अक्षय स्रोत 'जल' से खिलवाड़ कर रहा है। जिसका परिणाम यह है कि अपार जलसम्पदा होते हुए भी हम प्यासे तड़पने को विवश हो रहे हैं।[13] इसी तरह विमलचंद पांडेय कहानी 'सातवाँ कुआं' लोक और जलस्रोत के सम्बन्ध और उनकी स्थितियों को बताती है। इस कहानी के पात्र रामदयाल को कुत्ता काट लेता है। लोक मान्यता यह है कि पानी वाले सात कुएँ झाँकने से कुत्ते का जहर बेअसर हो जाता है। रामदयाल सात कुओं में झाँकने की सोचता है। लेकिन वह देखता है कि गाँव में जितने भी कुएँ थे, पिछले तीन चार सालों में सूख चुके थे और अब लोग उन कुओं में लोग कूड़ा फेंकते थे।...रामदयाल ने आसपास के सभी कुएँ घूमने के बाद पाया कि पचास सूखे कुओं की तुलना में सिर्फ़ पाँच पानी वाले कुएँ थे और उन पाँच कुओं में से ज़्यादातर का पानी महक रहा था।[14] महेश कटारे की कहानी 'गोंद में गाँव' यह बताती है कि किस तरह कार्पोरेट्स बोतलबंद पानी और अन्य शीतल द्रव्यों के लिए गाँवों के प्राकृतिक जलस्रोतों को सोख लिया है। गाँव के सरपंच से सालिगराम कहता है– पर भैया! गये सोमवार चार–पाँच लड़के आए थे। कह रहे थे कि कंपनी के गहरे कुओं ने हमारे कुएँ सोख लिए हैं। कंपनी सिरफ़ हमारा पानी ही नई बेचती, उससे शराब भी बनाती है।[15]

प्राकृतिक जलस्रोतों को पाटने और उस पर कब्जा जमाने की नीयत ने बाढ़ की समस्या को और विकराल बनाया है। गाँवों और शहरों के जलस्रोत और जलनिकास इस कदर अतिक्रमित हो चुके हैं कि वर्षा का पानी नदियों तक पहुँच ही नहीं पाता। यही कारण है कि अब प्राकृतिक बाढ़ कम और मानवजनित बाढ़ अधिक भयावह है। इस मानवजनित बाढ़ की विवशता और विभीषिका को मनोज पांडेय की कहानी 'पानी' और पंखुरी सिन्हा की कहानी 'तालाब कहो या पोखर' पूरे संवेदना के साथ बयां करती हैं। अनुपम मिश्र अपनी पुस्तक 'साफ माथे का समाज' में ठीक ही लिखते हैं कि 'तैरने वाला समाज डूब रहा है'।[16] दूसरी ओर विकास के नाम पर नदियों पर बनते, बढ़ते बाँधों ने लोक जन–जीवन को सबसे अधिक विस्थापित किया है। उन्हें अपार कष्ट और संकट

में डाला है। एक रिपोर्ट के मुताबिक देश में इस कोई 3600 बाँध हैं। इनमें से 3,300 आज़ादी के बाद बाँधे गये। अनुमान है कि प्रत्येक बाँध की चपेट में औसतन 20 हजार लोग आए और वे अपने घर, गाँव, रोटी–रोजगार से उजड़ गये।[17] बिजली उत्पादन के नाम पर नदियों पर बनते बाँधों ने लाखों लोगों को डुबाया है। इस सन्दर्भ में स्वतंत्र मिश्र की किताब 'जल, जंगल, ज़मीन' और अरुंधति रॉय का आलेख 'हाँ हरसूद और बगदाद में बहुत समानता है' भी उल्लेखनीय है। 'डूबता टिहरी तैरते सवाल' का यह कथन उल्लेखनीय है कि टिहरी जलाशय में 1,600 सौ एकड़ घना जंगल डूब रहा है।... हरसूद की बरसी के आँसू अभी सूखे भी नहीं थे कि टिहरी के मातम की तैयारी विकास के हमारे पुरोधाओं ने शुरू कर दी। इस परियोजना से एक हजार मेगावाट बिजली मिलने की उम्मीद दिखाकर करोड़ों लोगों की आस्था को तिलांजलि दी जा रही है।[18] नदियों पर बाँधों के बनने और उससे उजड़ते 'लोक' की पीड़ा और कथा–व्यथा एस.आर हरनोट की कहानी 'नदी गायब है', रणेन्द्र की कहानी 'रात बाक़ी', पूरन हार्डी की 'बुड़ान' और वीरेंद्र जैन के उपन्यास 'डूब' और 'पार' में दर्ज़ है।

लोक–संस्कृति में जलस्रोतों की भूमिका का अध्ययन करने से पता चलता है कि भारत ही नहीं दुनिया का लोक संसार जलस्रोतों से गहरे जुड़ा और उसमें धँसा हुआ है। यही जलस्रोत लोक संस्कृति के वाहक हैं। लोक–जीवन की सामूहिकता इन्हीं जलस्रोतों के किनारे सुदृढ़ होती रही है। न केवल आस्था, पवित्रता, पूजनीयता का बल्कि यही जलस्रोत जीवन और जीविका का भी एक सशक्त माध्यम हैं; लेकिन जब हम विभिन्न तथ्यों, आँकड़ों और रचनाओं के माध्यम से जलस्रोतों के मौजूदा हालत की पड़ताल करते हैं तो स्थितियाँ बहुत चिंताजनक और चुनौतीपूर्ण नज़र आती है। जिस देश में जलस्रोतों का निर्माण दैवीय और परमार्थ का काम माना जाता रहा है; आज उन्हीं जलस्रोतों के कब्र पर कंक्रीट का जंगल उगाया जा रहा है। ऐसे में जिस लोक–संस्कृति की विशिष्टता की बात होती है, उसका भविष्य यक़ीनन अंधकारमय होगा। जल स्रोतों पर आधारित लोक–जीवन और जीविका का सवाल भी एक बड़ी चुनौती होगी। इन स्थितियों में जलस्रोतों को बचाने के लिए सामूहिक प्रयास करना होगा। जलस्रोतों का पुनर्जीविकरण। जलस्रोतों को कब्ज़ामुक्त करना और कराने का प्रयास। लोक आस्था को आडंबर मुक्त करना। नदियों या अन्य जलस्रोतों को जीवित प्राणी मानना। और हाँ! इन जलस्रोतों को बचाने का प्रयास उसी रास्ते

से हो सकता है, जिस रास्ते और जिन कारणों से यह जलस्रोत बर्बाद हो रहे हैं।

सन्दर्भ :

1. जनपद, वर्ष 1, अंक 1, 65.
2. पीयूष दईया (2012) की भूमिका से.
3. पीयूष दईया (2012), पृष्ठ 547.
4. पंकज चतुर्वेदी (2016), पृष्ठ 38–39.
5. अनुपम मिश्र (2011), पृष्ठ 9–10.
6. अनुपम मिश्र (2011), पृष्ठ 79– 86.
7. कालीचरण यादव(2016), मड़ई, वर्ष 30, अंक 30, छत्तीसगढ़, पृष्ठ 29.
8. https://www.shabdankan.com/2016/08/kahani-nadi-gaanv-aur-ghar-swapnil.html? 12/07/2019
9. नागार्जुन(2003),पृष्ठ 33.
10. नागार्जुन(2003), पृष्ठ 80.
11. https://www.bhaskar.com/rajasthan/jaipur/news/rajasthan-news-dried-4500-rivers-and-disappeared-20-million-ponds-wells-lake-083004-4888061.html/ 10/07/2019
12. पंकज चतुर्वेदी(2018),पृष्ठ 18–19.
13. नासिरा शर्मा (2005), कुइयांजान, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली की भूमिका से उद्धृत.
14. विमलचंद पांडेय 2016), उत्तर प्रदेश की खिड़की, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृष्ठ 64.
15. महेश कटारे (2008), छछिया भर छाछ,अंतिका प्रकाशन,गाज़ियाबाद, पृष्ठ 55.
16. अनुपम मिश्र (2006), साफ़ माथे का समाज, पेंगुइन बुक्स इंडिया, हरियाणा, पृष्ठ 41
17. https://www.livehindustan.com/news/article1-story-385572.html/13/07/2019
18. स्वतंत्र मिश्र (2014), जल जंगल और ज़मीन, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 43.

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

अभिलेखागार
क्षेत्रीय अभिलेखागार प्रयागराज (आरएपी).
उत्तर प्रदेश राजकीय अभिलेखागार, लखनऊ (युपीएसए).
नेशनल आर्काइव्स ऑफ़ इंडिया (एनएआई).

वांग्मय
कलेक्टेड वर्क्स ऑफ़ महात्मा गाँधी के विभिन्न खंड .
सम्पूर्ण गाँधी वांगमय के विभिन्न खंड .
सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ़ जवाहरलाल नेहरू के विभिन्न खंड .
डॉ. बाबासाहब अंबेडकर : राइटिंग्स एंड स्पीचेज़ के विभिन्न खंड .
राममनोहर लोहिया रचनावली (2009), सम्पादक मस्तराम कपूर, अनामिका प्रकाशन, नई दिल्ली.

अख़बार और पत्रिकाएँ आदि
लीडर, यंग इंडिया, नवजीवन, लीडर, जनपद, हिन्दुस्तान, अमर उजाला,जनपद.

सहायक ग्रंथ
अ केस फॉर मूलशी पेटा सत्याग्रह (1921), सत्याग्रह सहायक मंडल, पूना.
अनुपम मिश्र (2011), आज भी खरे हैं तालाब, कल्याणी शिक्षा परिषद, नई दिल्ली.
अनुपम मिश्र (2006), साफ़ माथे का समाज, पेंगुइन बुक्स इंडिया, हरियाणा
अभय कुमार दुबे (2005), आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.

अपर्णा सुंदर और नंदिनी सुंदर (2012), द हैबिट्स ऑफ़ द पॉलिटिकल हार्ट : रिकवरिंग पॉलिटिक्स फ्रॉम गवर्नमेंटैलिटी, सेज, नई दिल्ली.
अमर्त्य सेन, (2000), सोशल एक्सक्लूजनः कांसेप्ट, एप्लीकेशन, एंड स्क्रूटिनी, एशियन डेवलपमेंट बैंक.
अम्लान दत्ता (1986), द गांधियन वे, नॉर्थ ईस्टर्न हिल युनिवर्सिटी पब्लिकेशंस, शिलांग.
अर्चना सिंह (2019), रूरल दलित वीमेनः असर्सन फॉर चेंज (सम्पा), ए. के. पंकज और ए. के. पाण्डेय, 'दलित, सबाल्टर्निटी एंड सोशल चेंज इन इंडिया, रटलेज़, नई दिल्ली.
अवधेन्द्र शरण (2017),'द गंगेज़ एज़ एन अर्बन सिंक', मार्टिन नॉल व अन्य (सम्पादक), रिवर्स लॉस्ट रिवर्स रीगेंड : रीथिंकिंग सिटी–रिवर रिलेशन्स, युनिवर्सिटी ऑफ़ पिट्सबर्ग प्रेस, पिट्सबर्ग
अस्सा डोरोन (2008), कास्ट,पॉलिटिक्स एंड रेसिस्टेंस ऑन द गंगेज, रट्लेज.
अस्सा डोरोन (2011), लाइफ ऑन द गंगाः बोटमेन एंड द रिचुअल इकोनोमी ऑफ़ बनारस, फाउंडेशन बुक्स, नई दिल्ली.
अस्सा डोरोन आदि (2015), एन एंथोलोजी ऑफ़ द राइटिंग्स आन द गंगा : गॉडेस एण्ड रिवर इन हिस्ट्री, कल्चर एण्ड सोसाइटी, ऑक्सफ़ोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.
आर. पी. खत्री (1996), द गंगेज़ एंड इट्स पीपुल : अ स्टडी ऑफ़ सैक्रेड रिवर एंड इट्स कल्चरल इन्फ़्लुएंस, एकाडमिक पब्लिशर्स, नई दिल्ली.
इमाइल दुर्खीम (1976), द एलेमेंट्री फॉर्म्स ऑफ़ रिलीजियस लाइफ़, ऑक्सफ़ोर्ड, न्यूयॉर्क.
इरविन गोफमैन (1959), द प्रजेंटेशन ऑफ़ सेल्फ इन एवरी डे लाइफ़, न्यूयॉर्क, एंकर बुक्स.
ई.जे.एच. मैके (1938), फरदर एक्सकेवेशंस ऐट मोहेनजो–दारो, 2 वॉल्यूम, दिल्ली,भारत सरकार.
एच.आर.नेविल (1909),अ गजेटियर बीइंग वोल्यूम 31 ऑफ़ द डिस्ट्रिक्ट गजेटियर ऑफ़ द यूनाइटेड प्रोविंस एंड अवध, गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद.
एस. डेनशायर (2014), ऑन ऑटो–एथनोग्राफी, करेंट सोशियोलॉजी, 62 (6), 831–850.

ऐनी फेल्डहॉस (1995), वाटर एंड वुमनहुड : रिलीजियस मीनिंग्स ऑफ रिवर्स इन महाराष्ट्र, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

एलिनर ऑस्ट्रम (1990), गवर्निंग द कॉमन्सः द इवालुएशन ओफ़ इंस्टीट्यूशन्स फार कलेक्टिव एक्शन, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज़

एरविन सी. हारग्रोव, (1994), प्रिज़नर्स ऑफ़ मिथ : द लीडरशिप ऑफ़ द टेनेसी वैली अथॉरिटी, 1933–1990, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.

एरिक हॉब्सबाम (1999), अनकॉमन पीपुल– रेसिस्टेंस, रिबेलियन एंड जॉज, अबेकस, लन्दन.

एलिज़ाबेथ व्हिटकांब (1991),'इरिगेशन', धर्मा कुमार (सम्पादक), द कैम्ब्रिज इकनॉमिक हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, भाग 2, 1757–1970,कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज.

ऐनी फेल्डहॉस (1995), वाटर एंड वुमनहुड : रिलीजियस मीनिंग्स ऑफ़ रिवर्स इन महाराष्ट्र, ऑक्सफ़ोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

एस. आर. राव (1973), लोथल एंड द इंडस सिविलाइज़ेशन, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बॉम्बे.

एस.आर. राव (1979 एवं 1985), लोथलः अ हरप्पन पोर्टटाउन, वॉल्यूम 1 और 2, मेम्वायर्स ऑफ़ द आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया, नंबर 78, भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली.

उत्तर प्रदेश जिला गजेटियर (1986), इलाहाबाद, गवर्नमेंट प्रिंटिंग प्रेस, इलाहाबाद.

उषा सान्याल (2000), द सैक्रेड गंगेज़ : विमेंस रिचुअल एंड कल्चरल प्रैक्टिसेज़ इन वाराणसी, विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली.

कबीर, (2012),कबीर ग्रंथावली, सम्पादक– श्यामसुंदर दास, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली.

के.एस. सिंह (2005), पीपुल्स ऑफ़ इंडिया, उत्तर प्रदेश, वॉल्यूम 42, एंथ्रोपोलोजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया

के.टी. शाह (सम्पादक), रिवर ट्रेनिंग एंड इरिगेशन (नैशनल प्लानिंग कमेटी सीरीज)(1947), वोरा एंड कं. पब्लिशर्स, बम्बई.

कमल नयन चौबे (2015), जंगल की हक़दारी : राजनीति और संघर्ष, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.

कामा मैकलियन (2008), पिलग्रिमेज एण्ड पॉवर : द कुम्भ मेला इन इलाहाबाद, 1765–1954, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.

कालिदास-ग्रन्थावली (2012), रघुवंश, 13, 60–63, सम्पादक ब्रह्मानंद त्रिपाठी, चौखम्बा भारती प्रकाशन, वाराणसी.

कालीचरण यादव (2016), मड़ई, वर्ष 30, अंक 30, छत्तीसगढ़.

क्रिस क्लार्कसन आदि (2017), ह्यूमन ऑक्यूपेशन ऑफ़ नॉर्दर्न ऑस्ट्रेलिया बाई 65000 इयर्स एगो', नेचर (मैकमिलन पब्लिशर्स लिमिटेड, पार्ट ऑफ़ स्प्रिंगर नेचर, वॉल्यूम 547, जुलाई).

के. एस. सिंह (1998), पीपल ऑफ़ इंडिया, खंड पाँच, एंथ्रोपोलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया, ऑक्सफ़ोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

के.एस. सिंह (2005), पीपुल ऑफ़ इंडिया (खंड 42, दूसरा भाग), एंथ्रोपोलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया, मनोहर, नई दिल्ली.

कुबेरनाथ राय (1982), निषाद बांसुरी : व्यक्ति निबंध, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली.

कुबेरनाथ रचना संचयन (2014), चयन एवं सम्पादनः हनुमान प्रसाद शुक्ल, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली.

गीता तिवारी (2006) विमेन एंड एनवायरेनमेंटल सस्टेनिबीलिटी, हर आनंद पब्लिकेशंस, दिल्ली.

गोपाल गुरु और सुंदर सुरक्कै (2012), द क्रैक्ड मिरर : एन इंडियन डिबेट ऑन एक्सपीरिएंस एंड थ्योरी, ऑक्सफ़ोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

कौटिल्यीय अर्थशास्त्र (हिंदी अनुवाद सहित), प्रथम भाग (अनुवादक विद्याभास्कर वेदरत्न उदयवीर शास्त्री), 1969, मेहरचंद लक्ष्मनदास, दरियागंज दिल्ली.

गोविंद निषाद (2023), नदी पर नियंत्रणः औपनिवेशिकता और नदी आधारित समुदाय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, अप्रकाशित एम. फिल शोध प्रबंध.

चन्दन कुमार शर्मा और भाश्वती बौर्गोइन (2019), द न्यू लैंड सेटलमेंट एक्ट इन अरुणाचल प्रदेश, इकोनोमिक एंड पोलिटिकल वीकली, अंक 54, न. 23

जिम बेस्ट (2018),'एंथ्रोपोजेनिक स्ट्रेसेज़ ऑन द वर्ल्ड्स बिग रिवर्स', नेचर जियोसाइंस, 17 दिसंबर.

जुरगेन हैबरमास (1992), द स्ट्रक्चरल ट्रांसफॉर्मेशन ऑफ़ द पब्लिक स्फीयर.
जैसन एम. केली व अन्य (2018) (सम्पादक), रिवर्स ऑफ़ द एंथ्रोपोसीन, (कैलिफोर्निया : युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफोर्निया प्रेस).
जोनाथन मार्क केनोएर (1998), एशियंट सिटीज ऑफ़ द इंडस सिविलाइज़ेशन, ऑक्सफ़ोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस एंड अमेरिकन इंस्टिट्यूट ऑफ़ पाकिस्तान.
जी.आर. शर्मा (1973), 'मेसोलिथिकलेक कल्चर्स इन द गंगा वैली, इंडिया', प्रोसीडिंग्स ऑफ़ द प्रीहिस्टोरिक सोसाइटी, 39.
जी.आर.शर्मा (1975), मेसोलिथिक कल्चर इन द गंगा वैली, 'के.सी. चट्टोपाध्याय मेमोरियल वॉल्यूम (सम्पादक जी. आर. शर्मा), प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद.
जे. एन. पाल (2002), 'मेसोलिथिक गंगेटिक प्लेन', मेसोलिथिक इंडिया (सम्पादकवी. डी. मिश्र और जे. एन. पाल), प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय.
डब्लू. क्रुक (1974), ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑफ़ द नार्थ वेस्टर्न इंडिया, कॉस्मो पब्लिकेशंस, दिल्ली.
डी. आर.नागराज (2018), द फ्लेमिंग फीट एंड अदर एस्सेज, परमानेंट ब्लैक, रानीखेत.
डेविड हार्वे (2001) स्पेस ऑफ़ कैपिटल: टुवर्ड्स अक्रिटिकल जियोग्राफी, एडिनबर्घ युनिवेर्सिटी प्रेस.
तुलसीदास (2015), विनय–पत्रिका, गीता प्रेस गोरखपुर.
तुलसीदास (2015), श्रीरामचरितमानस, गीता प्रेस गोरखपुर, बालकांड
तुलसीदास, (2012) रामचरितमानस, गीता प्रेस सटीक मझला साइज,संस्करण संवत 2071.
द स्टेट ऑफ़ इंडिया'ज़ एनवायरेनमेंट : द फर्स्ट सिटीजंस रिपोर्ट (1982), सेंटर फ़ॉर साइंस एंड एनवायरेनमेंट, नई दिल्ली.
दीपेश चक्रवर्ती (2009), ''द क्लाइमेट ऑफ़ हिस्ट्री : फोर थीसिस'', क्रिटिकल इन्क्वायरी, 35 सं. 2.
नागार्जुन (2003), वरुण के बेटे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.
नैंसी फ्रेज़र (1992), रिथिंकिंग द पब्लिक स्फ़ीयर : अ कंट्रीब्यूशन टू द क्रिटीक ऑफ़ एक्चुअली एक्सिसस्टिंग डेमोक्रेसी, एमआईटी प्रेस.

नासिरा शर्मा (2005), कुइयांजान, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली.
निक कोल्ड्री (2010), व्हाई व्वाइस मैटर्स : कल्चर एंड पॉलिटिक्स आफ्टर निओलिबरालिजम, सेज, नई दिल्ली.
नैंसी फ्रेज़र (2013), फ़ार्च्यूंस ऑफ़ फेमिनिज्म : फ्रॉम स्टेट मैनेज्ड कैपिटलिज्म टू नियोलिबरल क्राइसिस, वर्सो, लंदन.
पंकज चतुर्वेदी (2016), आपदा और पर्यावरण, नया ज्ञानोदय, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली.
पंकज चतुर्वेदी (2018), लोक, आस्था और पर्यावरण, परिकल्पना प्रकाशन, नई दिल्ली.
पीयूष दईया (2012), लोक, भारतीय लोक कला मण्डल, उदयपुर
पुरुषोत्तम अग्रवाल (2019),अकथ कहानी प्रेम की, कबीर की कविता और उनका समय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
प्राइमरी सेंसस एब्सट्रैक्ट सी.डी., ब्लाक वाइज उत्तरप्रदेश डिस्ट्रिक्ट गोरखपुर, 2011.
पार्थ चटर्जी (2004), द पॉलिटिक्स ऑफ़ गवर्न्ड : रिफ्लेक्शंस ऑन पॉलिटिकल सोसायटी इन मोस्ट ऑफ़ वर्ल्ड, परमानेंट ब्लैक, नई दिल्ली
पार्थ चटर्जी (2008), डेमोक्रेसी एंड इकॉनोमिक ट्रांसफॉर्मेशन इन इंडिया', इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 43.
पार्थ चटर्जी (2013), द ब्लैक होल ऑफ़ एम्पायर : हिस्ट्री ऑफ़ अ ग्लोबल प्रैक्टिस ऑफ़ पॉवर, परमानेंट ब्लैक, दिल्ली.
प्रतीक चक्रवर्ती (2015), 'प्यूरीफाइंग द रिवर : पोल्यूशन एंड प्योरिटी ऑफ़ वाटर इन कोलोनियल इंडिया', स्टडीज़ इन हिस्ट्री, 31, 2.
प्रफुल्ल कुमार सिंह 'मौन' और अश्विनी कुमार आलोक (2018), मल्लाहों की समग्र संस्कृति, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली.
पॉल क्रत्जेन और यूजीन स्टोर्मर (2000),''एंथ्रोपोसीन'', आईजीबीपी न्यूज़लेटर, 41, 17-18.
पॉल क्रत्जेन (2002), ''जियोलॉजी ऑफ़ मैनकाइंड'', नेचर, 415 (3 जनवरी), 23.
फर्नांद ब्रादेल (1972), द मेडीटरेनियन एंड द मेडीटरेनियन वर्ल्ड इन द एज

ऑफ़ फ़िलिप II, भाग 1, कॉलिन्स, लंदन.
फरीद काज़मी 'द पॉलिटिक्स ऑफ़ इंडियाज कन्वेंशनल सिनेमा' (1999), द पॉलिटिक्स ऑफ़ इंडिया'ज कन्वेंशनल सिनेमा, सेज, नई दिल्ली.
बद्री नारायण (2006), वीमेन हीरोज एंड दलित असर्सन इन नॉर्थ इंडिया, सेज, नई दिल्ली.
बद्री नारायण (2014), हिंदुत्व का मोहिनी मंत्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.
बद्री नारायण (2014), दलित वीरांगनाएँ एवं मुक्ति की चाह : उत्तर भारत में दलित संस्कृति, पहचान और राजनीति, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.
बद्री नारायण (2017), ''पुराने कौशल नए असमंजस'', अमर उजाला, 17 जून, इलाहाबाद.
बद्री नारायण (2018), खंडित आख्यान : भारतीय जनतंत्र में अदृश्य लोग (अनुवाद : रमाशंकर सिंह), ऑक्सफ़ोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस.
बद्री नारायण एवं अन्य (2006), उपेक्षित समुदायों का आत्म इतिहास, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.
बी. डी. जोशी एवं अन्य (2011), अ कम्पेरेटिव स्टडी ऑफ़ फिप्सको-केमिकल पैरामीटर्स ऑफ़ द मेजर एंड माइनर कानाल्स ऑफ़ द रिवर गंगा विदिन हरिद्वार सिटी, जर्नल ऑफ़ एनवायरनमेंट बायो-साइंस, वोल्यूम 25 (2).
महेश कटारे (2008), छछिया भर छाछ, अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद.
महाभारत (संवत 2072), वनपर्व (तीर्थयात्रा पर्व), गीताप्रेस, गोरखपुर, 9-11.
माइकेल एस डॉडसन (2012), ''द शैडो ऑफ़ मॉडर्निटी इन बनारस'', 'बनारस : अर्बन फॉर्म्स एंड कल्चरल हिस्ट्री, रटलेज़, नई दिल्ली.
मायानंद मिश्र (1967), माटी के लोग, सोने की नैया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.
मीरा मेहता (2011), द नर्मदा बचाओ आंदोलन : विमेंस एनवायरेनमेंटल एक्टीविज़्म, ऑक्सफ़ोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.
मोतीचंद्र (1966), सार्थवाह: प्राचीन भारत की पथ-पद्धति, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना.
लेजली मेन जॉनसन युज़ीन हन (2010), 'लैंडस्केप एथ्नोएकोलॉज़ी : कॉन्सेप्ट्स

ऑफ़ बायोटिक एंड फिज़िकल स्पेस', बर्गहान बुक्स, न्यूयॉर्क.
योगेन्द्र और सफ़दर इमाम कादरी (1990), गंगा को अविरल बहने दो, गंगा मुक्ति आंदोलन, भागलपुर.
रमाशंकर सिंह (2015), बंसोड बाँस और लोकतंत्र, प्रतिमान : समय समाज संस्कृति, वर्ष 3 , खण्ड 3, अंक 1, जनवरी–जून, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.
रमाशंकर सिंह (2016),कम्युनिटी राइट्स ऑफ़ लोअर कास्ट्स : फ्रॉम अर्ली सेंचुरीज़ अप टू 1200 ए. डी.,अप्रकाशित शोध प्रबंध, गोविन्द बल्लभ पंत सामाजिक विज्ञान संस्थान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज.
रमाशंकर सिंह (2017), निषाद और उनकी नदी : पहचान, पेशा और दावेदारी के सवाल, प्रतिमान, जनवरी–जून (वर्ष 5 अंक 9).
रमाशंकर सिंह (2018), लोकतंत्र का परिसर और घुमंतू समुदाय प्रतिमान–समय समाज संस्कृति, जुलाई दिसम्बर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.
रमाशंकर सिंह (2022), नदी पुत्र :उत्तर भारत में नदी और निषाद, सेतु प्रकाशन, नोयडा.
राकेश तिवारी (2010), 'चेंजिंग डाइमेंशंस ऑफ़ प्री–आइरन एज कल्चर्स ऑफ़ द मिडिल गंगा प्लेन', आर्किओलॉजी ऑफ़ द गंगा बेसिन : पैराडाइम शिफ्ट (सम्पादक विभा त्रिपाठी), शारदा पब्लिशिंग हाउस.
राकेश तिवारी आदि (2002), 'सेकंड प्रिलिमिनरी रिपोर्ट ऑफ़ द एक्सकेवेशंस ऐट लहुरादेवा, डिस्ट्रिक्ट सन्त कबीर नगर, यू.पी., प्राग्धारा 16,उत्तर प्रदेश राज्य पुरातत्त्व विभाग, लखनऊ.
राकेश तिवारी (2004), 'द मिथ ऑफ़ डेन्स फॉरेस्ट्स एंड ह्यूमन ऑक्यूपेशन इन द गंगा', मैन एंड एन्वॉयरन्मेंट वॉल्यूम 2, पुणे.
राकेश तिवारी, प्रह्लाद कुमार सिंह, गिरीशचंद्र सिंह (1999), 'आर्किओलॉजिकल इंवेस्टीगेशंस इन डिस्ट्रिक्ट मिर्ज़ापुर', प्राग्धारा 9, उत्तर प्रदेश राज्य पुरातत्त्व विभाग, लखनऊ.
राकेश तिवारी और रवींद्रनाथ सिंह (2004) 'न्यूली डिस्क वर्डरॉक पेंटिंग्स, ऐन्शिएंट स्टोन क्वेरी, एंड पेंटेड ब्राह्मी इंस्क्रिप्शन्स इन डिस्ट्रिक्ट चन्दौली, मैन एंड एन्वॉयरन्मेंट वॉल्यूम 27 (2), पुणे.
राकेश तिवारी (2014), सफर एक डोंगी में डगमग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.

रामनारायण तिवारी (2013), भोजपुरी श्रम लोकगीतों में जंतसार, प्रतिश्रुति प्रकाशन, कोलकाता.

रिपोर्ट ऑफ़ द इंडियन इरिगेशन कमीशन 1901–1903भाग I-III, (1903), गवर्नमेंट प्रेस, कलकत्ता.

रॉबर्ट फ्लाईन (2016), होली लिटरेसी लाइसेंसः द ऑलमाइटी चूज़ेस फलिबल मार्टलस टू राईंट, एडिट, एंड ट्रांसलेट गॉडस्टोरी, टेक्सास, विंग्स प्रेस.

रैशेल कार्सन (2002), साइलेंट स्प्रिंग, मैरिनर बुक्स, न्यूयॉर्क.

रोमिला थापर (2019), भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन समूह,नई दिल्ली.

रामविलास शर्मा (2001),परंपरा का मूल्यांकन, राजकमल प्रकाशन समूह, नई दिल्ली.

रॉब जेन्किन्स (1999), डेमोक्रेटिक पॉलिटिक्स एंड इकोनोमिक रिफॉर्म्स इन इंडिया, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस

लुई ड्यूमा, (1965). होमो हाइरार्कस : द कास्ट सिस्टम एंड इट्स इम्प्लिकेशन. युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस.

वासुदेव शरण अग्रवाल (2017), भारत की मौलिक एकता, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली.

वाई.डी. फड़के (1994), सेनापति बापट : पोर्ट्रेट ऑफ़ ए रिवोल्यूशनरी, नैशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली.

वाल्मीकि रामायण (संवत 2079), गीता प्रेस, गोरखपुर.

विद्याविंदु सिंह (2018), अवधी लोकगीत विरासत, ज्ञान विज्ञान एजुकेयर, नई दिल्ली.

विमलचंद पांडेय (2016), उत्तर प्रदेश की खिड़की, साहित्य भंडार, इलाहाबाद.

विदुला जायसवाल (1998), फ्रॉम स्टोन क्वेरी टु स्कल्पचरिंग वर्कशॉप, अगम कला प्रकाशन, दिल्ली.

विद्यानिवास मिश्र (2005) वाचिक कविता : भोजपुरी, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली.

विवेकानंद तिवारी (2017),गंगा समग्र, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली.

विलियम क्रूक (1999), द ट्राइब एंड कास्ट ऑफ़ नॉर्थ-वेस्टर्न प्रोविन्सस एंड अवध, भाग-3.

सुदीप्त कविराज (2005), ऑन द इनहैंसमेंट ऑफ़ द स्टेट : इंडियन थॉट ऑन द रोल ऑफ़ द स्टेट इन द नैरेटिव ऑफ़ मॉडर्निटी, एस.ओ.ए.एस.

सूज़न हैनली (1987), 'अर्बन सैनीटेशन इन प्री इंडस्ट्रियल जापान', जर्नल ऑफ़ इंटरडिस्प्लिनरी हिस्ट्री, 18, 1.

सोपान जोशी (2018), जल थल मल, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली.

स्मिता तिवारी-जस्सल (2001),कास्ट एंड द कोलोनियल स्टेट : मल्लाह इन द सेन्सस, कंट्रीब्यूशन टू इंडियन सोशियोलॉजी, अंक 35, नंबर 3,319—354.

श्री दुर्गाशंकरप्रसाद सिंह (1958), भोजपुरी के कवि और काव्य, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना.

स्वतंत्र मिश्र (2014), जल जंगल और ज़मीन, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली

हजारी प्रसाद द्विवेदी (2017), हिन्दी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन समूह, नई दिल्ली.

हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' (2012), बिहार की नदियाँ : ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक सर्वेक्षण, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना.

हीरा सिंह (2014),रिकास्टिंग कास्ट: फ्रॉम द सैक्रेड टू द प्रोफ़ेन, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली.

लेखक परिचय

बद्री नारायण प्रतिष्ठित कवि एवं इतिहासकार हैं। गोविन्द बल्लभ पंत सामाजिक विज्ञान संस्थान, प्रयागराज में प्रोफ़ेसर एवं निदेशक हैं। कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकों के लेखक।

अवधेन्द्र शरण इतिहासकार हैं। सीएसडीएस में प्रोफ़ेसर एवं निदेशक हैं। कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकों के लेखक।
ईमेल : sharan@csds.in

महेंद्र पाठक के. एस साकेत पी. जी. कॉलेज़, अयोध्या में प्रोफ़ेसर और विभागाध्यक्ष रहे हैं। अयोध्या में रहते हैं।
ईमेल : mpathak58@gmail.com

अर्चना सिंह गोविन्द बल्लभ पंत सामाजिक विज्ञान संस्थान, प्रयागराज में एसोशिएट प्रोफ़ेसर हैं।
ईमेल : archanaparihar@gmail.com

बलराम शुक्ल दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में प्रोफ़ेसर हैं। वे भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में फ़ेलो रहे हैं।
ईमेल : shuklabalram82@gmail.com

राकेश तिवारी प्रशिक्षित पुरातत्त्ववेत्ता हैं। भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के महानिदेशक रहे हैं।
ईमेल : rakesh.tiwari53@gmail.com

शुभनीत कौशिक ने जे.एन.यू. से पीएच–डी की है और बलिया के सतीश चन्द्र पीजी कॉलेज़ में इतिहास पढ़ाते हैं।
ईमेल : shubhneetkaushik@gmail.com

खुशबू सिंह ने बीएचयू से पीएच–डी. की है और ज्वाला देवी विद्या मंदिर पी जी कॉलेज़, कानपुर में सहायक प्राध्यापक हैं।
ईमेल : chnd.singhk@gmail.com

गुंजन राजवंशी गोविन्द बल्लभ पंत सामाजिक विज्ञान संस्थान, प्रयागराज में पोस्ट डॉक्टोरल फ़ेलो हैं।
ईमेल : gunnurajvanshi@gmail.com

धीरेन्द्र प्रताप सिंह इलाहाबाद विश्वविद्यालय में पोस्ट डॉक्टोरल फ़ेलो हैं। झारखंड और इलाहाबाद के बीच आवाजाही है।
ईमेल : dhirendrasingh250@gmail.com

जितेन्द्र सिंह ने गोविन्द बल्लभ पंत सामाजिक विज्ञान संस्थान, प्रयागराज से घुमंतू समुदायों की जीवन दशाओं और राजनीति पर डी–फिल. की है। आई. टी. कॉलेज़, लखनऊ में सहायक प्राध्यापक हैं।
ईमेल : jittusingh11@gmail.com

नेहा राय ने गोविन्द बल्लभ पंत सामाजिक विज्ञान संस्थान, प्रयागराज से डी–फिल. की है। एस. एस. खन्ना गर्ल्स डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र की सहायक प्राध्यापक।
ईमेल : neharai2789@gmail.com

सीमा यादव ने गोविन्द बल्लभ पंत सामाजिक विज्ञान संस्थान, प्रयागराज से डी–फिल. की है। सम्प्रति स्वतंत्र शोध और लेखन। जौनपुर में निवास।

ईमेल :luckysima1988@gmail.com
पुष्यमित्र पेशे से पत्रकार हैं। बिहार में रहकर आधारभूत रिपोर्टिंग में महारत।
ईमेल : pushymitr@gmail.com

हरिश्चन्द्र बिंद गंगा और उसके आसपास की नदियों के किनारे निषाद समुदाय से जुड़े मुद्दों पर काम करते हैं।
ईमेल : haribhu222@gmail.com

जगन्नाथ दुबे खैर महाविद्यालय, अलीगढ़ में हिंदी साहित्य के सहायक प्राध्यापक हैं।
ईमेल : jagannathdubeyhindi@gmail.com

अंकित पाठक सिनेमा, साहित्य, रंगमंच और राजनीति में विशेष रुचि रखते हैं। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के ईश्वर शरण पीजी कॉलेज, प्रयागराज में राजनीति विज्ञान विभाग में सहायक प्राध्यापक हैं।
ईमेल : ankitpathak977@gmail.com

गोविंद निषाद गोविन्द बल्लभ पंत सामाजिक विज्ञान संस्थान, प्रयागराज से डी-फिल. कर रहे हैं।
ईमेल : govindau62@gmail.com

रमाशंकर सिंह 2018 से 2020 के बीच भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में फ़ेलो थे। फ़िलहाल, कानपुर में रहते हुए स्वतंत्र लेखन और शोध।
ईमेल : ram81au@gmail.com